संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

[भाग २]

युधिष्ठिर मीमांसक

ओम्
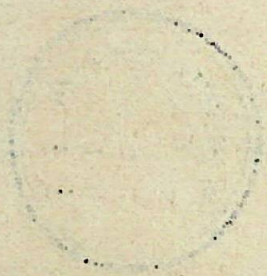
संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

[द्वितीय भाग]

लेखक—

युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—

संचालक—भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान

२४/३१२ रामगंज, अजमेर

मुद्रक—

श्री पं० बालकृष्ण शास्त्री

ज्योतिष प्रकाश प्रेस, कालभैरव मार्ग, वाराणसी

परिवर्धित मूल्य
12-00

प्रथम बार] संवत् २०१९ [मूल्य—दस रुपए

भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान

उद्देश्य

इस संस्था के उद्देश्य "भारतीय प्राचीन वाङ्मय का अन्वेषण, रक्षण और प्रसार" है।

कार्य-क्रम

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रतिष्ठान के कार्य-क्रम को निम्न विभागों में बांटा है—

१—भारतीय प्राचीन वाङ्मय का अनुसन्धान।

२—भारतीय प्राचीन वाङ्मय के अनुसन्धान द्वारा विभिन्न विषयों पर मौलिक ग्रन्थों तथा निबन्धों का लेखन और प्रकाशन।

३—भारतीय वाङ्मय के विविध विभागों के इतिहास तथा भारत के प्राचीन इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थों का लेखन और प्रकाशन।

४—भारतीय प्राचीन वाङ्मय का शुद्ध सम्पादन तथा प्रकाशन।

५—भारतीय प्राचीन वाङ्मय का राष्ट्रभाषा (हिन्दी) में प्रामाणिक अनुवाद।

६—संस्कृत वाङ्मय तथा इतिहास सम्बन्धी गवेषणात्मक त्रैमासिक "पत्रिका" का प्रकाशन।

७—उपर्युक्त कार्य-क्रम की पूर्ति के लिए "बृहत् पुस्तकालय" का निर्माण।

८—प्राचीन वाङ्मय की रक्षा और प्रसार के लिए साङ्गवेद-विद्यालय' का संचालन।

९—उद्देश्यों की पूर्ति करने हारे विशिष्ट साहित्य के प्रचार के लिए विक्रय-विभाग' का संचालन।

विशेष विवरण के लिये "प्रतिष्ठान की योजना, कार्य-क्रम तथा कृतकार्य-विवरण" पुस्तिका बिना मूल्य मंगवाइये।

संचालक—भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान

२४/३१२ रामगंज अजमेर } { ४९४३ रेगरपुरा, गली ४० करोलबाग, नई दिल्ली ५।
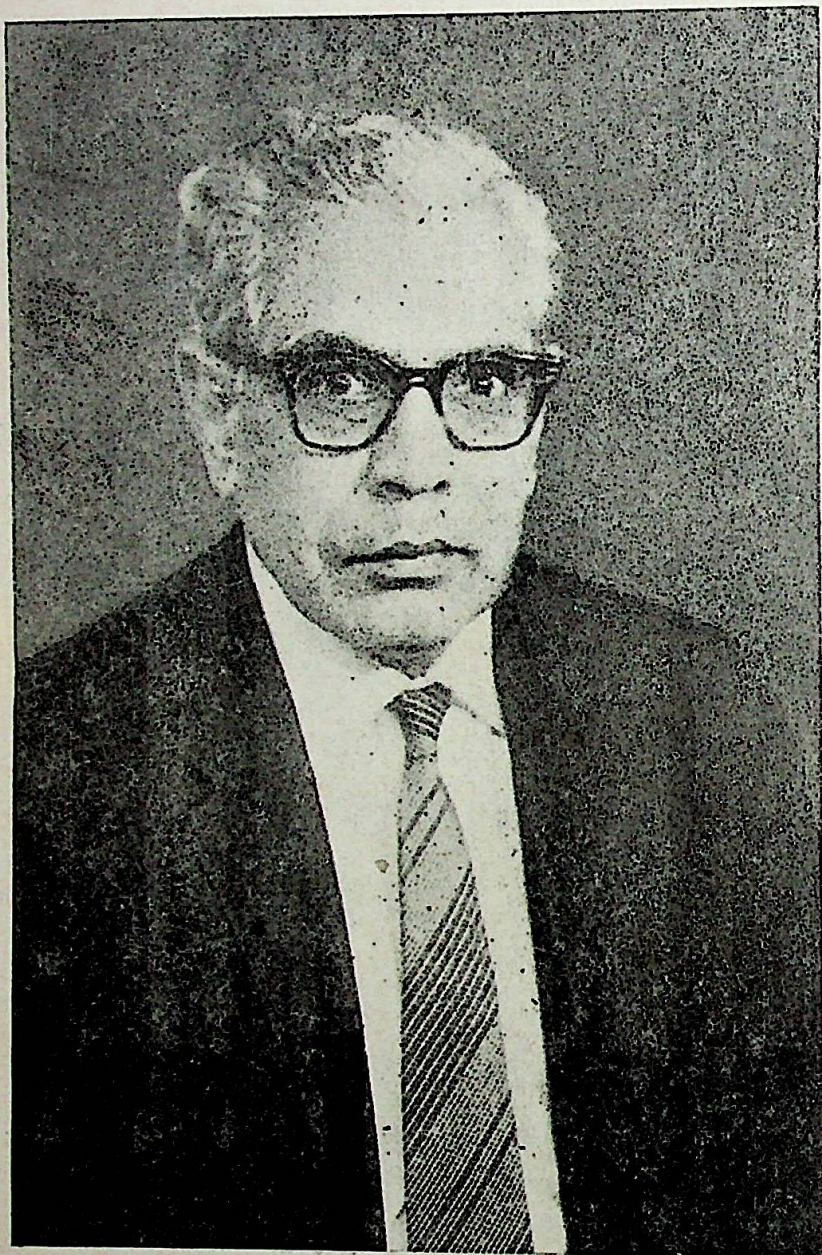
श्री माननीय डा० बहादुरचन्द्र जी छाबड़ा
एम. ए., एम. ओ. एल., पीएच. डी., एफ. ए. एस.
संयुक्त प्रधान निर्देशक—भारतीय पुरातत्त्व विभाग, नई दिल्ली

समर्पण

भारतीय प्राचीन वाङ्मय, संस्कृति और इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान्

भारतीय पुरातत्त्व विभाग के संयुक्त प्रधान निर्देशक

श्री माननीय डा० बहादुरचन्द्र जी छाबड़ा

एम. ए. एम. ओ. एल. पीएच. डी.

एफ. ए. एस. की

सेवा में

ग्रन्थकार द्वारा

सादर

समर्पित

मेरे "संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास" का प्रथम भाग वि० सं० २००७ में प्रकाशित हुआ था। उसके लगभग साढ़े ग्यारह वर्ष पश्चात् उसका द्वितीय भाग प्रकाशित हो रहा है।

यद्यपि इस द्वितीय भाग की रूप-रेखा भी उसी समय बन गई थी, जब प्रथम भाग लिखा गया था, परन्तु इस भाग के प्रकाशन के लिए किसी प्रकाशक के न मिलने, स्वयं प्रकाशन में असमर्थ होने तथा अन्य अस्वस्थता आदि बहुविध विघ्नों के कारण इसका प्रकाशन इतने सुदीर्घ काल में भी सम्पन्न न हो सका। सम्भव है, इस भाग का प्रकाशन कुछ वर्षों के लिए और भी रुका रहता परन्तु इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए अनायास दैवी संयोग के उपस्थित हो जाने से इसका कथंचित् प्रकाशन इस समय हो सका।

दैवी संयोग—पूर्व प्रकाशित प्रथम भाग भी लगभग २ वर्ष से सर्वथा अप्राप्य हो चुका था। उसके पुनर्मुद्रण के लिए कथंचित् कुछ व्यवस्था करके कागज और प्रेसकापी प्रेस में भेज दी गई थी। इसी काल में मेरा देहली जाना हुआ, वहाँ डेराइस्माईल खाँ के भूतपूर्व निवासी श्री पं० भीमसेन जी शास्त्री से जो सम्प्रति देहली में रहते हैं, मिलना हुआ। प्रथम भाग के पुनर्मुद्रण-सम्बन्धी बातचीत के प्रसङ्ग में श्री शास्त्री जी ने कहा कि यदि द्वितीय भाग, जो अभी तक नहीं छपा, पहले छपवाया जाए तो मैं ५०० रुपए की सहायता कर सकता हूँ। मैंने श्री शास्त्री जी के सहयोग की भावना से प्रेरित होकर प्रथम-भाग के पुनर्मुद्रण का विचार स्थगित करके पहले द्वितीय भाग के प्रकाशन की व्यवस्था की।

दैवी विघ्न—मैं निरन्तर कई वर्षों से अस्वस्थ रहता आया हूँ, पुनरपि अध्ययन रूपी व्यसन से बंधा हुआ कुछ न कुछ लिखना पढ़ना चलता रहता है। इसी के परिणाम स्वरूप इस भाग के प्रायः सभी अध्याय शनैः शनैः लिखे जा चुके थे। पूर्व निर्दिष्ट दैवी संयोग से गत अप्रैल में द्वितीय भाग के मुद्रण की काशी में व्यवस्था की। मुद्रण कार्य आरम्भ हुआ। इसी बीच अगस्त मास में रोग की भयङ्करता बढ़ गई। औषधोपचार से किसी प्रकार शान्ति न मिलने

पर शल्य-चिकित्सा का आश्रय लेना अनिवार्य हो गया और ५ सितम्बर को वृक्क का आप्रेशन कराना पड़ा और कई मास इसी निमित्त लग गए। रोग वृद्धि से पूर्व प्रेस में पूरी कापी नहीं भेजी थी। अतः प्रेषित कापी के समाप्त होने पर मुद्रण कार्य रुक गया। कुछ स्वस्थ होने पर अगली कापी प्रेस में भेजी, परन्तु मध्य में रुके हुए कार्य के पुनः आरम्भ होने में भी समय लगना स्वाभाविक था। इस प्रकार जो कार्य गत अक्टूबर तक समाप्त होने वाला था, वह अब जाकर समाप्त हो रहा है। पुनरपि यह परम सन्तोष का विषय है कि स्वस्थ हो जाने से ग्रन्थ पूरा तो हो गया, अन्यथा अधूरा ही रह जाता।

द्वितीय भाग का विषय—इस भाग में व्याकरण-शास्त्र के साथ साक्षात् अथवा परम्परा से कथमपि संबन्ध रखने वाले **धातुपाठ, गणपाठ, उणादि, सूत्र, लिङ्गानुशासन, परिभाषापाठ, फिट् सूत्र, प्रातिशाख्य, व्याकरण विषयक दार्शनिक ग्रन्थ, और काव्य शास्त्र** (व्याकरण प्रधान काव्य) आदि के प्रवक्ता और व्याख्याता आचार्यों के इतिवृत्त पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

वैसे तो व्याकरण-शास्त्र के इतिहास पर मेरे से पूर्व किसी भी लेखक ने किसी भी भाषा में क्रमबद्ध और विस्तृत रूप से नहीं लिखा, पुनरपि द्वितीय भाग में वर्णित प्रकरण तो इतिहास लेखकों से प्रायः सर्वथा अछूते ही हैं। इस लिए इस भाग में जो कुछ भी लिखा गया है प्रायः उसे मैंने प्रथम बार ही लिखने का प्रयास किया है[1]। प्रत्येक प्रारम्भिक प्रयत्न में कुछ न कुछ त्रुटियों और न्यूनताओं का रहना स्वाभाविक है और अस्वस्थता के काल में किए कार्य में तो उनकी सम्भावना और भी अधिक स्वाभाविक है। मैं अपनी अनेक त्रुटियों और न्यूताओं से स्वयं परिचित हूँ, परन्तु जिन परिस्थितियों में यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है इससे अधिक मैं कुछ भी प्रयास करने में असमर्थ था। अतः अवशिष्ट रही त्रुटियों के लिए पाठक महानुभावों से क्षमा चाहता हूँ। यदि इस भाग के पुनर्मुद्रण का संयोग उपस्थित हो सका तो उस समय उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जाएगा।

---

१. इस भाग में केवल 'गणपाठ' का प्रकरण ऐसा है, जिस पर मेरे मित्र प्रो० कपिलदेव जी साहित्याचार्य एम. ए. पी-एच डी. ने मुझसे पूर्व विस्तृत रूप से लिखा है और इसी प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ से 'गणपाठ' प्रकरण के लिखने में अवश्य महती सहायता मिली है, परन्तु हम दोनों के दृष्टिकोणों में अन्तर होने से मेरे द्वारा लिखे गये इस प्रकरण में भी स्ववैशिष्ट्य विद्यमान है।

प्रथमभाग के सम्बन्ध में—यतः मेरा "संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास" अपने विषय का प्रथम ग्रन्थ है, इसलिए ग्रन्थ के प्रकाशित होने पर सभी प्रकार की विचारधाराओं के मानने वाले विद्वानों और लेखकों ने इस ग्रन्थ से बहुत लाभ उठाया। कतिपय संकुचित मनोवृत्ति तथा पाश्चात्य कल्पित ऐतिहासिक मतों को बिना परीक्षा किए स्वीकार करने वाले रूढ़िवादी लेखकों के अतिरिक्त प्रायः सभी विद्वानों ने प्रथम भाग का स्वागत किया। आगरा, पञ्जाब आदि विश्वविद्यालयों ने संस्कृत एम. ए. में इसे पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया। संस्कृत विश्वविद्यालय (भूतपूर्व राजकीय संस्कृत महाविद्यालय) वाराणसी आदि की व्याकरणाचार्य परीक्षा के स्वशास्त्रीय इतिहास विषयक पत्र के लिए यह एक मात्र सहायक ग्रन्थ बना। उत्तर प्रदेश राज्य ने इस ग्रन्थ की उपयोगिता का मूल्यांकन करते हुए इस पर ६०० रु० पारितोषिक प्रदान किया।

गत ग्यारह वर्षों में इस ग्रन्थ से अनेक लेखकों ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहायता ली। अनेक महानुभावों ने इस ग्रन्थ के आश्रय से विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में बहुत से लेख लिखे। अधिकांश विद्वज्जनों ने हमारे ग्रन्थ का मूल्यांकन करते हुए और अस्तेय की भावना रखते हुए नाम निर्देश पूर्वक ग्रन्थ का उल्लेख किया। किन्तु ऐसे भी अनेक विद्वन्महानुभाव हैं जिन्होंने हमारे ग्रन्थ से विशिष्ट सहायता ली, कुछ लेखकों ने पूरे पूरे प्रकरणों को शब्दान्तर में ढाल कर लेख लिखे, परन्तु कहीं पर भी ग्रन्थ का उल्लेख करना उचित न समझा। अस्तु। हम तो केवल इतने से ही अपने परिश्रम को सफल समझते हैं कि इस ग्रन्थ द्वारा उत्तरवर्ती लेखकों तथा विद्यार्थियों को कुछ न कुछ सहायता प्राप्त हुई।

भारतीय आर्ष वाङ्मय—भारतीय प्राचीन आर्ष वाङ्मय उन परम सत्य-वक्ता नीरजस्तम शिष्ट आप्त पुरुषों द्वारा प्रोक्त अथवा रचित है जिनके लिए आयुर्वेदीय चरक संहिता में लिखा है—

आप्तास्तावत्—

> रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
> येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
> आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
> सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्माद् असत्यं नीरजस्तमाः॥

सूत्रस्थान, अ० ११, श्लोक १८, १९।

अर्थात्—जो रजोगुण और तमोगुण से रहित हैं, जिनको तप और ज्ञान के बल से त्रैकालिक अव्याहत निर्मल ज्ञान होता है वे शिष्ट परम विद्वान् आप्त कहाते हैं। उनका वाक्य असंशय सत्य ही होता है। ऐसे रजोगुण और तमोगुण से रहित आप्त [सब एषणाओं से मुक्त होने के कारण] किस हेतु से असत्य कहेंगे ?

पाश्चात्य विद्वान् और उनके अनुयायी भारतीय—गत डेढ़-दो शताब्दी में पाश्चात्य विद्वानों ने राजनैतिक परिस्थितियों और ईसाई यहूदी मत के पक्षपात से प्रेरित होकर पूर्व निर्दिष्ट परम सत्यवादी नीजरस्तम महापुरुषों द्वारा प्रोक्त अथवा रचित भारतीय आर्ष वाङ्मय और सत्य ऐतिहासिक परम्परा को असत्य अश्रद्धेय और अनैतिहासिक सिद्ध करने के लिए अनेक कल्पित वादों को जन्म दिया और उन्हें वैज्ञानिकता का चोला पहना कर एक स्वर से भारतीय वाङ्मय, संस्कृति और इतिहास के प्रति अनर्गल प्रलाप किया। ब्रिटिश शासन ने राजनैतिक स्वार्थवश उन्हीं असत्य विचारों को सर्वत्र स्कूल कालेजों में प्रचलित किया। इसका फल यह हुआ कि स्कूल और कालेजों में पढ़नेवाले तथा पाश्चात्य विद्वानों की छत्रछाया में रहकर पी. एच. डी. और डी. लिट् आदि उपाधियाँ प्राप्त करनेवाले भारतीय भी पाश्चात्य रंग में पूर्णतया रंग गये। इससे भारतीय विद्वानों की स्वीय प्रतिभा प्रायः नष्ट हो गई और उन्होंने पाश्चात्य मतों का अन्ध-अनुकरण करने में ही अपना श्रेय समझा।

स्वतन्त्रता के पश्चात्—भारत की परतन्त्रता के काल में पूर्व निर्दिष्ट व्यवसाय कथंचित् क्षम्य हो सकता था, परन्तु भारत के स्वतन्त्र होने पर भी भारत की शिक्षा व्यवस्था ऐसे ही लोगों के हाथ में रही और है, जो स्वयं भारतीय वाङ्मय, संस्कृति और इतिहास के परिज्ञान से न केवल रहित ही हैं अपितु पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली से नष्ट-प्रतिभ होकर पाश्चात्य लेखकों के वचनों को ब्रह्मवाक्य समझकर आँख मींचकर सत्य स्वीकार करते हैं। उसी का यह फल है कि अपनी संस्कृति, वाङ्मय और इतिहास के प्रति अश्रद्ध होने के कारण हम में से भारतीयता बड़ी तीव्रता से नष्ट हो रही है। भारतीयता के नष्ट होने पर हममें स्व-देश और जाति के प्रति कैसे प्रेम रहेगा, यह एक गम्भीर विचारणीय प्रश्न है। हमें तो इस परिस्थिति का अन्त पुनः पराधीनता के रूप में ही दिखाई देता है। वह पराधीनता चाहे किसी भी रूप की क्यों न हो, पराधीनता पराधीनता ही होती है।

रूढ़िवादी कौन—पाश्चात्य विद्वान् और उनके अनुयायी भारतीय वाङ्मय, संस्कृति और इतिहास से प्रेम रखने वाले भारतीयों को रूढ़िवादी, प्रतिगामी अथवा अप्रगतिशील कहकर उनका सदा उपहास करते रहे और करते हैं। इसलिए हमें सखेद कटु सत्य कहने पर विवश होना पड़ता है कि पाश्चात्य मतों के अन्ध अनुयायी भारतीय ही न केवल रूढ़िवादी प्रतिगामी अथवा अप्रगतिशील हैं, अपितु भारतीय सत्य वाङ्मय, संस्कृति और इतिहास को नष्ट करके भारत को पुनः दासता में आबद्ध करने वाले हैं। इसी पाश्चात्य दासता का फल है कि हम स्वतन्त्र होने के दीर्घकाल के १५ वर्ष के बीत जाने पर भी अंग्रेजी भाषा की दासता से मुक्त न हो सके।

पाश्चात्य मतानुयायी विद्वानों से हमारा नम्र निवेदन है कि वे पाश्चात्य विद्वानों के प्रसारित काल्पनिक मतों के विषय में अपनी अप्रतिहत बुद्धि से पुनः विचार करें। हमें निश्चय है कि यदि भारतीय विद्वान् अपनी स्वतन्त्र मेधा से काम लें तो वे न केवल पाश्चात्य मतों के खोखलेपन से ही विज्ञ होंगे अपितु भारतीय वाङ्मय संस्कृति और इतिहास को पाश्चात्य विद्वानों के कुचक्रों से बचाकर भारत का गौरव बढ़ायेंगे। भगवान् हमें सुबुद्धि दे कि हम विदेशियों द्वारा चिरकाल से प्रसारित कुचक्रों के भेदन में समर्थ हो सकें।

कृतज्ञता प्रकाशन

गत तीन वर्षों की रुग्णता की लम्बी अवधि और शल्यचिकित्सा (आप्रेशन) के समय जिन महानुभावों ने मेरी अनेक विध सहायता की उनके प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन और धन्यवाद करना आवश्यक है। इन महानुभावों में—

१—सबसे प्रथम उल्लेखनीय "महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट टंकारा" के मन्त्री श्री पं० आनन्दप्रिय जी और ट्रस्ट के सभी माननीय सदस्य महानुभाव हैं जिन्होंने रुग्णता के काल में टंकारा का, जहाँ मैं ट्रस्ट के अन्तर्गत अनुसन्धान कार्य कर रहा था, जलवायु अनुकूल न होने पर अजमेर (जहाँ का जलवायु मेरे लिए सबसे अधिक अनुकूल है) में रहकर ट्रस्ट का कार्य करने की अनुमति प्रदान की और अत्यधिक रुग्णता के काल में ४-५ मासों की, जिनमें मैं अस्वस्थता तथा शल्यचिकित्सा के कारण कुछ भी कार्य न कर सका था, बराबर दक्षिणा देते रहे। यह महान् औदार्य कार्यकर्ता को क्रीतदास समझने वाले साम्प्रतिक वातावरण में अपने रूप का एक अनूठा उदाहरण प्रस्तुत करता है। विद्वानों के प्रति **अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्रे**

(अथर्व १९।५५।७) की वैदिक आज्ञा को कार्य रूप में उपस्थित करता है। इस अप्रितम सहायता के लिए म. द. स्मारक ट्रस्ट के माननीय मन्त्रीजी, समस्त अधिकारी और सदस्य महानुभावों का जितना भी धन्यवाद करूं, स्वल्प है। इन महामुभावों के इस विशिष्ट सहयोग से स्वास्थ्य लाभ करने में जो महती सहायता प्राप्त हुई है, उसके ऋण से तो तभी कुछ सीमा तक उऋण हो सकता हूँ जब अपना शेष समय अधिक से अधिक वैदिक आर्ष वाङ्मय के अध्ययन अध्यापन तथा अनुसन्धान कार्य में ही लगाऊँ। प्रभु मुझे ऐसी आत्मिक, मानसिक तथा शारीरिक शक्ति प्रदान करें, जिससे मैं इस कार्य में सफल हो सकूँ।

२—अप्रतिम शल्यचिकित्सक श्री डा० कर्नल मिराजकर महोदय के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन करना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने गुर्दे का आप्रेशन करते हुए न केवल अत्यन्त कौशल से ही कार्य किया अपितु सम्पूर्ण चिकित्सा काल में मुझ पर पितृवत् वात्सल्यभाव रखा। उनकी इस कृपा से ही जहाँ मैंने पुनर्जीवन प्राप्त किया वहाँ इतना बड़ा महान् व्ययसाध्य शल्य-चिकित्सा कार्य अपेक्षाकृत स्वल्प व्यय में ही सम्पन्न हो सका। निस्सन्देह आपने मुझे पुनर्जीवन देकर मेरे परिवार को तो अनुगृहीत किया ही है, परन्तु मैं समझता हूँ कि उससे कहीं अधिक मुझे पूर्ववत् सारस्वत सत्र में दीक्षित रहने योग्य बनाकर देश, जाति और समाज की सेवा कर सकने का जो मुझे सौभाग्य प्रदान किया है उसके लिये आपके प्रति जितना भी कृतज्ञता ज्ञापन करूँ, स्वल्प है।

३—जिस श्री रामलाल कपूर अमृतसर के परिवार के समस्त सदस्यों के साथ मेरा बाल्यकाल से संबन्ध है, जिनके सहयोग से शिक्षा पाई, कुछ कार्य करने योग्य हो सका और जो सदा ही विविध प्रकार से मेरी सहायता करते रहते हैं उनसे इस काल में न केवल आर्थिक सहयोग ही प्राप्त हुआ अपितु माननीय श्री बा. हंसराज जी और श्री बा. प्यारेलाल जी ने आतुरालय में आकर मेरी देखभाल की और देहली में रहने वाले श्री भाई शान्तिस्वरूपजी, श्री भीमसेन जी और श्री ब्रह्मदेव जी बराबर चिकित्सालय में आकर सदा देखभाल करते रहे तथा आप्रेशन के दिन आदि से अन्त तक ५-६ घण्टे बराबर अस्पताल में विद्यमान रहे। इसी प्रकार चिकित्सा से पूर्व श्री माननीय भ्राता देवेन्द्र कुमार जी ने बम्बई में अनेक योग्य चिकित्सकों से निदान आदि कराने

की पूर्ण व्यवस्था की और जिन्होंने श्री डा० कर्नल मिराजकर को मेरे चिकित्सा-कार्य को उत्तम रूप में सम्पन्न करने के लिये विशिष्ट रूप से प्रेरित किया, इन सभी महानुभावों का मैं और मेरा परिवार सदा ही ऋणी रहेगा।

४—आर्ष गुरुकुल एटा के संस्थापक श्री माननीय स्वामी ब्रह्मानन्द जी दण्डी और आचार्य श्री पं० ज्योतिःस्वरूप जी का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने स्वयं तथा अपने परिचित व्यक्तियों को प्रेरित करके लगभग ४०० रु. की विशिष्ट सहायता की।

५—गुरुतुल्य माननीय श्री पं० भगवद्दत्त जी और सम्मान्य वैद्य श्री पं० रामगोपाल जी शास्त्री का तो बालकाल से ही मेरे प्रति अतुल वात्सल्य रहा है। आप दोनों महानुभाव समय समय पर अस्पताल में आकर मेरी देख भाल करते रहे। इन महानुभावों के लिए मैं सदा ही नतमस्तक रहा हूँ और रहूँगा।

६—इनके अतिरिक्त श्री प्रो० देवप्रकाश जी पातञ्जल तथा देहली के अन्य सभी सम्मान्य आर्य बन्धुओं और मित्रों का भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इस काल में किसी भी प्रकार से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मुझे सहयोग दिया।

७—इसी प्रसंग में तीर्थराम अस्पताल राजपुरा रोड़ देहली की सभी परिचारिका बहनों और भाइयों का धन्यवाद करना भी अपना कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने दो मास तक मेरी सब प्रकार से सेवा की।

श्री पूज्य श्रद्धास्पद गुरुवर्य पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु जिनकी मातृ-पितृतुल्य और गुरुरूप छत्रच्छाया में बाल्यकाल से आज तक रहा हूँ और रहूँगा, के प्रति न कृतज्ञताप्रकाशन ही कर सकता हूँ और न धन्यवाद ही दे सकता हूँ, केवल मौनरूप से श्रद्धा के पत्र-पुष्प ही अर्पित कर सकता हूँ।

भारतीय प्राचीन संस्कृति, साहित्य और इतिहास के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री डा० बहादुर चन्द्र जी छाबड़ा एम. ए., एम. ओ. एल., पीएच. डी., एफ़. ए. एस, संयुक्त प्रधान निर्देशक भारतीय पुरातत्त्व-विभाग, नई देहली गत चार वर्षों से निरन्तर २५ रु. मासिक की सहायता दे रहे हैं। आप के इस निष्काम सहयोग के लिए मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

ग्रन्थ-प्रकाशन में विशिष्ट सहयोग

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में उन महानुभावों का सहयोग तो है ही जिन्होंने स्थायी सदस्य बनकर सहायता की है। उनके अतिरिक्त श्री. रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर मर्चेण्ट प्रा० लि० अमृतसर ने इस पुस्तक के लिए बिना अग्रिम-

मूल्य लिए कागज देने की कृपा की और श्री पं० भीमसेन जी शास्त्री देहली ने ५००) रु. की सहायता की। श्री ओम्प्रकाश जी तथा श्री विजयपाल जी आदि ने प्रूफ संशोधन का कार्य किया। श्री पं० बालकृष्ण जी शास्त्री, स्वामी—ज्योतिष-प्रकाश प्रेस, वाराणसी ने इस ग्रन्थ के मुद्रण में विशेष प्रयत्न किया। इन कार्यों के लिए उक्त सभी महानुभावों का मैं कृतज्ञ हूँ।

भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान
२४।२१२ रामगंज अजमेर

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

द्वितीय भाग

विषय-सूची

अध्याय विषय पृष्ठ

ओम्

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

अठारहवां अध्याय

शब्दानुशासन के खिलपाठ

संस्कृत भाषा के जितने भी उपलब्ध अथवा परिज्ञात व्याकरण-शास्त्र हैं, उनमें प्रायः प्रत्येक पाँच अङ्गों में विभक्त है। अत एव वैयाकरणनिकाय में व्याकरण-शास्त्र की कृत्स्नता के द्योतन के लिए पञ्चाङ्गं व्याकरणम् शब्दों का व्यवहार होता है। यथा—

हेमचन्द्राचार्यैः श्रीसिद्धहेमाभिधानाभिधं पञ्चाङ्गमपि व्याकरणं सपादलक्षपरिमाणं संवत्सरेण रचयाञ्चक्रे।[1]

व्याकरण-शास्त्र के ये पाँच अङ्ग इस प्रकार माने जाते हैं—

शब्दानुशासन (सूत्रपाठ), धातुपाठ, गणपाठ (प्रातिपदिकपाठ), उणादिपाठ, तथा लिङ्गानुशासन।

इन पाँचों अङ्गों में शब्दानुशासन मुख्य है। शेष चार अङ्ग शब्दानुशासन के उपकारी होने से शब्दानुशासन की अपेक्षा गौण हैं। अत एव ये धातुपाठ आदि शब्दानुशासन के खिल माने जाते हैं।

८

'खिल शब्द' का अर्थ—खिल शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। शतपथ और शाङ्खायन ब्राह्मण में खिल शब्द ऊषर भूमि के लिए प्रयुक्त होता है।[2] गोपथ ब्राह्मण तथा मनुस्मृति आदि में खिल शब्द का प्रयोग ग्रन्थ के परिशिष्ट रूप से संगृहीत अंश के लिए उपलब्ध होता है।[3] वैदिक वाङ्मय में

---

१. प्रबन्धचिन्तामणि, पृष्ठ ४६०।

२. यद्वा उर्वरयोरसंभिन्नंभवति खिल इति वै तदाचक्षते। शत० ८।३।४।१; शांखा० ब्रा० ३०।८॥ उर्वरयोः सर्वसस्याढ्ययोः क्षेत्रयोः असम्भिन्नमसंस्पृष्टं भवति स्वयमसस्यं भवति तत्क्षेत्रं खिल इत्युच्यते इति शतपथव्याख्याने सायणः।

३. सामवेदे खिलश्रुतिः। गोपथ १।१।२९॥ स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि। आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च॥ मनु० ३।२३२॥

प्रयुक्त खिल शब्द का प्रयोग "स्वशाखा-अनधीत स्वशाखीयकर्मोपयोगी परशाखीय मन्त्र-संग्रह" अर्थ में होता है।[1] इनका परिशिष्ट शब्द से भी व्यवहार होता है।[2]

खिल का अवयव अर्थ—खिल शब्द का एक अर्थ अवयव भी है। कृत्स्न अर्थवाची नञ्समास घटित अखिल शब्द में खिल का मूल अर्थ अवयव = भाग ही है।[3]

धातुपाठ आदि के लिए खिल शब्द का प्रयोग—धातुपाठ आदि अङ्गों के लिए खिल शब्द का प्रयोग काशिका में उपलब्ध होता है। अष्टाध्यायी १।३।२ की व्याख्या में काशिकाकार ने लिखा है—

उपदिश्यतेऽनेनेत्युपदेशः शास्त्रवाक्यानि सूत्रपाठः खिलपाठश्च।

सरस्वतीकण्ठाभरण १।२।७ की हृदयहारिणी व्याख्या में दण्डनाथ ने भी काशिका के शब्दों का अनुलेखन किया है।

काशिका की व्याख्या में न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि लिखता है—

खिलपाठो धातुपाठः, चकारात् प्रातिपदिकपाठश्च।

हरदत्त पदमञ्जरी में खिलपाठ शब्द की व्याख्या इस प्रकार करता है—

खिलपाठो धातुपाठः प्रातिपदिकपाठो वाक्यपाठश्च।

हरदत्त ने वाक्यपाठ शब्द से वार्तिकपाठ का निर्देश किया है। वैयाकरण-निकाय में वार्तिककार के लिए वाक्यकार पद सुविज्ञात है।[4]

जिनेन्द्रबुद्धि और हरदत्त की भूल—काशिका के 'खिलपाठ' शब्द की व्याख्या में जिनेन्द्रबुद्धि और हरदत्त दोनों ने भूल की है। जिनेन्द्रबुद्धि ने खिलपाठ शब्द से केवल धातुपाठ का निर्देश किया है और गणपाठ का संग्रह चकार से किया है। जिस प्रकार धातुपाठ का शब्दानुशासन के भूवादयो धातवः (१।३।१) सूत्र के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, उसी प्रकार गणपाठ का भी शब्दानुशासन के तत्तत् सूत्रों के साथ सीधा सम्बन्ध है। उणादिपाठ भी उणादयो बहुलम् (३।३।१) सूत्र का ही प्रपञ्च है। अतः खिलपाठ शब्द

---

१. परशाखीयं स्वशाखायामपेक्षावशात् पठ्यते तत् खिलमुच्यते। महाभारत नीलकण्ठ टीका शान्ति० ३२३।१०॥

२. पं० सातवलेकर मुद्रापित ऋग्वेद के अन्त में "अथ परिशिष्टानि"।

३. कोशव्याख्याकार अखिल शब्द की व्युत्पत्ति 'नास्ति खिलं शून्यं यस्मिँस्तत्' दर्शाते हैं।

४. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ २०९ (प्र०संस्क०)।

से धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ और लिङ्गानुशासन इन चारों का संग्रह समझना चाहिए। हरदत्त ने खिलपाठ के अन्तर्गत वाक्यपाठ का भी निर्देश किया है, यह भी चिन्त्य है। वाक्यपाठ = वार्तिकपाठ का संग्रह चकार से करना चाहिए।

धातुपाठ आदि के पृथक् प्रवचन का कारण—अति पुरातन काल में धातुपाठ आदि समस्त खिलपाठ शब्दानुशासन के अन्तर्गत ही तत्तत् प्रकरणों में संगृहीत होते थे, परन्तु उत्तरकाल में मनुष्यों की धारणाशक्ति और आयु के ह्रास के कारण जब समस्त विद्याग्रन्थों का उत्तरोत्तर संक्षेप होने लगा[1] तब प्रधानभूत शब्दानुशासन के लाघव के लिए खिलपाठों को सूत्रपाठ से पृथक् किया गया।

पृथक्करण से हानि—यद्यपि खिलपाठों को सूत्रपाठ से पृथक् कर देने से शब्दानुशासन में निश्चय ही अतिलाघव हो गया, तथापि इस पृथक्करण से एक महती हानि भी हुई। आजन्म व्याकरण शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन में निरत रहने वाले व्यक्ति भी खिलपाठों के अध्ययन-अध्यापन में उपेक्षा करने लगे। धातुपाठ और उणादिपाठ का तो थोड़ा बहुत पठन-पाठन कथंचित् चलता रहा, परन्तु सूत्रपाठ के साथ साक्षात् संबद्ध अति महत्त्वपूर्ण गणपाठ तो अत्यन्त उपेक्षा का विषय बन गया। गणपठित शब्दों के अर्थज्ञान की कथा तो दूर रही, उसका मूल पाठ भी सुरक्षित नहीं रहा।[2] अन्य व्याकरण संबद्ध गणपाठों के विषय में तो कहना ही क्या, सबसे अधिक प्रचलित पाणिनीय तन्त्र के गणपाठ पर भी कोई प्राचीन व्याख्यान ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता।[3] समस्त गणपाठों के वाङ्मय में वर्धमानसूरि विरचित (वि० सं० ११९७) गणरत्न-महोदधि ही एकमात्र व्याख्यान ग्रन्थ उपलब्ध होता है। वर्धमान का व्याख्यान ग्रन्थ किस व्याकरण के गणपाठ पर आश्रित है, यह यद्यपि पूर्णरूप से परिज्ञात

---

१. 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ ७, प्र० संस्क०।

२. पाणिनीय गणपाठ का अनेक हस्तलेखों और अन्य व्याकरणीय गण-पाठों के साहाय्य से एक आदर्श संस्करण हमारे मित्र प्राध्यापक कपिलदेव साहित्याचार्य एम. ए. पी. एच. डी. ने तैयार किया है। यह संस्करण विस्तृत भूमिका और गणपाठों के तुलनात्मक अध्ययन के साथ शीघ्र प्रकाशित होगा।

३. पाणिनीय गणपाठ की एक व्याख्या यज्ञेश्वरभट्ट ने लिखी है। इसका नाम गणरत्नावली है। यह शक सं० १७९६ (वि० सं० १९३१) में लिखी गई है। इसमें गणरत्नमहोदधि की अपेक्षा कुछ वैशिष्ट्य नहीं है।

नहीं, तथापि गणपाठ के परिज्ञान के लिए समस्त वैयाकरणों का यही एक मात्र आश्रय है। यदि यह व्याख्यान भी न होता तो हम गणपाठ के विषय में सर्वथा अज्ञान में ही रहते।

गणपाठ का सूत्रपाठ में पुनः सन्निवेश—खिलपाठों को शब्दानुशासन से पृथक् करने से उनके अध्ययन-अध्यापन में जो उपेक्षा हुई, उसको यथार्थ रूप में जानकर उक्तदोष के परिमार्जन के लिए महाराज भोजने गणपाठ और उणादिपाठ को अतिप्राचीन परिपाटी के अनुसार अपने शब्दानुशासन में पुनः सन्निविष्ट किया। परन्तु भोजीय शब्दानुशासन (सरस्वती-कण्ठाभरण) के अधिक प्रचलित न हो सकने के कारण महाराज भोज के उक्त प्रयत्न का कोई लाभ नहीं हुआ।

सूत्रपाठ और खिलपाठ के समान प्रवक्ता—सम्प्रति जितने भी व्याकरण शास्त्र उपलब्ध हैं, उनसे संबद्ध धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ, और लिङ्गानुशासन के प्रवक्ता भी प्रायः वे ही आचार्य हैं, जिन्होंने मूलभूत शब्दानुशासन का प्रवचन किया। हमारी दृष्टि में एक मात्र कातन्त्र व्याकरण ही ऐसा है, जिसके उणादिपाठ और लिङ्गानुशासन मूलशास्त्र-प्रवक्ता के प्रवचन नहीं हैं। पाणिनीय व्याकरण से पूर्ववर्ती काशकृत्स्न-तन्त्र का धातुपाठ प्रकाश में आ चुका है। उसके उणादिसूत्रों में से कतिपय सूत्र धातुपाठ की चन्नवीर कविकृत कन्नडटीका में स्मृत हैं। आपिशलि आचार्य के धातुपाठ और गणपाठ के कई उद्धरण प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों में सुरक्षित हैं।[1]

पाणिनि और खिलपाठ—वैयाकरण सम्प्रदाय के अनुसार पाणिनि ने भी स्वीय शब्दानुशासन से संबद्ध धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ और लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया। परम सौभाग्य का विषय है कि सम्पूर्ण पञ्चाङ्ग पाणिनीय तन्त्र विविध व्याख्यान ग्रन्थों के सहित आज हमें उपलब्ध है।

पाणिनीय खिलपाठ और जिनेन्द्रबुद्धि—पाणिनीय सम्प्रदाय में काशिका का व्याख्याकार जिनेन्द्रबुद्धि ही एक ऐसा व्यक्ति है, जो पाणिनीय शास्त्र-संबद्ध धातुपाठ आदि परिशिष्टों को सूत्रकार पाणिनि का प्रवचन नहीं मानता। जिनेन्द्रबुद्धि ने धातुपाठ आदि के अपाणिनीय सिद्ध करने में जो हेतु दर्शाये हैं, उनकी मीमांसा हम तत्तत् प्रकरणों में आगे यथास्थान करेंगे।

व्याकरण शास्त्र का एक अन्य अङ्ग—शब्दानुशासन के साथ साक्षात् सम्बन्ध रखने वाला एक अंश और भी है, और वह है परिभाषा-पाठ। यद्यपि

१. द्र० सं० व्याकरण-शास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ १०२, प्र० संस्क०।

परिभाषा-पाठ भी अनेक व्याकरणों के पृथक्-पृथक् उपलब्ध होते हैं, तथापि वे अन्य खिलपाठों के समान तत्तच्छास्त्रप्रवक्ता आचार्यों द्वारा प्रोक्त नहीं हैं। इनका संग्रह तत्तत् शास्त्रों के उत्तरवर्ती व्याख्याकारों ने किया है।

परिभाषा-पाठ के व्याख्याकारों के मतानुसार ये परिभाषाएँ भी किसी प्राचीन व्याकरण के सूत्रपाठ के अन्तर्गत थीं।[1] उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने इन्हें 'लोकसिद्ध' 'न्यायसिद्ध' अथवा 'ज्ञापकसिद्ध' मान कर अपने तन्त्र में सन्निविष्ट नहीं किया। यतः इन परिभाषाओं द्वारा निदर्शित विषयों की उपेक्षा करके किसी भी व्याकरण शास्त्र का कार्य निर्वाह अशक्य है, अतः प्रत्येक व्याकरण के उत्तरवर्ती व्याख्याकारों ने मूल परिभाषापाठ में स्वस्व-शास्त्र के अनुसार यथोचित परिवर्तन परिवर्धन करके इन्हें स्वस्व-शास्त्र के साथ संबद्ध कर लिया है।

व्याकरण शास्त्र से संबद्ध अन्य ग्रन्थ—व्याकरण शास्त्र से साक्षात् संबद्ध ग्रन्थों का निर्देश ऊपर कर दिया है। इनके अतिरिक्त और भी कतिपय ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनका व्याकरण शास्त्र के साथ सम्बन्ध है। वे निम्न हैं—

फिट्-सूत्र, दार्शनिकग्रन्थ, काव्यग्रन्थ,
वैदिक व्याकरण (प्रातिशाख्यादि)

इन ग्रन्थों का संक्षिप्त इतिहास भी इस भाग में यथास्थान निबद्ध किया जाएगा।

इस प्रकार इस अध्याय में शब्दानुशासन के खिलपाठों का निर्देश करके अगले अध्याय में धातुपाठ में संगृहीत धातुओं के मूल स्वरूप के विषय में विचार किया जाएगा।

---

१. देखिए 'परिभाषापाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता' शीर्षक अध्याय।

उन्नीसवाँ अध्याय

शब्दों के धातुजत्व और धातु के स्वरूप पर विचार

शब्दों का वर्गीकरण—प्राचीन भारतीय भाषाविज्ञों ने संस्कृत भाषा के पदों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया है। उनमें से प्रधान वर्गीकरण इस प्रकार हैं—

चतुर्धा विभाग—यास्क तथा कतिपय प्राचीन वैयाकरणों ने पदों को चार विभागों में बाँटा है। वे विभाग हैं—

नाम आख्यात उपसर्ग निपात[1]

कतिपय आचार्य कर्मप्रवचनीयों को पृथक् गिन कर पाँच विभाग दर्शाते हैं, अन्य गतिसंज्ञकों को भी पृथक् मान कर छ विभाग मानते हैं।[2] वस्तुतः कर्मप्रवचनीयों और गतिसंज्ञकों का निपातों और उपसर्गों में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः उनकी पृथक् गणना की आवश्यकता नहीं है।

स्वर् आदि अव्ययों का अन्तर्भाव—पाणिनीय तन्त्र के अनुसार स्वर् आदि अव्यय निपातों से बहिर्भूत माने गए हैं।[3] पाणिनि के मत में अद्रव्य-वाची चादिशब्दों की निपात संज्ञा होती है।[4] स्वर् आदि अव्ययों में अनेक शब्द द्रव्यवाची हैं। अतः पाणिनि के मत में स्वर् आदि शब्दों का निपातों में समावेश नहीं हो सकता। पदों के चतुर्धा विभाग करने वाले प्राचीन आचार्य स्वर् आदि अव्ययों का निपातों में किस प्रकार समावेश करते थे, यह सम्प्रति अज्ञात है।

---

१. चत्वारि पदजातानि—नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। निरु० १।१॥ नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। निरु० १३।९॥ चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। महाभाष्य अ० १, पा० १ आ० १॥

२. द्र०—नापि पञ्च षड् वा गतिप्रवचनीयभेदेनेति। निरुक्त दुर्गवृत्ति १।१। पृष्ठ १०, आनन्दाश्रम।

३. स्वरादिनिपातमव्ययम्। अष्टा० १।१।३७॥

४. चादयोऽसत्त्वे। अष्टा० १।४।५७॥

ब्रह्मवाची ओम् का निपातों में अन्तर्भाव—गोपथब्राह्मण १।१।२६ में लिखा है कि वैयाकरण [ब्रह्मवाची] ओम् का निपातों में पाठ मानते हैं।[१] इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि संभवतः प्राचीन वैयाकरण निपातसंज्ञा में असत्त्व = अद्रव्यवाचकत्व का निर्देश नहीं करते थे। अन्यथा ब्रह्मवाची ओम् शब्द का निपातों में परिगणन नहीं हो सकता।[२] निपात संज्ञा में असत्त्व का निर्देश न होने पर स्वर् आदि अव्ययों का निपातों में कथंचित् अन्तर्भाव हो सकता है।[३]

त्रिधा विभाग—पाणिनीय शब्दानुशासन के अनुसार शब्द तीन प्रकार के हैं—नाम आख्यात और अव्यय। उपसर्ग और कर्मप्रवचनीयों का निपातों में अन्तर्भाव होता है[४] और निपातों का अव्ययों में।[५] दूसरे शब्दों में इस विभाग को नाम और आख्यात की विभक्तियों से युक्त (= सविभक्तिक) तथा उभयविध विभक्ति रहित (= निर्विभक्तिक) कह सकते हैं।

द्विधा विभाग—पाणिनीय तथा कतिपय अन्य तन्त्रों की प्रक्रिया के अनुसार शब्दों के सुबन्त और तिङन्त दो ही विभाग हैं। पाणिनि आदि ने पद संज्ञा की सिद्धि के लिए अव्ययों से भी स्वादि की उत्पत्ति करके उनके लोप का विधान किया है।[६]

---

१. निपातेषु चैनं वैयाकरणाः पठन्ति।

२. उणादिवृत्तिकार उज्ज्वलदत्त ने उणादि १।१४१ की व्याख्या में ब्रह्मवाची 'ओम्' शब्द की चादिपाठ से अव्यय संज्ञा मानी है—'चादित्वाद् अव्ययत्वम्'। ऐसा ही स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी उणादिकोश १।१४२ की व्याख्या में लिखा है। भट्टोजि दीक्षित ने उज्ज्वलदत्त के मत की समालोचना की है—'चादिपाठादव्ययत्वमित्युज्ज्वलदत्तः, तन्न, तेषामसत्त्वार्थत्वात्।' सि० कौ० उणादिप्रकरण (सं० १२९)।

३. कथंचित् इसलिए कहा है कि स्वर् आदि अव्ययों की निपात संज्ञा मानने पर 'निपाता आद्युदात्ताः' से सर्वत्र आद्युदात्तत्व की प्राप्ति होगी, जो कि इष्ट नहीं है।

४. प्राग् रीश्वरान्निपाताः (अष्टा० १।४।५६) अधिकार के अन्तर्गत उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय संज्ञाओं का निर्देश है।

५. स्वरादिनिपातमव्ययम्। अष्टा० १।१।३७॥

६. अव्ययादाप्सुपः। अष्टा० २।४।८२॥

एकविधत्व—ऐन्द्र आदि कतिपय प्राचीन व्याकरण-प्रवक्ताओं के मत में समस्त शब्द एकविध ही माने गए है।[1]

त्रिधा विभाग की युक्तता—पदों के स्वरूप की दृष्टि से उन्हें नाम (सुबन्त) आख्यात (तिङन्त) और अव्यय (उभयविध विभक्ति से रहित) तीन विभागों में ही बाँटा जा सकता है। इसलिए पदों का त्रिधा विभाग युक्ततम है।

नाम शब्दों का त्रेधा विभाग—नाम शब्द यौगिक, योगरूढ और रूढ भेद से तीन प्रकार के माने जाते हैं।

नाम शब्दों का अन्यथा विभाग—नाम शब्दों का एक अन्य प्रकार से भी विभाग किया जाता है—जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छाशब्द।[2]

यदृच्छाशब्द संस्कृत भाषा के अङ्ग नहीं—यदृच्छाशब्द संस्कृत भाषा में उत्तरकाल में प्रविष्ट हुए हैं, वे संस्कृत भाषा के मूल शब्द नहीं हैं। अत एव कतिपय वैयाकरण प्राचीन परम्परा के अनुसार यदृच्छा शब्दों की गणना न करके तीन प्रकार के ही शब्द मानते हैं।[3] आचार्य आपिशलि और पाणिनि भी यदृच्छा शब्दों को संस्कृत भाषा का अङ्ग नहीं मानते। अत एव वे कहते हैं—

यदृच्छाशक्तिजानुकरणा वा यदा दीर्घाः स्युः···। आ० शिक्षा ६।६॥
यदृच्छाशब्देऽशक्तिजानुकरणे वा यदा दीर्घाः स्युः······।
पा० शिक्षा।६।५॥

यहां यदा पद यदृच्छा शब्दों का अनभिमतत्व व्यक्त करता है।

न्यास ३।३।१ में भी लिखा है—तदेवं निरुक्तकारशाकटायनदर्शनेन त्रयी शब्दानां प्रवृत्तिः, जातिशब्दा गुणाशब्दाः क्रियाशब्दा इति।

यदृच्छा शब्दों का रूढत्व—भाषा में यदृच्छा शब्दों की प्रवृत्ति अहंभाव और मूर्खता के कारण होती है। जगत् में जैसे-जैसे इन कारणों की वृद्धि होती जाती है, उसी अनुपात से भाषा में यदृच्छा शब्दों की वृद्धि होती जाती है।

---

१. द्र०—'नैकं पदजातम्। यथा—अर्थः पदमैन्द्राणामिति।' निरुक्तदुर्गवृत्ति १।१। पृष्ठ १०, आनन्दश्रम।

२. चतुष्टयी शब्दनां प्रवृत्तिः—जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः। ऋलृक्, (प्रत्या० २) सूत्रभाष्य।

३. त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः—जातिशब्दा गुणशब्दा क्रियाशब्दा इति। न सन्ति यदृच्छाशब्दाः। ऋलृक्, (प्रत्या० २) सूत्रभाष्य।

यतः यदृच्छा शब्द भाषा अथवा व्याकरण के नियमों के अनुसार सोच विचारकर अर्थविशेष में प्रयुक्त नहीं किए जाते,[1] अतः वे कृत्स्न वर्णसमुदाय से ही अर्थ विशेष के संकेत मान लिए जाते हैं। इसलिए यदृच्छा शब्द रूढ ही होते हैं।

यदृच्छा शब्दों का वैयर्थ्य—यदृच्छा शब्दों में स्वाभाविक वाचकत्व शक्ति के अभाव के कारण वे भाषा में भाररूप ही होते हैं। उनसे कोई भी विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। महाकवि माघ ने सत्य ही लिखा है—

यदृच्छाशब्दवत् पुंसः संज्ञायै जन्मकेवलम्। शिशु० २।४७॥

अत एव कात्यायन और पतञ्जलि जैसे प्रामाणिक आचार्यों ने यदृच्छा शब्दों की कल्पना का प्रत्याख्यान करके न्याय्य शास्त्रान्वित शब्दों के व्यवहार की ही आज्ञा दी है।[2]

इस प्रकार यदृच्छा शब्दों को संस्कृत भाषा का अङ्ग स्वीकार न करने पर नाम शब्दों के यौगिक और योगरूढ दो ही प्रकार अवशिष्ट रहते हैं। क्योंकि संस्कृत भाषा में यदृच्छा शब्दों के अतिरिक्त कोई भी शब्द मूलतः रूढ नहीं है (यह हम अनुपद ही दर्शायेंगे)।

सम्पूर्ण शब्दों का यौगिकत्व—अति प्राचीन काल में न केवल नाम शब्द, अपितु अव्यय (स्वरादि + निपात) भी यौगिक अर्थात् धातुज माने जाते थे। इस परम्परा के प्रायः उत्सन्न हो जाने पर भी निरुक्त और उणादि-सूत्रों के प्रवक्ता आचार्यों तथा वेदभाष्यकारों ने अनेक अव्ययों की धातु से व्युत्पत्ति दर्शाई है। यथा—

अच्छ—अभेराप्तुमिति शाकपूणिः। निरुक्त ५।२८।

स्वाहा—इत्येतत् सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वयं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा। निरुक्त ८।२०॥

पृथक्—प्रथेः कित् संप्रसारणं च। उणादि १।१३७॥

समया—निकषा—आः समिण्निकषिभ्याम्। उणादि ४।१७५॥

वाट्—वहन्ति सुखानि यथा क्रियया सा। वाट् निपातोऽयम्।
दयानन्दीय यजुर्वेदभाष्य २।१८॥

---

१. द्र०—यदृच्छया कश्चिद् लृतको नाम। ऋलृक् (प्रत्या० २) सूत्रभाष्य॥

२. न्याय्यभावात् कल्पनं संज्ञादिषु। न्याय्यस्य ऋतकशब्दस्य भावात् कल्पनं संज्ञादिषु साधु मन्यन्ते।·········अपर आह—न्याय्य ऋतकशब्दः शास्त्रान्वितोऽस्ति। स एव कल्पयितव्यः साधुः संज्ञादिषु·········। ऋलृक् (प्रत्या २) सूत्रभाष्य।

इस प्रकार इन आचार्यों ने उत्सन्न हुई प्राचीन परम्परा की ओर संकेत करके उसे पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया है।

यौगिकत्व से रूढत्व की ओर गति—यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि जिन शब्दों में धात्वर्थ का अनुगमन प्रतीत होता है, वे यौगिक माने जाते हैं, जिनमें धात्वर्थानुगमन प्रतीत होने पर भी किसी अर्थ विशेष में नियत प्रतीत होते हैं, वे योगरूढ कहे जाते हैं और जिन शब्दों में धात्वर्थ का अनुगमन कथंचित् भी प्रतीत नहीं होता, वे रूढ़ माने जाते हैं। संस्कृत भाषा के इतिहास से स्पष्ट है कि मनुष्यों के उत्तरोत्तर मतिमान्द्य के कारण यौगिकत्व = धात्वर्थ-प्रतीति में भी उत्तरोत्तर ह्रास हुआ। इस कारण शब्दों में यौगिकत्व से योगरूढत्व और योगरूढत्व से रूढत्व की ओर अधिकाधिक गति हुई है।[1]

अव्ययों का रूढत्व—उक्त प्रवृत्तिके अनुसार जब धात्वर्थ अनुगमन का ह्रास हुआ, तब सबसे प्रथम अव्ययों पर इसका प्रभाव पड़ा। उनमें धात्वर्थ अनुगमन की प्रतीति का नाश हो जाने पर उन्हें रूढ मान लिया अर्थात् कृत्स्नवर्ण समुदाय के रूप में उन्हें अर्थ विशेष का वाचक अथवा द्योतक स्वीकार कर लिया।

नाम शब्दों का योगरूढत्व और रूढत्व—उक्त प्रवृत्ति के अनुसार जब नाम शब्दों में भी धात्वर्थ अनुगमन और अर्थवैविध्य विस्मृत होने लगा, तब नाम शब्दों की भी शुद्ध यौगिकता से योगरूढत्व और योगरूढत्व से रूढत्व की ओर गति होने लगी। जैसे-जैसे धात्वर्थ अनुगमन विस्मृत होने लगा, वैसे-वैसे भाषा में रूढ शब्दों की संख्या वृद्धिंगत होती गई।

रूढ माने गए शब्दों के विषय में विवाद—जब संस्कृत भाषा में शब्दों के रूढत्व की भावना दृढ़मूल हो गई, तब रूढत्वेन स्वीकृत शब्दों के विषय में शास्त्रकारों में एक अत्यन्त रोचक और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विवाद उत्पन्न हुआ। गार्ग्य अतिरिक्त समस्त नैरुक्त आचार्य और वैयाकरण शाकटायन लोक में रूढ माने जाने वाले शब्दों के धातुजत्व का और नैरुक्त गार्ग्य तथा शाकटायन व्यतिरिक्त वैयाकरण अधातुजत्व का प्रतिपादन करने लगे। निरुक्त के प्रथमाध्याय के १२-१४ खण्डों में इस विवाद पर गम्भीर विवेचन किया है। यास्क ने रूढ शब्दों को अधातुज कहने वाले आचार्यों की युक्तियों का उत्तमता से निराकरण करके सम्पूर्ण नाम शब्दों के धातुजत्व सिद्धान्त का भले प्रकार

१. इस विषय की विशद मीमांसा हमने 'संस्कृत भाषा का इतिहास' ग्रन्थ में की है। यह अभी अप्रकाशित है।

स्थापन किया है, अर्थात् यास्क के मत में कोई भी शब्द रूढ = अधातुज नहीं है।

उणादि-सूत्रों के पार्थक्य का कारण—जब शब्दों के एक बड़े अंश के विषय में यौगिकत्व और रूढत्व सम्बन्धी मतभेद उत्पन्न हो गया, तब तात्कालिक वैयाकरणों ने उन विवादास्पद शब्दों के साधुत्व-ज्ञापन के लिए एक ऐसा मार्ग निकाला, जिससे दोनों मतों का समन्वय हो सके। इसके लिए उन्होंने उणादिपाठ का प्रवचन किया। शब्दानुशासन के कृदन्त = धातुज शब्दों के प्रकरण का खिल बनाकर उसे शब्दानुशासन से पृथक् कर दिया। रूढत्वेन अभिमत विवादास्पद शब्दों को धातुज माननेवालों की दृष्टि से शब्दानुशासनस्थ कृदन्त शब्दों के समान उनके प्रकृति प्रत्यय अंश का प्रवचन कर दिया और शब्दानुशासन के कृदन्त प्रकरण से बहिर्भूत करके उनका रूढत्व भी अभिव्यक्त कर दिया। यही कारण है कि साम्प्रतिक प्रायः सभी उणादि-व्याख्याकार औणादिक शब्दों को रूढ मानते हुए वर्णानुपूर्वी के परिज्ञानमात्र के लिए उनमें प्रकृति-प्रत्यय विभाग की कल्पना स्वीकार करते हैं।[1]

उणादि सूत्रों के सम्बन्ध में भ्रान्ति—आधुनिक वैयाकरण निकाय में यह धारणा दृढ़मूल हो गई कि वर्तमान पञ्चपादी उणादिसूत्र शाकटायन प्रोक्त हैं।[2] वस्तुतः यह धारणा भ्रान्तिमूलक है। इस भ्रान्ति का कारण उणादयो बहुलम् (अष्टा० ३।३।१) सूत्र पर लिखे गये महाभाष्यकार के निम्न शब्द हैं—

नाम च धातुजमाह निरुक्ते···व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति।

वस्तुतः भाष्यकार को यहाँ इतना ही बताना अभिप्रेत है कि नैरुक्त आचार्य और वैयाकरणों में शाकटायन सभी नाम शब्दों को धातुज मानते हैं। वर्तमान पञ्चपादी उणादिसूत्र शाकटायन-प्रोक्त हैं, यह महाभाष्यकार के किसी भी पद से इङ्गित नहीं होता। पाणिनि से पूर्ववर्ती अनेक वैयाकरणों ने उणादि-

---

१. उणादिप्रत्ययान्ताः संज्ञाशब्दाः। तेन तेषामत्र स्वरूपसंवेदनस्वरवर्णानुपूर्वीमात्रफलम् अन्वाख्यानम्। श्वेतवनवासी, उणादिवृत्ति १।१॥ इसी प्रकार अन्य वृत्तिकारों ने भी लिखा है।

२. येयं शाकटायनादिभिः पञ्चपादी विरचिता। श्वेतवनवासी उ० वृत्ति १।१। एवं च कृवापेति उणादिसूत्राणि शाकटायनस्येति सूचितम्। नागेश प्रदीपोद्योत ३।३।१॥

सूत्रों का प्रवचन किया था।[१] पूर्व आचार्यों की परम्परा के अनुसार पाणिनि ने भी खिलपाठ के रूप में उणादिसूत्रों का प्रवचन किया।[२] पाणिनि से उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने भी उणादि-प्रवचन द्वारा प्राचीन परम्परा को अद्यथावत् अक्षुण्ण बनाए रखा।

औणादिक शब्दों के विषय में पाणिनीय मत—यद्यपि भगवान् पाणिनि ने रूढ शब्दों के यौगिकत्व (=धातुजत्व) पक्ष को सुरक्षित रखने के लिए प्राचीन वैयाकरण परम्परा के अनुसार उणादिसूत्रों का प्रवचन किया, तथापि वे तात्कालिक वैयाकरण मत के अनुसार औणादिक शब्दों को रूढ (=अव्युत्पन्न) ही मानते थे। अत एव भगवान् कात्यायन और पतञ्जलि ने लिखा है—

प्रातिपदिकविज्ञानाच्च भगवतः पाणिनेः सिद्धम्। प्रातिपदिकविज्ञानाच्च भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्। उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि। महा० ७।१।२॥

अर्थात्—[अखण्ड] प्रातिपदिक मानने से पाणिनि आचार्य के मत में सिद्ध है। उणादि [निष्पन्न] शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है।

औणादिक शब्दों के विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती का मत—समस्त वैयाकरण सम्प्रदाय में आचार्य शाकटायन के अनन्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती ही ऐसे वैयाकरण व्यक्ति हैं, जो औणादिक शब्दों में किसी को भी रूढ नहीं मानते। वे प्रत्येक औणादिक शब्द को मूलतः शुद्ध यौगिक मानते हैं, और औत्तरकालिक प्रसिद्धि के अनुसार उन्हें योगरूढ स्वीकार करते हैं। इसी दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्रत्येक औणादिक शब्द का शुद्ध यौगिक और योगरूढ दो-दो प्रकार के अर्थ दर्शाए हैं। यथा—

पाति रक्षति स पायुः, रक्षकः गुदेन्द्रियं वा। उणादिकोश १।१॥

यहाँ पायु को यौगिक मानकर प्रथम 'रक्षक' अर्थ दर्शाया है और योगरूढ मानकर 'गुदेन्द्रिय'। इसी प्रकार सर्वत्र दो प्रकार के अर्थ दर्शाए हैं।

इस दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती की उणादिवृत्ति स्वल्पाक्षरा होते हुए भी औणादिक वाङ्मय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस पर अधिक विचार यथास्थान किया जायगा।

---

१. इस विषय पर अधिक इसी ग्रन्थ के उणादि प्रकरण में लिखेंगे।

२. प्रक्रियासर्वस्व, उणादि प्रकरण १।४०। पृष्ठ १०, मद्रास संस्क० नारायण-वृत्ति।

सम्पूर्ण नाम शब्दों की रूढत्व में परिणति—पूर्वनिर्दिष्ट धात्वर्थ-अनुगमन के उत्तरोत्तर ह्रास के कारण संस्कृत भाषा के इतिहास में एक ऐसा भी समय उपस्थित हो गया, जब पूर्वाचार्यों द्वारा असन्दिग्धरूप से यौगिक माने गए पाचक, पाठक आदि शब्द भी वृक्ष आदि शब्दों के समान रूढ मान लिए गए, कोई भी शब्द यौगिक अथवा योगरूढ नहीं रहा। अत एव कातन्त्र व्याकरण के मूल प्रवक्ता ने सम्पूर्ण कृदन्त भाग के प्रवचन को अनावश्यक समझकर उसे अपने तन्त्र में स्थान नहीं दिया। इस घोर अज्ञानावृत दुरवस्था का संकेत कातन्त्र के व्याख्याकार दुर्गसिंह के निम्न शब्दों से मिलता है—

वृक्षादिवदमी रूढा न कृतिना कृताः कृतः।
कात्यायनेन ते सृष्टा विबुधप्रतिपत्तये॥

अर्थात्—कृदन्त पाचक पाठक आदि शब्द भी वृक्ष आदि के समान रूढ हैं। अतः ग्रन्थकार (शर्ववर्मा) ने कृदन्त शब्द विषयक सूत्र नहीं रचे। विबुध लोगों के परिज्ञान के लिए कात्यायन ने इन्हें रचा है।

इस प्रकार सम्पूर्ण कृदन्त शब्दों को रूढ स्वीकार कर लेने पर भी उत्तरवर्ती वैयाकरण अपने शब्दानुशासनों की परिपूर्णता के लिए प्राचीन परम्परानुसार कृदन्त शब्दों का अन्वाख्यान करते रहे। इतना ही नहीं, कातन्त्र के मूलप्रवक्ता द्वारा कृदन्त भाग की उपेक्षा होने पर भी, उत्तरवर्ती आचार्य कात्यायन को स्व-तन्त्र की परिपूर्णता के लिए कृदन्त भाग का प्रवचन करना पड़ा।

धातुस्वरूप

वैयाकरणों के मतानुसार शब्द तीन प्रकार के हैं—धातुज, अधातुज और नामज। धातुज भी दो प्रकार के हैं--पचति, पठति आदि क्रिया शब्द और पाचक, पाठक आदि नाम शब्द। वृक्षादि नाम, उपसर्ग, निपात और अव्यय अधातुज अर्थात् रूढ माने जाते हैं। तद्धित प्रत्ययान्त शब्द नामज होते हैं। समस्त अर्थात् समासयुक्त पद उक्त त्रिविध शब्दों के समुदायमात्र होते हैं, अतः उनकी पृथक् गणना नहीं की जाती।

धातुलक्षण—वैयाकरण निकाय में धातु शब्द का लक्षण इस प्रकार किया जाता है—

दधाति विविधं शब्दरूपं यः स धातुः।

अर्थात्—जो शब्दों के विविध रूपों को धारण करने वाला, निष्पादन करने वाला [शब्द के अन्तः प्रविष्ट सूक्ष्म रूप] है, वह धातु कहाता है।

शब्दों के धातुजत्व पर विचार—भाषा-वैज्ञानिकों ने इस प्रश्न पर गहरा विचार किया है कि मानव भाषा के प्रारम्भिक मूल शब्द कौन से रहे होंगे। कतिपय विद्वानों ने शब्दों के धातुजत्व सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर भाषा के प्रारम्भिक शब्द धातुमात्र स्वीकार किए। परन्तु यह पक्ष व्यावहारिक दृष्टि से अनुपपन्न है। आरम्भ में चाहे कोई भी भाषा रही हो, परन्तु केवल धातुमात्र शब्दों के साहाय्य से लोक-व्यवहार कथंचित् भी उपपन्न नहीं हो सकता। लोक-व्यवहार के यथोचित उपपन्न होने के लिए नाम आख्यात उपसर्ग और निपात आदि सभी प्रकार के शब्दों की आवश्यकता होती है। अतः भाषा के मूल शब्द धातुमात्र नहीं माने जा सकते। परन्तु शब्दों को धातुज मानने पर धातुओं की सत्ता उनसे पूर्व स्वीकार करनी पड़ती है।

भारतीय मत का स्पष्टीकरण—भारतीय भाषाशास्त्रज्ञ भी सम्पूर्ण नाम शब्दों को धातुज मानते हैं, यह हम पूर्व लिख चुके। इसलिए भारतीय मत का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

अर्वाक्कालिक स्पष्टीकरण—अर्वाक् कालिक भारतीय भाषाविदों ने शब्दों के धातुजत्व सिद्धान्त पर गम्भीर विवेचन किया और उन्होंने राद्धान्त स्थिर किया कि 'शब्द नित्य' हैं अर्थात् पूर्वतः विद्यमान हैं। शास्त्रकारों ने पूर्वतः विद्यमान शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय अंश की कल्पना करके उनके उपदेश का एक मार्ग बनाया है। शास्त्रकारों का प्रकृति प्रत्यय विभाग काल्पनिक है, पारमार्थिक नहीं। अत एव शब्द निर्वचन के विषय में शास्त्रकारों में मतभेद भी देखा जाता है।[1] यदि प्रकृति-प्रत्यय विभाग काल्पनिक न होता तो शास्त्रकारों में मतभेद भी न होता। इस स्पष्टीकरण के अनुसार धातुजत्व सिद्धान्त का कोई मूल्य ही नहीं रहता। अतः हमारी दृष्टि में यह स्पष्टीकरण चिन्त्य है।

प्राचीन वाङ्मय के साहाय्य से स्पष्टीकरण—न प्रसिद्धिर्निर्मूला इस कहावत के अनुसार भारतीय प्राचीनतम राद्धान्त 'सब शब्द धातुज हैं' का मूल कुछ अवश्य होना चाहिए। कुछ मूल होने पर उसके स्वरूप का परिवर्तन सम्भव है और प्रयत्न करने पर उसके मूल स्वरूप का परिज्ञान भी हो सकता है। इसी धारणा को लेकर हमने भारतीय और पाश्चात्य भाषाशास्त्र के विविध ग्रन्थों के अनुशीलन के साथ-साथ भारतीय प्राचीनतम वैदिक वाङ्मय और

---

१. अन्वाख्यानानि भिद्यन्ते शब्दव्युत्पत्तिकर्मसु। वाक्य० २।१७१॥ कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गर्जतेर्गमेः। गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम्। वाक्य० २।१७५॥

विविध व्याकरणों का विशेष अध्ययन किया। उससे हम इस परिणाम पर पहुँचे कि भारतीय प्राचीनतम 'सब शब्द धातुमूलक हैं' सर्वथा सत्य है। इतना ही नहीं, उसको स्वीकार करने में भाषाशास्त्र की दृष्टि से अथवा व्यावहारिक दृष्टि से कोई दोष भी उपस्थापित नहीं किया जा सकता। परन्तु अति पुरा काल में धातुका वह स्वरूप नहीं था, जो सम्प्रति स्वीकार किया जाता है। अतः धातु के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है।

धातु का प्राचीन स्वरूप

धातु-लक्षण का स्पष्टीकरण—निस्सन्देह वैयाकरणों द्वारा प्रदर्शित धातु-लक्षण दधाति शब्दस्वरूपं यः स धातुः सर्वथा सत्य है, परन्तु इसका वास्तविक तात्पर्य 'विभिन्न प्रकार के शब्दरूपों को धारण करने वाला जो मूल शब्द है वह धातु कहाता है' है। अर्थात् जो शब्द आवश्यकतानुसार नाम विभक्तियों से युक्त होकर नाम बन जाए, आख्यात विभक्तियों से युक्त होकर क्रिया को द्योतन करने लगे और उभयविध विभक्तियों से रहित रहकर स्वार्थ-मात्र का द्योतक होवे, वह (तीनों रूपों में परिणत होने वाला) मूल शब्द ही धातु पद वाच्य होता है। इस प्रकार के आवश्यकतानुसार विविध रूपों में परिणत होने वाले शब्द ही आदि भाषा संस्कृत के मूल शब्द थे। यतः ये मूलभूत शब्द ही नाम, आख्यात और अव्यय रूप विविध प्रकार के शब्दों में परिणत होते हैं, अतः सब शब्द धातुज हैं यह भारतीय प्राचीन राद्धान्त सर्वथा सत्य है। अति प्राचीन काल के भारतीय भाषाविज्ञ उक्त प्रकार के मूलभूत शब्दों को ही धातु कहते थे।

धातु=प्रातिपदिक—अति पुराकाल में पूर्व निर्दिष्ट धातु शब्दों के लिए प्रातिपदिक शब्द का भी व्यवहार होता था। प्रातिपदिक शब्द का स्व-अर्थ है—

पदं पदं प्रति—प्रतिपदम्। प्रतिपदेषु भवं प्रातिपदिकम्।

अर्थात् जो नाम, आख्यात और अव्यय (उपसर्ग-निपात) रूप सर्वविध पदों में मूलरूप से विद्यमान रहे, वह प्रातिपदिक कहाता है।[1]

भगवान् पाणिनि ने प्रातिपदिक संज्ञा का निर्देश धातु और प्रत्यय से भिन्न अर्थवान् शब्द के लिए किया है, परन्तु सर्वा महती संज्ञा अन्वर्थाः इस न्याय के अनुसार प्रातिपदिक रूप महती संज्ञा भी अपनी अन्वर्थता का बोध कराती हुई अपने अन्दर निहित व्याकरण-शास्त्र की अथवा भाषा-विज्ञान की अतिपुराकाल की प्रक्रिया के स्वरूप को अभिव्यक्त कर रही है।

१. तुलना करो—प्रतिपद पाठ से।

अति प्राचीन शब्द-प्रवचन शैली—महाभाष्य में भगवान् पतञ्जलि ने प्रसङ्गात् एक अति प्राचीन आख्यान उद्धृत किया है।[1] उस आख्यान से विदित होता है कि जब तक व्याकरण-शास्त्र लक्षणरूप में निबद्ध नहीं हुआ था, तब तक शब्दों का प्रतिपद उपदेश होता था। उस प्रतिपद उपदेश का क्या स्वरूप था, यद्यपि यह सम्प्रति निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता, तथापि संभव है कि एक मूलभूत शब्द को लेकर उससे आख्यात-विभक्तियाँ जोड़कर आख्यातरूपों के तथा नाम-विभक्तियाँ जोड़कर नाम रूपों के निदर्शन की प्रथा थी। उसी मूलभूत शब्द से कृत् और तद्धित प्रत्यय जोड़कर कृदन्त और तद्धितान्त शब्दों का प्रवचन भी किया जाता था। उभयविध विभक्तियों के विना स्वार्थमात्र में (अव्यय रूप में) प्रयोग होता था। इस अति प्राचीनकाल की शब्द प्रवचन शैली को स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण उपस्थित करते हैं—

उषस् शब्द कण्ड्वादिगण (३।१।२७) में पठित है। कण्ड्वादिगणस्थ शब्द आज भी वैयाकरणों द्वारा धातु और प्रातिपदिक रूप उभयविध माने जाते हैं।[2] इस दृष्टि से कण्ड्वादिगणस्थ शब्दों की आज भी वही स्थिति है जो अति पुराकाल में शब्दमात्र की थी।[3] 'उषस्' का कण्ड्वादिगण में पाठ होने से उसे धातु मानकर उषस्यति आदि क्रियारूपों की तथा उषस्यकः उषसिता उषसितव्यम् उषसनीयम् आदि कृदन्त शब्दों की सिद्धि दर्शाई जाती है और नाम मानकर उषाः उषसौ उषसः आदि नामरूपों की निष्पत्ति होती है। 'उषस्' शब्द का चादिगण (१।४।५७) में पाठ होने से उभयविध विभक्तियों से रहित यह निपातरूप अव्यय भी है। इसी अव्यय से उषस्त्यम् उषस्तनम् आदि तद्धितरूप निष्पन्न होते हैं।

उस काल में उपसर्गों की भी पृथक् सत्ता नहीं थी। वे मूलभूत शब्द के ही अवयव माने जाते थे। अतः अट् आदि का आगम भी उपसर्गांश से पूर्व होता

---

१. बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्द-पारायणं प्रोवाच। महा० १।१ आ० १।

२. धातुः प्रकरणाद् धातुः कस्य चासंजनादपि। आह चायमिमं दीर्घं मन्ये धातुर्विभाषितः। महा० ३।१।२७॥

३. साम्प्रतिक नामधातुप्रक्रिया भी इसी पुरातन स्थिति की ओर संकेत करती है। यथा अश्व इवाचरति अश्वति, गर्दभति।

था। आज भी संग्राम निवास वीर व्यय आदि कतिपय धातुओं में यह स्थिति देखी जाती है।[1]

इस विवेचना से स्पष्ट है कि व्याकरण शास्त्र के लक्षणबद्ध होने से पूर्व प्रतिपद-प्रवचन द्वारा इसी प्रकार शब्द का प्रवचन होता था। अत एव उस काल में उक्त प्रकार के मूलभूत शब्दों को क्रम विशेष से जिस ग्रन्थ में संग्रह किया गया, वह शब्दपारायण कहाता था।[2]

उत्तरकालीन स्थिति—उपरि निर्दिष्ट अति प्राचीन काल की स्थिति के पश्चात् उपसर्ग निपात और अव्ययों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गई, परन्तु नाम और आख्यात पदों के मूलभूत शब्द पूर्ववत् समान रहे, अर्थात् एक ही शब्द से उभयविध विभक्तियों से संबद्धपदों की निष्पत्ति मानी जाती रही। इसी प्रक्रिया का स्वल्प स्वरूप कण्ड्वादिगण के रूप में आज भी विद्यमान है।

अवरकालीन स्थिति—उक्त काल से अवर काल में व्याकरण शास्त्र का अतिसंक्षेप से प्रवचन करने के लिए तत्कालीन वैयाकरणों ने मूलतः अनेकविध नाम और क्रिया पदों की सिद्धि के लिए एक सूक्ष्म धात्वंश की कल्पना की। उसी में विभिन्न प्रत्ययों के परे रहने पर गुण वृद्धि लोप इट् आगम आदि विविध विषयों की कल्पना करके मूलतः विभिन्न शब्दों की निष्पत्ति दर्शाने का प्रयत्न किया गया। इसी काल में मूल शब्दों के अवयवभूत उपसर्गांश भी पृथक् किए गए। यह प्रक्रिया उत्तर काल में अधिकाधिक विकसित होती गई। उसका फल यह हुआ कि मूलरूप से विभिन्न स्वतः सिद्ध शब्दों को आज एक कृत्रिम धातु से निष्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं और उसी काल्पनिक धातु के अर्थ के अनुसार शब्दार्थ की कल्पना करते हैं।[3]

---

१. 'पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन', 'पूर्वं हि धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण' ये दोनों परिभाषा अति पुराकाल के सोपसर्ग और निरुपसर्ग द्विविध धातुओं की मूलस्थिति की ओर संकेत करती हैं। इस पर अगले १० वें सन्दर्भ में (पृष्ठ २०) विशेषरूप से लिखा है।

२. शब्दपारायणं रूढिशब्दोऽयं कस्यचिद् ग्रन्थस्य। भर्तृहरिकृत महाभाष्यटीका, पृष्ठ २१।

३. इसी कल्पना के कारण शब्दार्थ व्यवस्थित नहीं होता। नौ शब्द की व्युत्पत्ति सांप्रतिक वैयाकरण 'ग्लानुदिभ्यां डौः' (उणादि २।६५) सूत्रानुसार 'नुद' धातु से करते हैं। तदनुसार जो कोई पदार्थ प्रेरित किया जाए, वह नौ

वर्तमान धातुपाठों में प्राचीन मूलभूत शब्दों का निर्देश

वैयाकरणों द्वारा सहस्रों वर्षों तक लघुभूत कृत्रिम धात्वंश कल्पना के विकसित होने पर भी अति प्राचीन काल की नाम-आख्यात पदों के एकविध मूल शब्द की स्थिति को सर्वथा लुप्त नहीं किया जा सका। आज भी पाणिनीय तथा तदुत्तरवर्ती व्याकरण उस अति प्राचीनकाल की स्थिति का अनेक प्रकार से बोध करा रहे हैं। हम यहाँ पाणिनीय व्याकरण के कतिपय निर्देश उपस्थित करते हैं—

१—पाणिनीय धातुपाठ में आज भी शतशः ऐसी धातुएँ पठित हैं, जो उसी रूप में लोक में नाम रूप से भी व्यवहृत होती हैं। यथा—

पुष्प शम दम व्यय वृक्ष शूर वीर हल स्थूल स्थल कुल बल ऊह पण वास निवास कुमार गोमय संग्राम आदि आदि।

२—पाणिनि के द्वारा विशिष्ट कार्य के लिए लगाए गए विभिन्न अनुबन्धों को हटाकर यदि अ-वर्ण (जिसका क्रियारूप में लोप हो जाता है, यथा—पुष्यति) अन्त में जोड़ दें तो शतशः धातुएँ ऐसी बन जाएँगी, जो उसी रूप में नामरूप में प्रयुक्त होती हैं। यथा—

अक्षू=अक्ष, श्लोकृ=श्लोक, आङ् रेकृ=आरेक, क्रमु=क्रम आदि आदि।

३—जिन धातुओं में नुम् (न्) का आगम करने के लिए इकार अनुबन्ध लगाया है, उसको हटाकर और यथास्थान मूलभूत अनुनासिक वर्ण को बैठाकर अन्त में अ आ जोड़ने से धातुएँ मूल शब्द रूप में अनायास परिणत हो जाती हैं। ऐसी धातुएँ पाणिनीय धातुपाठ में अत्यधिक हैं। यथा—

स्कभि=स्कम्भ जृभि=जृम्भा, पडि=पण्डा, यत्रि=यन्त्र
मुडि =मुण्ड, टकि=टङ्क, शुठि=शुण्ठ मत्रि=मन्त्र

कहा जाना चाहिए, परन्तु कहा नहीं जाता। प्राचीन काल की परिस्थिति के अनुसार प्लवनार्थक 'नावति' क्रिया का कर्ता ही नौ पदवाच्य होगा। काशकृत्स्न धातु पाठ में 'णौ प्लवने' धातु आज भी पठित मिलती है। यही अवस्था 'गच्छतीति गौः' की है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय २।१७६ में कहा है—'गौरित्येव स्वरूपाद्वा गोशब्दो गोषु वर्तते।' इसके स्वोपज्ञ विवरण में लिखा है—'अपरे त्वाचार्या औक्थिक्यादयो गौः कस्मात् गौरित्येव गौरिति निर्वचनमाहुः।' ये वचन भी पुराकाल की 'गौ' अथवा 'गो' रूप मूल शब्द की ओर संकेत करते हैं।

४—इसी प्रकार मूलभूत अंश की उपसर्ग के रूप में पृथक् कल्पना करने पर भी पाणिनीय धातुपाठ में अनेक धातुएँ ऐसी विद्यमान हैं, जिनमें वर्तमान दृष्टि से उपसर्गांश संयुक्त है। यथा—

संग्राम=सम्+ग्राम, व्यय=वि+अय, वीर=वि+ईर।

इन धातुओं के लङ् लुङ् लृङ् के रूपों में अट् का आगम उपसर्गांश से पूर्व होता है।[1]

५—सहस्रों वर्षों से सूक्ष्मभूत धात्वंश की स्वतन्त्र कल्पना करने पर भी दैवगत्या अवशिष्ट कण्ड्वादिगण उस अति प्राचीन काल की स्थिति को व्यक्त कर रहा है, जब एक ही शब्द आख्यात और नाम की उभयविध विभक्तियों से युक्त होकर क्रियारूपों और नामरूपों को धारण करते थे। धातुपाठस्थ चुरादिगण की भी प्रायः यही स्थिति है। अत एव पाणिनि ने चुरादिगणस्थ धातुओं से णिच् करने के लिए उन्हें सत्याप पाश रूप वीणा आदि नाम शब्दों के साथ पढ़ा है।[2]

६—समस्त वैयाकरण आज भी सभी नाम (प्रातिपदिक) शब्दों से आचार आदि अर्थों में क्विप् क्यच् क्यङ्[3] आदि प्रत्यय करके उनसे आख्यात रूप बनाते हैं।

अश्व—अश्वति, अश्वीयति (छन्द में—अश्वायति), अश्वायते।

यह प्रक्रिया मूलभूत प्राचीन सरलतम (एक शब्द से उभयविध विभक्तियों का जोड़ना रूप) प्रक्रिया का द्रविड़ प्राणायामवत् क्लिष्ट प्रकार मात्र है।

---

१. महाभाष्यकार ने 'अवश्यं संग्रामयतेः सोपसर्गादुत्पत्तिर्वक्तव्या असंग्रामयत शूर इत्येवमर्थम्' (३।१।१२) में यद्यपि केवल संग्राम का ही निर्देश किया है। तथापि उसे इस प्रकार की धातुओं का उपलक्षक समझना चाहिए।

२. सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच्। अष्टा० ३।१।२५॥ गोल्डस्टकरने पाणिनि के इस सूत्र पर आक्षेप करते हुए लिखा है कि पाणिनि ने अपने व्याकरण में वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्था नहीं बांधी। उसने चुरादि धातुओं को नाम शब्दों से णिच् विधायक सूत्र में पढ़ दिया। वस्तुतः गोल्डस्टकर का लेख चिन्त्य है। आचार्य ने इस व्यवहार से चुरादि धातुओं की विशिष्ट स्थिति की ओर संकेत किया है।

३. सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विब्वक्तव्यः (वा० ३।१।११) अश्व इव आचरति—अश्वति, गर्दभति। सुप आत्मनः क्यच् (अष्टा० ३।१।८) उपमानादाचारे, कर्तुः क्यङ् सलोपश्च (अष्टा० ३।१।१०,११)।

७—साम्प्रतिक वैयाकरणों द्वारा व्यवहृत नामधातु शब्द भी प्राचीन काल की उसी प्रक्रिया को व्यक्त करता है, जिसके अनुसार एक ही शब्द नाम और धातु उभय रूप माना जाता था।

८—वर्तमान वैयाकरणों द्वारा किन्हीं शब्द विशेषों के लिए स्वीकृत क्विबन्तो धातुत्वं न जहाति परिभाषा भी वाच् स्रुच् आदि शब्दों के उभयविध (नाम धातु) स्वरूप को प्रकट कर रही है।

९—शिशुपालवध १।६८ की वल्लभदेव की व्याख्या में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत है, जो इस प्रकार है—

शत्रदन्त-क्विबन्तानां क्वसन्तानां तथैव च।
तृजन्तानां तु लिङ्गानां धातुत्वं नोपहन्यते॥

अर्थात्—शतृ, अद् (पाणिनीय-अच्), क्विप्, क्वसु और तृच् प्रत्ययान्त लिङ्गों[1] (पाणिनीय-प्रातिपदिकों) में धातुत्व का नाश नहीं होता (उनमें धातुविहित कार्य हो जाते हैं)।

इससे स्पष्ट है कि वर्तमान धातुओं से शतृ आदि प्रत्ययों के करने पर जो रूप बनता है, वह आख्यात और नाम की उभयविध विभक्तियों से सम्बद्ध हो जाता है। अन्यथा धातुत्वं नोपहन्यते विधान का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता।

१०—पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा शब्दविशेषों की निष्पत्ति के लिए स्वीकार की गई परस्पर विरुद्ध—

पूर्वं हि धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन।
पूर्वं हि धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण।

परिभाषायें प्राचीन काल की भाषाशास्त्र की उस महत्त्वपूर्ण स्थिति की ओर संकेत करती हैं, जब सम्प्रति उपसर्ग नाम से अभिहित अंश अनेक मूल शब्दों (धातुओं) का अवयव था और कई एक शब्दों में पीछे से संयुक्त किया जाता था। जिनमें उपसर्गांश धातु का अवयव था, उसी का संकेत प्रथम परिभाषा में किया है—धातु से पहले उपसर्ग जुड़ता है, पीछे प्रत्यय आते हैं। इस व्याख्या के अनुसार संग्राम व्यय आदि में अडागम उपसर्गांश से पूर्व होता है—असंग्रामयत् अव्ययत् और आनन्द प्रार्थ आदि शब्दों में समासाभाव के कारण ल्यप् नहीं होता—आनन्दयित्वा प्रार्थयित्वा। जिसमें उपसर्गांश

---

१. काशकृत्स्न और कातन्त्र व्याकरण में लिङ्ग शब्द प्रातिपदिकों की संज्ञा है।

मूल धातु का अवयव नहीं था उनमें धातु पहले प्रत्यय से युक्त होती थीं, पीछे उपसर्ग से। यथा सम् भू—समभवत्, वि भू—व्यभवत्। इस प्रकार उपसर्गयुक्त सम्भू विभू आदि शब्दों के रूपों में अडागम सम् आदि से पूर्व होकर असंभवत् अविभवत् आदि प्रयोग निष्पन्न होते थे और उपसर्गांश को पृथक् से जोड़ने पर समभवत् व्यभवत् आदि प्रयोग सिद्ध होते थे।

इस सारी विवेचना से यह स्पष्ट है कि अति पुरा काल में मूलभूत एक ही प्रकार के शब्द थे। उन्हीं से आख्यात विभक्तियाँ जुड़कर आख्यात (क्रिया के रूप बन जाते थे और नाम विभक्तियाँ जुड़ कर नामिक रूप। दोनों प्रकार की विभक्तियों का योग न होने पर वे ही अव्यय नाम से व्यवहृत होते थे। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भाषा-शास्त्र की इस अति प्राचीन काल की स्थिति का अत्यधिक महत्त्व है। इस स्थिति को जान लेने से वर्तमान भाषामतानुसार संस्कृत भाषा पर किये जाने वाले अनेकविध प्रहारों का समुचित उत्तर दिया जा सकता है।

इस प्रकार इस अध्याय में 'शब्दों के धातुजत्व और धातु के स्वरूप पर विचार' करने के पश्चात् अगले अध्याय में पाणिनि से पूर्ववर्ती 'धातुपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता' के विषय में लिखा जाएगा।

बीसवां अध्याय

धातुपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता

पूर्व अध्याय में हम विस्तार से लिख चुके हैं कि पुरा काल में संपूर्ण शब्द धातुज माने जाते थे। जिस काल में शब्दों का एक बड़ा भाग रूढ मान लिया गया, उस समय भी नैरुक्त और वैयाकरणों में शाकटायन संपूर्ण नाम शब्दों को आख्यातज ही मानते थे।[1] इसलिए तात्कालिक वैयाकरणों ने रूढ माने जाने वाले वृक्ष आदि शब्दों के यौगिक-पक्ष को दर्शाने के लिए उणादि-पाठ का खिलरूप से प्रवचन किया। अतः नाम चाहे यौगिक हों, योगरूढ हों, अथवा रूढ, उनके प्रकृति प्रत्यय अंश की कल्पना के लिए किन्हीं वर्ण-समूहों को प्रकृति रूप से पृथक् संगृहीत करना ही पड़ेगा। विना उनके संग्रह के अथवा स्वरूप निर्देश के प्रत्ययांश का निर्देश अथवा विभाजन सर्वथा असम्भव है। अत एव वैयाकरणों ने अपने-अपने शब्दानुशासनों से संबद्ध धातुओं का खिल-पाठ में संग्रह किया। यही संग्रह वैयाकरण-निकाय में धातुपाठ के नाम से व्यवहृत होता है।

धातुपाठ के प्रवक्ता

जिस-जिस आचार्य ने शब्दानुशासन का प्रवचन किया, उस-उस ने प्रकृति-प्रत्यय-अंश के विभाग को दर्शाने के लिए धातुपाठ का भी प्रवचन किया, यह निस्सन्दिग्ध है। क्योंकि विना धातुनिर्देश के प्रकृति-प्रत्यय कल्पना का सम्भव ही नहीं।

हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पाणिनि से पूर्ववर्ती २३ शब्दानुशासन-प्रवक्ताओं का निर्देश किया है। उनमें से किस-किस ने धातुपाठ का प्रवचन किया था, यह सम्प्रति अज्ञात है। तैत्तिरीय सं० ६।४।७ के प्रमाण से पूर्व लिख चुके हैं कि शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय-रूप विभाग-कल्पना सर्वप्रथम इन्द्र ने की थी। अतः इन्द्र और उससे उत्तरवर्ती सभी वैयाकरणों ने धातुपाठ का भी प्रवचन किया था, यह सामान्य रूप से कहा जा सकता है। हम यहाँ उन

---

१. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। निरु० १।१२॥

धातुपाठ-प्रवक्ताओं का वर्णन करेंगे, जिनका धातुपाठ-प्रवक्तृत्व सर्वथा स्पष्टतया ज्ञात है।

१—इन्द्र (८५०० वि० पू०)

शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय अंश के प्रथम प्रकल्पक इन्द्र ने प्रकृति भूत धात्वंश की कल्पना की थी। पाणिनीय प्रत्याहार सूत्रों[1] पर नन्दिकेश्वर विरचित काशिका (श्लोक २) की उपमन्युकृत तत्त्वविमर्शिनी टीका में लिखा है—

तथा चोक्तमिन्द्रेण—

अन्त्यवर्णसमुद्भूता धातवः परिकीर्तिताः।

इस श्लोक में इन्द्र प्रकल्पित धातुओं का स्पष्ट निर्देश होने से इन्द्र को धातुपाठ का प्रथम प्रवक्ता कह सकते हैं। इन्द्र प्रकल्पित धातुओं का क्या स्वरूप था, यह इस समय अज्ञात है।

इन्द्र के काल आदि के विषय में हम इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में विस्तार से लिख चुके हैं। अतः उसका यहाँ पुनः निर्देश करना पिष्टपेषण होगा।

२—वायु (८५०० वि० पू०)

तैत्तिरीय सं० ६।४।७ में लिखा है कि वाणी को व्याकृत करने में इन्द्र का शब्दशास्त्र-विशारद 'वायु' सहायक था। इन्द्र का धातु-प्रवक्तृत्व पूर्व दर्शा चुके, अतः उसके सहयोगी वायु का धातु-प्रवक्तृत्व भी सुतरां सिद्ध है।

वायु के काल आदि के विषय में भी पूर्व तृतीय अध्याय में लिख चुके हैं।

३—भागुरि (३१०० वि० पू०)

भागुरि आचार्य के श्लोक-बद्ध व्याकरण के पाँच श्लोक पूर्व पृष्ठ ७१ (प्र० सं०) पर उद्धृत कर चुके हैं। उनमें चतुर्थ और पञ्चम श्लोक इस प्रकार हैं—

---

१. प्रत्याहार सूत्र पाणिनि-प्रोक्त हैं, इसकी मीमांसा के लिए इसी ग्रन्थ का प्रथम भाग पृष्ठ १४५-१४८ (प्र० सं०) देखें।

गुपूधूपविच्छिपणिपनेराय: कमेस्तु णिङ् ।
ऋतेरियङ् चतुर्लेषु नित्यं स्वार्थे परत्र वा ॥ इति भागुरिस्मृतेः ।[1]
गुपो वधेश्च निन्दायां क्षमायां तथा तिजः ।
प्रतीकाराद्यर्थकाच्च कितः स्वार्थे सनो विधिः ॥ इति भागुरिस्मृतेः ।[2]

इन सूत्रों में अनेक धातुओं का उल्लेख मिलता है । गुपू में दीर्घ ऊकार अनुबन्ध का निर्देश भी स्पष्ट है । अतः भागुरि आचार्य ने स्वीय धातुपाठ का प्रवचन किया था, इसमें सन्देह का कोई अवसर ही नहीं है ।

भागुरि के काल आदि के विषय में पूर्व तृतीय अध्याय में विस्तार से लिख चुके हैं ।

४—काशकृत्स्न (३१०० वि० पू०)

आचार्य काशकृत्स्न-द्वारा प्रोक्त शब्दानुशासन के चार सूत्र और व्याकरण-शास्त्र सम्बन्धी एक मत हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ८४ (प्र० सं०) पर उद्धृत कर चुके हैं । उसमें प्रथम सूत्र है—

धातुः साधने दिशि पुरुषे चिति तदाख्यातम् ।

इस सूत्र से काशकृत्स्न प्रोक्त धातुपाठ की सम्भावना है, ऐसा हमारा पूर्व विचार था ।

धातुपाठ की उपलब्धि

बड़े सौभाग्य की बात है कि पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्य काशकृत्स्न का सम्पूर्ण धातुपाठ उपलब्ध हो गया ।[3] दक्खन कालेज पूना के सत्प्रयास से यह दुर्लभ ग्रन्थ चन्नवीर कृत कन्नड टीका सहित कन्नडलिपि में कुछ वर्ष पूर्व

---

१. जगदीश तर्कालंकारकृत शब्दशक्तिप्रकाशिका, पृ० ४४७ (चौखम्बा संस्करण) पर उद्धृत ।

२. पूर्ववत् शब्दशक्तिप्रकाशिका पृ० ४४७ ।

३. काशकृत्स्न धातुपाठ के विषय में हमने 'संस्कृत-रत्नाकर' वर्ष १७ अंक १२ में सर्वप्रथम लिखा था ।

प्रकाशित हो गया ।[1] इस धातुपाठ और कन्नडटीका में लगभग १३० काशकृत्स्न सूत्र उपलब्ध हो जाने से व्याकरण शास्त्र के पूर्वपाणिनीय इतिहास पर बहुत-सा नया प्रकाश पड़ा है ।

काशकृत्स्न के काल आदि के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ७८-८२ (प्र० सं०) पर लिख चुके हैं । परन्तु धातुपाठ और उसकी टीका के उपलब्ध हो जाने तथा काशकृत्स्न व्याकरण के १३० सूत्र प्राप्त हो जाने से काशकृत्स्न के विषय में जो कुछ नया प्रकाश पड़ा है, उसके लिए हमारा काशकृत्स्न व्याकरण और उसके उपलब्ध सूत्र निबन्ध देखना चाहिए ।[2]

धातुपाठ का नामान्तर

काशकृत्स्न धातुपाठ के मुख पृष्ठ पर काशकृत्स्न शब्दकलाप धातुपाठ नाम निर्दिष्ट है । इस से प्रतीत होता है कि 'शब्दकलाप' काशकृत्स्न धातुपाठ का नामान्तर है ।

शब्दकलाप नाम का कारण—इस ग्रन्थ के 'शब्दकलाप' नाम में क्या कारण है, इसका स्पष्टीकरण न टीकाकार ने किया है और न सम्पादक ने । हमारा अनुमान है—शब्दानां कलां धात्वंशं पाति रक्षति (शब्दों की धातुरूप कला = अंश की रक्षा करता है) व्युत्पत्ति से धातुपाठ का 'शब्द-कलाप' नाम उपपन्न हो सकता है । अथवा बृहत्तन्त्रात् कलाः पिबतीति कलापः,[3] शब्दानां कलापः शब्दकलापः (जो बड़े तन्त्र = शास्त्र से कलाओं = अंशों को पीता है[3] = ग्रहण करता है, वह कलाप, शब्दों का कलाप शब्दकलाप) व्युत्पत्ति से शब्दकलाप काशकृत्स्न व्याकरण का भी नामान्तर हो सकता है । द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार काशकृत्स्न व्याकरण किसी प्राचीन महाव्याकरण का संक्षेप प्रतीत होता है ।[4] काशकृत्स्न का संक्षेप कातन्त्र व्याकरण है । अतः कलाप शब्द से ह्रस्व अर्थ में 'क' प्रत्यय होकर

---

१. इसका एक संस्करण रोमन अक्षरों में भी अभी-अभी प्रकाशित हुआ है ।

२. इस निबन्ध का पूर्वार्ध 'साहित्य' (पटना) के वर्ष ९ अंक १, तथा उत्तरार्ध वर्ष १० अंक २ में प्रकाशित हुआ है । यह पृथक् भी छपा है ।

३. तुलना करो—बृहत्तन्त्रात् कलाः पिबतीति कलापकः = शास्त्रम् । द० उ० वृत्ति ३।५॥ हैम धातुपारायण (पृष्ठ ६) उणादि-विवरण (पृष्ठ १०) ॥

४. तुलना करो—'काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्' काशिका ४।३।११५; सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३।२४५ में निर्दिष्ट उदाहरण ।

कातन्त्र वाचक कलापक शब्द प्रसिद्ध होता है। हमारे विचार में दूसरी कल्पना अधिक युक्त है।

काशकृत्स्न धातुपाठ का वैशिष्ट्य

उपलब्ध काशकृत्स्न धातुपाठ में पाणिनीय धातुपाठ की अपेक्षा बहुत सी विशिष्टताएँ उपलब्ध होती हैं। उनमें कतिपय इस प्रकार हैं—

१—इस धातुपाठ में ९ नव ही गण हैं। जुहोत्यादि अदादि के अन्तर्गत है। वैयाकरण निकाय में प्रसिद्ध **नवगणी धातुपाठः** अनुश्रुति सम्भवतः एतन्मूलक है।

२—इस धातुपाठ में प्रत्येक गण में पहले सभी परस्मैपदी धातुएँ पढ़ी हैं, उसके पश्चात् आत्मनेपदी और अन्त में उभयपदी। पाणिनीय धातुपाठ में तीनों प्रकार की धातुओं का प्रतिवर्ग सांकर्य है।

३—इस धातुपाठ के भ्वादिगण में पाणिनीय धातुपाठ से ४५० धातुएँ संख्या में अधिक हैं (उत्तर गणों में प्रायः समानता है)। जो धातुएँ इसी धातुपाठ में उपलब्ध होती हैं, पाणिनीय में पठित नहीं हैं, ऐसी धातुओं की संख्या लगभग ८०० है। पाणिनीय धातुपाठ की भी बहुत सी धातुएँ काशकृत्स्न धातुपाठ में नहीं हैं। अतः संख्या की दृष्टि से साकल्येन ४५० धातुएँ पाणिनीय धातुपाठ की अपेक्षा अधिक हैं।

४—पाणिनीय धातुपाठ में एकविध पढ़ी गई बहुत सी धातुएँ काशकृत्स्न धातुपाठ में दो रूप से पठित हैं। यथा—

क—पाणिनीय धातुपाठ में पठित ईड स्तुतौ धातु काशकृत्स्न धातुपाठ में ईड ईल स्तुतौ (पृष्ठ १७०) इस प्रकार डान्त लान्त भेद से दो प्रकार की पढ़ी है। मूलतः द्विविध धातुओं से निष्पन्न होने वाले इडा इला आदि शब्दों की सिद्धि के लिए डान्त लान्त पृथक्-पृथक् धातु पठित होने पर डलयोरेकत्वम् आदि नियम-कल्पना की आवश्यकता ही नहीं रहती।

ख—बृहि वृद्धौ इस धातु की समानार्थक ब्रह धातु भी काशकृत्स्न धातुपाठ (पृष्ठ ६७) में पठित है।[1] इसलिए ब्रह्मन् शब्द की सिद्धि के लिए बृंहेर्नोऽच्च (पं० उ० ४।१५६; द० उ० ६।७४) सूत्र द्वारा नकार को अकारादेश

१. कन्नड टीका में 'दृहि बृहि बृह ब्रह वृद्धौ' इस धातुसूत्र में 'ब्रह' का पाठ करके भी व्याख्या में इसके रूप नहीं बताए। ब्रह्मन् शब्द की सिद्धि 'बर्हेरु रो मनि' (?) सूत्र द्वारा 'ऋ' को 'र' आदेश करके दर्शाई है। कन्नड टीका का पाठ बहुत्र भ्रष्ट है।

और ऋ को रेफादेश करने की आवश्यकता नहीं रहती। ब्रह् धातु से सामान्य सूत्र विहित मनिन् प्रत्यय से ही ब्रह्मन् शब्द निष्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार पृथृ व्याप्तौ स्वतन्त्र धातु का पाठ (पृष्ठ १५२) होने से पृथु पृथिवी आदि शब्दों के लिए प्रथ को सम्प्रसारणादेश[1] करने की आवश्यकता नहीं होती।

ग—सिंह सिंहिका आदि शब्दों की मूल प्रकृति षिहि हिंसायाम् धातु काशकृत्स्न धातुपाठ में पठित है[2] (पृष्ठ ६६)। इसलिए हिसि=हिंस में वर्णव्यत्यय (विपर्यय) मानकर निर्वचन दिखाने[3] की आवश्यकता नहीं रहती।

५—पाणिनि द्वारा अपठित, परन्तु लोक वेद में उपलभ्यमान बहुत सी धातुएँ काशकृत्स्न धातुपाठ में उपलब्ध होती हैं। यथा—

क—अथर्व की प्रकृति थर्व धातु[4] हिंसार्थ में पठित है पृष्ठ (३०)।

ख—हिन्दी में प्रयुक्त 'ढूँढना' क्रिया की मूल प्रकृति ढुढि (=ढुण्ढ) धातु का पाठ काशकृत्स्न धातुपाठ में उपलब्ध होता है (पृष्ठ २८)। इस धातु का निर्देश स्कन्दपुराण काशीखण्ड में भी मिलता है—

अन्वेषणे ढुण्ढिरयं प्रथितोऽस्ति धातुः।
सर्वार्थढुण्ढितया तव ढुण्ढिनाम॥

ग—वेद में मरति आदि भौवादिक प्रयोग बहुधा उपलब्ध होते हैं। हिन्दी में प्रयुज्यमान मरता है भी मरति का अपभ्रंश है, म्रियते का नहीं। काशकृत्स्न धातुपाठ में मृ धातु भ्वादिगण में भी पठित है (पृष्ठ ४१)।

६—पाणिनि ने जिन धातुओं को परस्मैपदी अथवा आत्मनेपदी पढ़ा है उनमें से बहुत सी धातुओं को काशकृत्स्न ने उभयपदी माना है। यथा—

---

१. प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च। द० उ० १।११३; पं० उ० १।२८॥ प्रथेः षिवन् सम्प्रसारणं च। द० उ० ८।१२४; पं० उ० १।१३६॥

काशकृत्स्न धातुपाठ की कन्नडटीका में पृथु-पृथवी-पृथ्वी शब्द भी 'पृथृ' धातु से निष्पन्न किए हैं।

२. हमारी नागराक्षर प्रति में यहाँ षिह् पाठ है। वह या तो प्रतिलिपि-जन्य अपपाठ है या कन्नडाक्षर मुद्रणजन्य।

३. हिंसेर्वा स्याद् विपरीतस्य। निरु० ३।१८॥ हिंसेः सिंहः। महाभाष्य 'हयवरट्' सूत्र तथा ३।१।१२३॥

४. तुलना करो—थर्वतिश्चरतिकर्मा। निरु० ११।१८॥ यहाँ अर्थभेद धातुओं के अनेकार्थक होने से उपपन्न होता है।

क—पाणिनि ने वद् धातु का परस्मैपदियों में पाठ करके भासन आदि अर्थ विशेषों में आत्मनेपद का विधान किया है।[1] काशकृत्स्न ने इसे उभयपदियों में पढ़ा है (पृष्ठ १६१)। तदनुसार वदति वदते दोनों प्रयोग भासनादि अर्थों से अतिरिक्त भी सामान्य रूप से उपपन्न हो जाते हैं। महाभारत में वद के आत्मनेपद प्रयोग बहुधा उपलब्ध होते हैं। उन्हें आर्षत्वात् साधु मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

ख—पाणिनि द्वारा परस्मैपदियों में पठित वस निवासे टुओश्वि गति-वृद्ध्योः धातुएँ भी काशकृत्स्न धातुपाठ में उभयपदी मानी गई हैं (पृ० १६१)।

७—काशकृत्स्न धातुपाठ में कई ऐसी मूलभूत प्रकृतियाँ पढ़ी हैं, जिनसे निष्पन्न शब्दों में पाणिनीय प्रक्रियावत् लोप आगम वर्णविकार आदि नहीं करने पड़ते। यथा—

'नौ' शब्द की सिद्धि पाणिनीय वैयाकरण ग्लानुदिभ्यां डौः (द० उ० २।१२; पं० उ० २।६५) सूत्र से दर्शाते हैं। प्रत्यय के डित् होने से नुद् में के उद् भाग का लोप होता है। परन्तु काशकृत्स्न धातुपाठ में णौ प्लवने स्वतन्त्र धातु पठित है (पृष्ठ ६७)। इससे 'क्विप्' प्रत्यय होकर विना किसी झंझट के 'नौ' शब्द निष्पन्न हो जाता है।

ख—'क्षमा' पद की सिद्धि के लिए क्षमूष् सहने धातु के उपधा का लोप करना पड़ता है, परन्तु काशकृत्स्न धातुपाठ में क्ष्मै धारणे स्वतन्त्र धातु पढ़ी है (पृष्ठ १०७)। उससे एजन्तों को सामान्यविहित आत्व होकर क्विप् प्रत्यय में क्ष्मा पद अनायास उपपन्न हो जाता है।

इस प्रकार काशकृत्स्न धातुपाठ में अनेक वैशिष्ट्य उपलब्ध होते हैं। यहाँ हमने दिङ्मात्र निदर्शित किए हैं।

धातुपाठ का प्रामाणिकत्व

पाश्चात्य विद्वानों का प्रायः यह स्वभाव है कि वे किसी ऐसे प्राचीन ग्रन्थ के, जिससे उनके द्वारा प्रचलित की गई भ्रान्त धारणाओं का खण्डन होता हो, अचानक उपलब्ध हो जाने पर उसे विना किसी प्रमाण के कूट ग्रन्थ कहने का दुस्साहस करते हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र और भास के नाटकों के अचानक उपलब्ध हो जाने पर पाश्चात्य विद्वानों ने इन ग्रन्थों को कूट ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए एड़ी से चोटी पर्यन्त बल लगाया। क्योंकि इन ग्रन्थों के द्वारा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रसारित कई मान्यताओं का निराकरण होता था।

---

१. अष्टा० १।३।४७–५०॥

काशकृत्स्न धातुपाठ भी ऐसा ही विशिष्ट ग्रन्थ है। इसकी उपलब्धि से जहाँ व्याकरण शास्त्र के इतिहास के विषय में नया प्रकाश पड़ता है, वहाँ इससे पाश्चात्य विद्वानों द्वारा अनेक भ्रान्त मतों का भी निराकरण होता है। पाश्चात्य तथाकथित भाषाविज्ञान के अनेक कल्पित मतों का खण्डन होता है। अतः इस ग्रन्थ पर भी उनकी क्रूर दृष्टि अवश्य पड़ेगी, और वे इसे कूट ग्रन्थ सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे। इसलिए हम इसकी प्रामाणिकता के साधक कतिपय प्रमाण उपस्थित करते हैं।

१—बौद्ध वैयाकरण चन्द्रगोमी का शब्दानुशासन प्रसिद्ध है। चन्द्रगोमी सूत्रपाठ में प्रायः पाणिनीय सूत्रपाठ तथा वार्तिकपाठ का अनुसरण करता है, परन्तु धातुपाठ में वह पाणिनीय धातुपाठ का अनुसरण नहीं करता। चन्द्राचार्य ने धातुपाठ में प्रतिगण प्रथम परस्मैपदी धातुएँ पढ़ी हैं, तत्पश्चात् आत्मनेपदी और अन्त में उभयपदी। काशकृत्स्न धातुपाठ की उपलब्धि से पूर्व मन में यह संशय रहता था कि चन्द्राचार्य ने धातुपाठ में अपना स्वतन्त्र नया क्रम रखा अथवा इसमें भी सूत्रपाठ के समान किसी प्राचीन धातुपाठ का अनुसरण किया। काशकृत्स्न धातुपाठ के उपलब्ध हो जाने पर यह निश्चय हो गया कि चन्द्रगोमी ने धातुपाठ में काशकृत्स्न धातुपाठ का प्राधान्य से अनुसरण किया है। इस समानता से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न धातुपाठ चन्द्रगोमी से पूर्व निश्चित रूप से विद्यमान था।

२—काशकृत्स्न और कातन्त्र[1] के धातुपाठों की तुलना करने से स्पष्ट है कि कातन्त्र धातुपाठ काशकृत्स्न धातुपाठ का ही संक्षेप है।[2] जहाँ चन्द्र-गोमी काशकृत्स्न क्रम को छोड़ कर पाणिनीय क्रम का अनुसरण करता है, वहाँ कातन्त्र धातुपाठ काशकृत्स्न क्रम का ही अनुगमन करता है। यथा—

---

१. कातन्त्र धातुपाठ के उपलब्ध न होने से लिबिश द्वारा क्षीरतरङ्गिणी के अन्त में प्रकाशित शर्ववर्मा के धातुपाठ के तिब्बती अनुवाद को देखकर हमने उसके मूल संस्कृत पाठ को ही कातन्त्र का धातुपाठ मान लिया था। परन्तु कातन्त्र धातुपाठ के एक हस्तलेख के अचानक उपलब्ध हो जाने से हमारी पूर्व मान्यता नष्ट हो गई। अब हमें इसके कई हस्तलेखों का परिज्ञान हो गया है। दो कोशों की प्रतिलिपियां हमारे पास भी हैं।

२. काशकृत्स्न के उपलब्ध सूत्रों की कातन्त्र सूत्रों से तुलना करने से भी यही मत पुष्ट होता है कि कातन्त्र काशकृत्स्न का संक्षेप है।

	काशकृत्स्न	कातन्त्र	पाणिनीय	चान्द्र
क—	दैङ् त्रैङ् पालने	दैङ् त्रैङ् पालने	देङ् रक्षणे	देङ् रक्षणे
	प्यैङ् वृद्धौ	प्यैङ् वृद्धौ	श्यैङ् गतौ	श्यैङ् गतौ
	पुङ् (?) पवने[1]	पूङ् पवने[2]	प्यैङ् वृद्धौ	प्यैङ् वृद्धौ
			त्रैङ् पालने	त्रैङ् पालने
			पूङ् पवने[3]	पूङ् पवने[4]
ख—	ग्लास्नावनु-वमश्वनकम्य-मिचमः ।[5]	ग्लास्नावनु-वमश्वनकम्य-मिचमः ।[6]	ग्लास्नावनु-वमां च । न कम्यमिचमाम् ।[7]	ग्लास्नावनुवमां च । न कम्य-मिचमाम् ।[8]

विशेष—यह भी ध्यान रहे कि काशकृत्स्न के धातुसूत्र के अनुसार श्वन कम अम चम धातुओं की णिच् प्रत्यय के परे रहने पर विकल्प से मित् संज्ञा होती है । तदनुसार श्वनयति श्वानयति, कमयति कामयति, अमयति आमयति, चमयति चामयति दो दो प्रकार के प्रयोग निष्पन्न होते हैं । पाणिनीय धातुसूत्रानुसार कम अम चम की मित्संज्ञा का प्रतिषेध होने से कामयति आमयति चामयति रूप ही सिद्ध होते हैं । श्वन धातु का तो पाणिनीय में पाठ ही नहीं है । अतः पाणिनीय वैयाकरण श्वन् प्रातिपदिक से तत् करोति तदाचष्टे नियम से णिच् करके प्रकृत्यैकाच् (अष्टा० ६।४।१६३) द्वारा प्रकृतिभाव करके श्वानयति रूप दर्शाते हैं । इतना ही नहीं, श्वन् धातु से अनायास सिद्ध होने वाले श्वन् प्रातिपदिक की निष्पत्ति पाणिनीय वैयाकरण श्वन्नुक्षन्[9] आदि सूत्र में निपातन द्वारा श्वि धातु के इकार का लोप करके दर्शाते हैं ।[10]

हमने कातन्त्र व्याकरण के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में (पृष्ठ २९ प्र. सं.) लिखा था कि कातन्त्र पाणिनि से पूर्ववर्ती किसी तन्त्र का संक्षेप है, यह विचार काशकृत्स्न धातुपाठ के उपलब्ध हो जाने पर पुष्ट हो गया ।

---

१. पृष्ठ १२७, १२८ ।
२. हमारा हस्तलेख, पृष्ठ ८ ।
३. क्षीरतरङ्गिणी १।६८६-६९१॥
४. धातुसूत्र १।४८१—४८५ ॥
५. पृष्ठ १४३ ।
६. हमारा हस्तलेख, पृष्ठ १०।
७. क्षीरतरङ्गिणी १।५५६,५५७॥
८. धातुसूत्र १।५५१,५५२॥
९. द० उ० ६।५५; पं० उ० १।१४६ ॥
१०. द्र० द० उ० वृत्ति, पृष्ठ २४२ ।

३—पाणिनि ने जिन-जिन धातुओं को छान्दस माना है,[1] उन्हें काशकृत्स्न धातुपाठ में अन्य समान्य धातुओं के समान पढ़ा है। इससे विदित होता है कि काशकृत्स्न प्रोक्त धातुपाठ का वह काल है, जब उक्त धातुएँ लोक में व्यवहृत थीं। यतः पाणिनि ने इन्हें छान्दस कहा है, अतः काशकृत्स्न धातुपाठ पाणिनि से पूर्ववर्ती है।

४—काशकृत्स्न के जो सूत्र उपलब्ध हुए हैं, उनमें जिस प्रकार उदात्त आदि स्वर की निष्पत्ति के लिए अनुबन्धों का पूर्ण ध्यान रखा गया है। उसी प्रकार तत्तद्गणों के विकरणों के अन् आदि अनुबन्धों में भी स्वर का ध्यान रखा गया है।

प्रत्ययों के अनुबन्ध-निर्देश में स्वर का ध्यान रखना, इस बात का प्रमाण है कि काशकृत्स्न शब्दानुशासन और धातुपाठ का प्रवचन-काल वह है, जब लोकभाषा में स्वर-निर्देश का प्रचलन था।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि काशकृत्स्न धातुपाठ आचार्य पाणिनि, चन्द्रगोमी और कातन्त्र-प्रवक्ता से प्राचीन है। अतः इसके प्रामाण्य पर उंगली उठाना दुःसाहस मात्र होगा।

व्याख्याकार चन्नवीर कवि

इस धातुपाठ पर जो टीका उपलब्ध हुई है वह चन्नवीर कवि कृत है। यह टीका कन्नड़ भाषा में है। चन्नवीर कवि कृत यह व्याख्या अत्यन्त संक्षिप्त है।

परिचय—इस ग्रन्थ के प्रत्येक गण के अन्त में टीकाकारने अपना परिचय दिया है। यथा—

इति श्री यागण्टिशरभलिङ्गप्रसादिर्नास्तित्तिरयजुःशाखाध्ययनस्य वामदेवमुखोद्भूतस्य गजकर्णपुत्रस्य अत्रिगोत्रस्य वीरमाहेश्वरतन्त्रसूत्रस्य शिवलंकमंचनपण्डिताराध्यप्रवरस्य कोकिलाकुण्डस्य संगनगुरुलिंगनंद्यस्वाकुमारस्य पितृव्यनम्व्यणगुरुकरजातस्य सह्याद्रीकटकषड्देशस्य कुण्टिकापुरस्य काशीकाण्डचन्नवीरकविकृतौ काशकृत्स्नधातुकर्नाटटीकायाम् आत्मनेपदिनः। लेखकपाठकश्रोतॄणां संस्कृतार्थप्रकाशिका भूयात्।

हमारी नागराक्षर प्रति में अनुलिखित उक्त पाठ कई स्थानों पर अशुद्ध है। पुनरपि इससे इतना व्यक्त हो जाता है कि चन्नवीर कवि का पूरा नाम

---

१. यथा—जुहोत्यादि में 'छन्दसि' सूत्र से 'घृ' आदि का छान्दसत्व, स्वादिगण में 'छन्दसि' सूत्र द्वारा 'अह' आदि का छान्दसत्व।

काशीकाण्ड चन्नवीर कवि था। यह अत्रिगोत्रोत्पन्न तैत्तिरीय शाखा का अध्येता और सह्याद्री मण्डलवर्ती कुण्टिकापुर का निवासी था।

काल—ग्रन्थ के सम्पादक ने श्री आर. नरसिंहाचार्य के मतानुसार चन्न-वीर कवि का काल १५०० लिखा है।

अन्य ग्रन्थ—चन्नवीर कवि ने सारस्वत व्याकरण, पुरुषसूक्त और नमक-चमक की कन्नडटीकाएँ लिखी हैं, ऐसा सम्पादक ने उपोद्घात में लिखा है।

व्याख्या का वैशिष्ट्य

यद्यपि यह व्याख्या अत्यन्त स्वल्पाक्षरा है, तथापि किसी प्राचीन व्याख्या पर आधृत होने से इसमें अनेक विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। यथा—

१—इस टीका में काशकृत्स्न व्याकरण के १३० सूत्र उद्धृत हैं।

२—इस व्याख्या में अनेक ऐसे कृदन्त शब्दों का निर्देश किया है, जिन्हें पाणिनीय वैयाकरण तद्धितान्त मानते हैं। यथा—चौर्यम् (पृष्ठ २५२)

हमने उन्नीसवें अध्याय में विस्तार से लिखा है कि अति पुराकाल में सम्पूर्ण नाम शब्द धातुज ही माने जाते थे। उत्तरोत्तर मतिमान्द्य से धात्वर्थ अनुगमन न होने पर उन शब्दों में सम्बन्धान्तर की कल्पना करके उन्हें तद्धितान्त बना दिया गया। यथा होमी शब्द। होमिन् औणादिक है। इसमें हु धातु से विहित 'क' प्रत्यय को 'मिन्' आदेश का निपातन किया है (द्र० द० उ० १०।७; पं० उ० ३।८०)। यास्क ने भी निरुक्त १।१४ में इसे कृदन्त लिखा है। परन्तु पाणिनीय वैयाकरण होमोऽस्यास्तीति होमी मत्वर्थक इनि-प्रत्ययान्त मानते हैं। पतञ्जलि ने भी कृदन्त वध्य शब्द के लिए हनो वा वध च, तद्धितो वा (३।१।९७) लिखकर वधमर्हति वध्यः व्युत्पत्ति दर्शाई है। द्राघिमा नेदिष्ठ आदि सम्प्रति तद्धितान्त समझे जाने वाले प्रयोग भी पुराकाल में कृदन्त माने जाते थे। क्षीरस्वामी लिखता है—

द्राघिमादयः कस्मिंश्चिद् व्याकरणे धातोरेव साधिताः, एवं नेदिष्ठा-दयो नेदत्यादेः। क्षीरतरङ्गिणी १।८०; पृष्ठ ३१।

३—पाणिनीय मतानुसार यत्, क्यप्, ण्यत् प्रत्यय विशिष्ट धातुओं से व्यवस्थित रूप में होते हैं। यथा—अजन्तों से यत्, इण् आदि परिगणित धातुओं से क्यप्, ऋवर्णान्त और हलन्तों से ण्यत्।

चन्नवीर कवि ने अपनी व्याख्या में अनेक स्थानों पर कृदन्त शब्दों का जिस प्रकार निर्देश किया है, उससे प्रतीत होता है कि यत् क्यप् ण्यत प्रत्यय तव्यत् आदि के समान सामान्य हैं, सब धातुओं से होते हैं। यथा—

रभ—रभ्यम् राभ्यम् । पृष्ठ १३० ।
लभ—लभ्यम् लाभ्यम् । पृष्ठ० १३० ।
रुच—रुच्यम् रौच्यम् । पृष्ठ १३० ।
मिद—मेद्यम् मैद्यम् । पृष्ठ १३१ ।
घुट—घुट्यम् , घोट्यम् , घौट्यम् । पृष्ठ १३१ ।

इनमें प्रथम दो धातुओं के यत् और ण्यत् प्रत्यय के रूप दर्शाए हैं। पाणिनीय मतानुसार पोरदुपधात् (अष्टा० ३।१।९८) नियम से यत् ही होगा, ण्यत् नहीं । तृतीय धातु के क्यप् और ण्यत् के रूप लिखे हैं। पाणिनीय मतानुसार (अष्टा० ३।१।११४) रुच्य में कर्ता में क्यप् निपातित है । भावकर्म में यत् ही होता है । ण्यत् की प्राप्ति तो कथंचित् भी सम्भव नहीं । मिद धातु के यत् और ण्यत् के रूप उद्धृत किए हैं। पाणिनीय मत में मिद से यत् नहीं होता । घुट धातु के क्रमशः क्यप् , यत् , ण्यत् तीनों प्रत्ययों के रूप दर्शाए हैं। पाणिनीय मतानुसार केवल ण्यत् ही होना चाहिए ।

४—इस टीका में अनेक धातुओं के अर्थों की ऐसी व्याख्या की है जो अन्य धातुवृत्तियों में उपलब्ध नहीं होती ।

काशकृत्स्न धातुपाठ और उसकी कन्नड टीका का संस्कृत रूपान्तर हम शीघ्र ही प्रकाशित करेंगे ।

हमने इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में पाणिनीय तन्त्र में अनुल्लिखित पाणिनि से पूर्ववर्ती जिन तेईस वैयाकरणों का वर्णन किया है, उनमें से उपरिनिर्दिष्ट केवल चार आचार्यों का ही धातुपाठ-प्रवक्तृत्व सुज्ञात है ।

५—शाकटायन (३००० वि० पू०)

वैदिक वाङ्मय तथा वैयाकरण-निकाय में प्रसिद्ध है कि आचार्य शाकटायन सम्पूर्ण नामशब्दों को धातुज मानता था । यास्क निरुक्त १।१२ में लिखता है—

तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च ।

अर्थात्—सब नाम आख्यातज (धातु से उत्पन्न) हैं, ऐसा शाकटायन मानता है और यही नैरुक्त आचार्यों का सिद्धान्त है ।

महाभाष्य ३।३।१ में भी लिखा है—

व्याकरणे शकटस्य च तोकम् । वैयाकरणानां च शाकटायन आह—धातुजं नामेति ।

अर्थात्—वैयाकरणों में शकट-पुत्र शाकटायन कहता है कि 'नाम धातु से निष्पन्न हैं'।

इतना ही नहीं, यास्क शाकटायन के शब्द-निर्वचन-प्रकार पर किये गये आक्षेप का भी उत्तर देते हुए लिखता है—

सैषा पुरुषगर्हा, न शास्त्रगर्हा ।१।१४॥

अर्थात्—यह पुरुष की निन्दा है [जो शाकटायन के निर्वचन-प्रकार को नहीं समझता। शाकटायन प्रोक्त] शास्त्र की गर्हा नहीं है, अर्थात् शाकटायन का शास्त्र अथवा निर्वचन-प्रकार युक्त है।

इसीके उपोद्बलक काशिका १।४।८६,८७ में दो उदाहरण हैं—

अनुशाकटायनं वैयाकरणाः।
उपशाकटायनं वैयाकरणाः।

अर्थात्—सब वैयाकरण शाकटायन के नीचे हैं।

यदि यास्क के उक्त वाक्य में शाकटायन की निन्दा अभिप्रेत होती जैसा कि स्कन्दस्वामी ने पक्षान्तर में लिखा है, तो वैयाकरण-निकाय और नैरुक्त-सम्प्रदाय में शाकटायन की इतनी प्रशंसा न होती।

यद्यपि शाकटायन-प्रोक्त धातुपाठ के साक्षात् उद्धरण प्राचीन ग्रन्थों में हमें नहीं मिले, तथापि यास्क और पतञ्जलि के उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण नामशब्दों को आख्यातज = धातुज मानने वाले वैयाकरणमूर्धन्य शाकटायन ने धातुपाठ का प्रवचन भी अवश्य किया था। अन्यथा सम्पूर्ण नामशब्दों के धातुजत्व का प्रतिपादन करने में वह कभी समर्थ न होता। इस से यह भी सुव्यक्त है कि शाकटायन ने जिस धातुपाठ का प्रवचन किया था, वह पाणिनीय धातुपाठ की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत रहा होगा।

आचार्य शाकटायन के काल आदि के विषय में हम पूर्व चतुर्थ अध्याय में विस्तार से लिख चुके हैं, अतः उसके यहाँ पुनः पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं है।

६—आपिशलि (२९०० वि० पू०)

यद्यपि आचार्य आपिशलि का धातुपाठ सम्प्रति उपलब्ध नहीं है, तथापि उसके धातुपाठ के उद्धरण अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। यथा—

१—महाभाष्य १।३।२२ में निम्न उदाहरण हैं—

अस्तिं सकारमातिष्ठते। आगमौ गुणवृद्धी आतिष्ठते।

ये उदाहरण काशिका १।३।२२ में भी उपलब्ध होते हैं। इनके विषय में न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि लिखता है—

सकारमात्रमस्ति धातुमापिशालिराचार्यः प्रतिजानीते। तथाहि न तस्य पाणिनेरिव 'अस भुवि' इति गणपाठः। किं तर्हि ? 'स भुवि' इति स पठति। आगमौ गुणवृद्धी आतिष्ठत इति। स त्वागमौ गुणवृद्धी आतिष्ठते। एवं हि स प्रतिजानीते इत्यर्थः।

अर्थात्—आपिशलि आचार्य 'अस' धातु को 'स' मात्र स्वीकार करता है। उसका पाणिनि के समान 'अस भुवि' पाठ नहीं है, अपि तु 'स भुवि' ऐसा वह पढ़ता है। [अस्ति आदि में] गुण (=अट्) और [आसीत् आदि में] वृद्धि (=आट्) का आगम मानता है। इस प्रकार वह [रूपसिद्धि] स्वीकार करता है।

काशिका के उक्त पाठ पर हरदत्त भी लिखता है—

स्तः सन्तीत्यादौ सकारमात्रस्य दर्शनात् 'स भुवि' इत्येव धातुः पाठ्यः। अस्तीत्यादौ पिति सार्वधातुके अडागमो विधेयः। आस्तामासन्नित्यादौ आडागमः स्याद् इत्यापिशला मन्यन्ते।

अर्थात्—'स्तः सन्ति' आदि में सकारमात्र दिखाई पड़ने से 'स भुवि' ऐसा ही धातु पढ़ना चाहिए। अस्ति आदि में अट् और आस्ताम्, आसन् आदि में आट् आगम का विधान करना चाहिए, ऐसा आपिशलिप्रोक्त शास्त्र के अध्येता मानते हैं।

२—स्कन्दस्वामी निरुक्त-व्याख्या २।२ में लिखता है—

उषिजिघर्ती छान्दसौ धातू व्याकरणस्य शाखान्तर आपिशलादौ स्मरणात्।

अर्थात्—'उष' और 'घृ' ये छान्दस धातुएँ हैं, ऐसा व्याकरण-शास्त्र के शाखान्तर आपिशल आदि में स्मृत है।

३—वामन काशिका ७।१।१० में अनिट् कारिका की व्याख्या में लिखता है—

क—इतरौ (रिहिलिही) तु धातुषु न पठ्येते, कैश्चिदभ्युपगम्येते।

इस पर न्यासकार लिखता है—

कैश्चिदिति–आपिशलिप्रभृतिभिरिति। पृष्ठ ६९८।

ख—तन्त्रान्तरे चत्वारोऽपरे पठ्यन्ते–सहिमुहिरिहिलिहयः।

इस पर न्यासकार ने लिखा है—

तन्त्रान्तर इति–आपिशलेर्व्याकरणे। पृष्ठ ६९८।

ग—तथा च तन्त्रान्तरे निजिविजिष्वञ्जिवर्जम् इत्युक्तम्।

इस पर भी न्यासकार ने लिखा है—

तन्त्रान्तर इति–आपिशलिव्याकरणे। पृष्ठ ७०१।

इन तीन पाठों में से प्रथम दो पाठ साक्षात् धातुपाठ-विषयक हैं। अन्तिम पाठ सम्भवतः अनुदात्त-धातु-निर्देशक पाठ का अवयव है।

४—पाणिनीय धातुपाठ का व्याख्याता मैत्रेयरक्षित 'तु' के विषय में लिखता है—

छान्दसोऽयमित्यापिशलिः। धातुप्रदीप, पृष्ठ ८०।

उपर्युक्त उद्धरणों से आपिशल धातुपाठ के विषय में निम्न बातें स्पष्ट होती हैं—

१—आपिशलि आचार्य ने किसी धातुपाठ का प्रवचन अवश्य किया था।

२—आपिशलि के धातुपाठ में कई धातुओं का स्वरूप पाणिनीय पाठ से भिन्न था।

३—धातु के स्वरूप में भिन्नता होने से आपिशल व्याकरण की प्रक्रिया में भी कुछ भेद था।

४—आपिशल धातुपाठ में पाणिनीय धातुपाठ के समान छान्दस धातुओं का भी पाठ था।

५—आपिशल धातुपाठ में बहुत-सी धातुएँ पाणिनीय पाठ से अधिक थीं।

आपिशलि आचार्य के काल आदि के विषय में हम पूर्व चतुर्थ अध्याय में विस्तार से लिख चुके हैं।

पाणिनि ने अपने तन्त्र में जिन दस प्राचीन आचार्यों के मतों का निर्देश किया है, उनमें से केवल आपिशलि आचार्य ही ऐसा है, जिसका धातुपाठ-प्रवक्तृत्व प्राचीन ग्रन्थों में साक्षात् निर्दिष्ट है।

इस प्रकार पाणिनि से पूर्ववर्त्ती परिज्ञात २३ वैयाकरणों में से केवल ६ आचार्य ही ऐसे हैं, जिनका धातुपाठ-प्रवक्तृत्व सुविदित है। यद्यपि इन्द्र और वायु के धातुपाठ के उद्धरण प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलते, पुनरपि इनके शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय अंश के प्रथम प्रकल्पक होने से इनका धातुपाठ का प्रवक्तृत्व स्वतःसिद्ध है, क्योंकि विना धातुसंग्रह के प्रकृति-प्रत्यय अंश की कल्पना हो ही नहीं सकती। आचार्य भागुरि के उपलब्ध सूत्रों में कतिपय धातुओं और

गुपू में विशिष्ट अनुबन्ध का निर्देश होने से भागुरि ने धातुपाठ का प्रवचन किया था, ऐसा निश्चित रूप से कहा जा सकता है। सम्पूर्ण नामशब्दों को धातुज मानने वाले शाकटायन के धातुपाठ-प्रवक्तृत्व में भी सन्देह को कोई स्थान नहीं है। आपिशल धातुपाठ के उद्धरण कई ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। अतः उसका धातुपाठ किसी समय लोक में प्रचलित था, यह स्पष्ट है। काशकृत्स्न का धातुपाठ तो कन्नड-टीकासहित प्रकाश में आ ही चुका है। इस प्रकार पाणिनिपूर्ववर्त्ती धातुपाठों में केवल काशकृत्स्न का धातुपाठ ही इस समय हमें उपलब्ध है।

इस अध्याय में पाणिनि से पूर्ववर्ती परिज्ञात धातुपाठ-प्रवक्ता आचार्यों का निर्देश करके अगले अध्याय में पाणिनीय धातुपाठ और उसके वृत्तिकारों का वर्णन करेंगे।

इक्कीसवां अध्याय

धातुपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता

(पाणिनि तथा तत्प्रोक्त धातुपाठ के वृत्तिकार)

६—पाणिनि (२८०० वि० पू०)

सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में आचार्य पाणिनि का शब्दानुशासन ही एकमात्र ऐसा आर्ष-तन्त्र है जो अपने पांचों अवयवों सहित उपलब्ध है। इसलिए पाणिनीय तन्त्र का महत्त्व अत्यधिक है। इतना ही नहीं, उत्तरवर्ती प्रायः सभी वैयाकरण इस शास्त्र के सम्मुख नतमस्तक हैं। उनका प्रधान उपजीव्य एकमात्र यही तन्त्र है।

पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन की कृत्स्नता के लिए सूत्रपाठ के साथ जिन अङ्गों का प्रवचन किया, उन में धातुपाठ प्रधान है। पाणिनि ने स्वप्रोक्त धातुपाठ के अनुकूल ही सूत्रपाठ का प्रवचन किया। यह दोनों की तुलना से स्पष्ट है। पाणिनीय वैयाकरणों में जिस धातुपाठ का पठन-पाठन प्रचलित है वह पाणिनिप्रोक्त है, ऐसा प्रायः सभी वैयाकरणों का मत है।

धातुपाठ के पाणिनीयत्व पर आक्षेप

न्यासकार का आक्षेप—पाणिनीय वैयाकरणों में काशिका का व्याख्याता जिनेन्द्रबुद्धि ही ऐसा व्यक्ति है जो धातुपाठ को पाणिनिप्रोक्त नहीं मानता। वह लिखता है—

१—प्रतिपादितं हि पूर्वं गणकारः पाणिनिर्न भवतीति। तथा चान्यो गणकारोऽन्यश्च सूत्रकारः। ७।४।३; भाग २; पृष्ठ ८४०।

अर्थात्—पहले प्रतिपादन कर चुके हैं कि गणकार (=धातुगणकार) पाणिनि नहीं है। अन्य गणकार (=धातुपाठप्रवक्ता) है और अन्य सूत्रकार।

२—यद्यत्र त्रिग्रहणं क्रियते निजादीनामन्ते वृत्करणं किमर्थम्? एतत् गणकारः प्रष्टव्यः, न सूत्रकारः। अन्यो हि गणकारोऽन्यश्च सूत्रकार इत्युक्तं प्राक्।७।५।७५; भाग २; पृष्ठ ८७३।

अर्थात्—यदि यहाँ (निजां त्रयाणां गुणः श्लौ ७।४।७५ सूत्र में) 'त्रि' ग्रहण किया है, तो [धातुपाठ में] निजादियों के अन्त में [समाप्त्यर्थद्योतक] वृत्करण का क्या प्रयोजन है ? [उत्तर—] यह गणकार (=धातुपाठ-प्रवक्ता) से पूछना चाहिए, सूत्रकार से नहीं । अन्य ही गणकार है, अन्य सूत्रकार यह पहले कह चुके ।

यहाँ न्यासकार ने स्पष्ट ही धातुपाठ के पाणिनीय प्रवचन का प्रत्याख्यान किया है ।

विशेष—इन दोनों उद्धरणों में न्यासकार ने 'धातुपाठ-प्रवक्ता सूत्रकार पाणिनि नहीं हो सकता यह पूर्व कह चुके' लिखा है, परन्तु हमें सम्पूर्ण न्यास में इन दोनों उद्धरणों से पूर्व कहीं पर भी पाणिनि के धातुपाठ-प्रवक्तृत्व का प्रतिषेधक वचन नहीं मिला । हाँ, प्रातिपदिक गण (गणपाठ) के अपाणिनीयत्व-प्रतिपादक वचन तो पूर्वत्र उपलब्ध होता है । हो सकता है, न्यासकार ने गण शब्द से सामान्यतया धातुगण और प्रातिपदिक गण दोनों का निर्देश किया हो ।

न्यासकार का स्ववचन-विरोध—हमने न्यासकार के दो वचन ऊपर उद्धृत किए हैं, जिनसे स्पष्ट है कि वह धातुपाठ को पाणिनि-प्रोक्त नहीं मानता । अब हम उसका एक ऐसा वचन उद्धृत करते हैं, जिसमें उसने धातुपाठ को पाणिनि का प्रवचन स्वीकार किया है । यथा—

न तस्य पाणिनेरिव 'अस भुवि' इति गणपाठः । १।३।२२; भाग १, पृष्ठ २२६ ।

अर्थात्—उस (= आपिशलि) का पाणिनि के समान 'अस भुवि' ऐसा गण का पाठ नहीं है ।

इस उद्धरण में जिनेन्द्रबुद्धि ने स्पष्ट ही आपिशलि के समान पाणिनि को भी गणकार (=धातुपाठ-प्रवक्ता) स्वीकार किया है । न्यायशास्त्रानुसार इस स्ववचन-विरोध के कारण न्यासकार के निग्रह स्थान में आ जाने से उसका वचन किसी तत्त्व के निर्णय में प्रमाण नहीं हो सकता ।

न्यासकार की भ्रान्ति—न्यासकार ने धातुपाठ के अपाणिनीयत्व-प्रतिपादन में जो दो हेतु दिए हैं, वे वस्तुतः हेत्वाभास हैं । अपि च, न्यासकार के उपर्युक्त वचनों से प्रतीत होता है कि वह कृत और प्रोक्त ग्रन्थों में जो भेद है, उसे भली प्रकार नहीं जानता । उसने अष्टाध्यायी और धातुपाठ को पाणिनि

के कृत-ग्रन्थ मानकर आलोचना की है। यदि कृत-ग्रन्थ मानकर केवल अष्टाध्यायी की भी आलोचना की जाए तो अष्टाध्यायी में भी अनेक स्थानों में विरोध दिखाई पड़ता है। यथा—

१—औङ आपः (७।१।१८) सूत्र में 'औङ्' पद से औ—औट् प्रत्ययों का ग्रहण अभिप्रेत है। परन्तु पाणिनि ने सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में कहीं पर भी 'औ—औट्' की औङ् संज्ञा नहीं कही।

२—आङि चापः, आङो नाऽस्त्रियाम् (७।३।१०५,१२०) सूत्रों में आङ् पद से तृतीया के एकवचन टा का निर्देश अभिप्रेत है। पाणिनि ने कहीं पर भी 'टा' का आङ्' संकेत नहीं किया।

इसी प्रकार अनेक स्थानों में अष्टाध्यायी में पारस्परिक विरोध उपस्थित किये जा सकते हैं। यदि अष्टाध्यायी के इन विरोधों का परिहार पूर्वसूत्र-निर्देश[1] हेतु द्वारा किया जा सकता है, तो इसी हेतु से अष्टाध्यायी और धातुपाठ के पारस्परिक विरोधों का परिहार क्यों न किया जाए? वस्तुतः पूर्वसूत्र-निर्देश हेतु ही अष्टाध्यायी पाणिनि का कृत ग्रन्थ नहीं है अपि तु प्रोक्त ग्रन्थ है, का प्रतिपादक है।

कृत और प्रोक्त में भेद—वैयाकरणों ने सम्पूर्ण वाङ्मय को दृष्ट-प्रोक्त-उपज्ञात-कृत-व्याख्यान इन पाँच विभागों में बांटा है[2]। इसीलिये पाणिनि ने तेन प्रोक्तम् (४।३।१०१) कृते ग्रन्थे (४।३।११६) सूत्रों में कृत और प्रोक्त ग्रन्थों का भेद से निर्देश किया है।

कृत ग्रन्थों में ग्रन्थ की सम्पूर्ण वर्णानुपूर्वी उस ग्रन्थ के रचयिता द्वारा ही ग्रथित होती है, परन्तु प्रोक्त ग्रन्थों की सम्पूर्ण वर्णानुपूर्वी उस ग्रन्थ के प्रवक्ता द्वारा ग्रथित नहीं होती। प्रवक्ता लोग पूर्वतः विद्यमान शास्त्र के परिष्कारक मात्र होते हैं, सम्पूर्ण वर्णानुपूर्वी के रचयिता नहीं होते। प्रोक्त ग्रन्थों में प्रवक्ता का स्वोपज्ञ अंश और स्वीय वर्णानुपूर्वी स्वल्पमात्रा में होती है। इस प्रकार के प्रोक्त-विभाग को ही आयुर्वेदीय चरक संहिता में संस्कृत पद से कहा गया है। चरक में संस्कृत का लक्षण इस प्रकार दर्शाया है—

---

१. निर्देशोऽयं पूर्वसूत्रेण वा स्यात्। महा० ७।१।१८। इसी प्रकार अन्यत्र १।२।६८॥ ५।१।१४॥ ६।१।१६३॥ ८।४।७ आदि में भी पूर्वसूत्रनिर्देश दर्शाया है।

२. यथाक्रम— ४।२।७॥ ४।३।१०१॥ ४।३।११५॥ ४।३।७७,११६॥ ४।३।६६॥

विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम् ।
संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम् ॥
अतस्तन्त्रोत्तममिदं चरकेणातिबुद्धिना ।
संस्कृतं तत्........................॥ सिद्धि० १२।६६,६७ ॥

वस्तुतः संस्कृत वाङ्मय की स्थिति यह है कि उसके जितने भी मूलभूत शास्त्रपद अलङ्कृत ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध होते हैं वे सब प्रोक्त ग्रन्थ हैं, कृत नहीं । अष्टाध्यायी और धातुपाठ भी पाणिनि के प्रोक्त ग्रन्थ हैं । सभी वैयाकरण पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयं शब्दानुशासनम् प्रयोग करते है न कि पाणिनिना कृतम् । यतः प्रोक्त ग्रन्थों में बहुत-सी वर्णानुपूर्वी अथवा बहुत-सा अंश पूर्व ग्रन्थ अथवा ग्रन्थों का होता है और कुछ अंश प्रवक्ता का अपना भी होता है । इसलिए प्रायः सभी प्रोक्त ग्रन्थों में कहीं-कहीं पर परस्पर विरोध और आनर्थक्य दिखाई पड़ता है । प्रोक्त ग्रन्थों के इस विरोध और आनर्थक्य का समाधान पूर्वाचार्य पूर्वसूत्रनिर्देश हेतु द्वारा करते हैं । यही समाधान का राजमार्ग अष्टाध्यायी और धातुपाठ के विरोधपरिहार के लिए युक्त है । प्रोक्त ग्रन्थों में विरोध-दर्शन मात्र से भिन्न कर्तृकत्व की कल्पना करना अन्याय्य है ।

भ्रान्तिका अन्य कारण—पाणिनीय धातुपाठ का जो पाठ सम्प्रति उपलब्ध होता है, वह आज उसी रूप में नहीं मिलता जैसा उसका पाणिनि ने प्रवचन किया था । उसके पाठ का बहुत बार परिष्कार हो चुका है । (इस विषय में आगे विस्तार से लिखेंगे) । अतः उत्तरवर्ती परिष्कृत पाठ के आधार पर मूल ग्रन्थ के विषय में जो भी आलोचना की जाएगी, वह युक्त न होगी । इस दृष्टि से भी यह चिन्तनीय है कि धातुपाठ के जिन अंशों के कारण न्यासकार ने अष्टाध्यायी के साथ विरोध दर्शाया, वे अंश मूल ग्रन्थ के ही हैं, अथवा उत्तरवर्ती परिष्कार के कारण सन्निविष्ट हुए हैं ।

अब हम धातुपाठ के पाणिनीयत्व में कतिपय प्रमाण उपस्थित करते हैं—

धातुपाठ के पाणिनीयत्व में प्रमाण

भगवान् पाणिनि ने शब्दानुशासन का प्रवचन करते हुए भूवादयो धातवः (१।३।१) सूत्र-विज्ञापित खिलरूप धातुपाठ का भी प्रवचन किया था, इसमें अनेक प्रमाण हैं । यथा—

१—पाणिनि ने पुषादिद्युताद्य्लृदितः परस्मैपदेषु (३।१।५५) किरश्च पञ्चभ्यः (७।२।७५) शमामष्टानां दीर्घः श्यनि (७।३।७४) इत्यादि

अनेक सूत्रों में धातुपाठ अन्तर्गत धात्वनुपूर्वी को ध्यान में रखकर तत्तत् कार्यों का विधान किया है। इसी प्रकार धातुपाठस्थ धात्वनुबन्धों के द्वारा अपने शब्दानुशासन में अनेक कार्य दर्शाए हैं। यथा—

अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२) स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (१।३।७२) ड्वितः क्त्रिः (३।३।८८) ट्वितोऽथुच् (३।३।८९)।

सूत्रपाठ में स्मृत धात्वनुपूर्वी और धातुपाठस्थ अनुबन्धों के द्वारा तत्तत् कार्यविधान से स्पष्ट है कि जैसे पाणिनि ने सूत्रपाठ से पूर्व सर्वादि प्रातिपदिक गण का प्रवचन किया, उसी प्रकार धातुपाठ का भी सूत्रपाठ से पूर्व प्रवचन अथवा संग्रथन किया, क्योंकि विना धातुपाठ और धातुसंबद्ध अनुबन्धों के पूर्व प्रवचन के सूत्रपाठ का प्रवचन कथंचित् भी नहीं हो सकता।

महाभाष्यकार पतञ्जलि धातुपाठ को पाणिनि का ही प्रवचन मानते हैं, यह महाभाष्य के अनेक पाठों से अभिव्यक्त होता है। यथा—

२—एवं तर्हि सिद्धे सति यदादिग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः अस्ति च पाठो बाह्यश्च सूत्रात्। महा० १।३।१॥

अर्थात्—इस प्रकार सिद्ध होने पर सूत्रकार ने जो आदि ग्रहण किया है, उससे आचार्य बताते हैं कि धातुओं का पाठ है, और वह सूत्रपाठ से बाहर (पृथक्) है।

इस वचन से स्पष्ट है कि भगवान् पतञ्जलि सूत्रपाठ के समान धातुपाठ को भी पाणिनीय मानते हैं।

३—अथवा आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नैवं जातीयकानामिद्विधिर्भवतीति यदयमिरितः कांश्चिन्नुमनुषक्तान् पठति—उबुन्दिर् निशामने, स्कन्दिर् गतिशोषणयोः। महा० १।३।७॥

अर्थात्—आचार्य की प्रवृत्ति (=व्यवहार) बताता है कि इस प्रकार की धातुओं में [इकार की] इत्संज्ञा नहीं होती, जो वह किन्हीं 'इरित्' धातुओं को नुम् से युक्त पढ़ता है। यथा—उबुन्दिर्, स्कन्दिर्।

महाभाष्यकार आचार्य पद का व्यवहार पाणिनि तथा कात्यायन के लिए ही करते हैं। इस वाक्य में आचार्य पद से कात्यायन का निर्देश किसी प्रकार नहीं हो सकता। अतः यहाँ आचार्य पद पाणिनि के लिए ही प्रयुक्त हुआ है, यह स्पष्ट है।

उक्त वाक्य में जो आचार्य ज्ञापयति क्रिया का कर्त्ता है, वही पठति (धातुपाठ को पढ़ता है) क्रिया का भी कर्त्ता है। इस वाक्यरचना से स्पष्ट है कि पाणिनि ही ज्ञापन करता है और वही नुम्-युक्त उबुन्दिर् आदि धातुओं को पढ़ता है। यह पाठ निश्चय ही धातुपाठान्तर्गत है।

४—तथाजातीयकाः खल्वाचार्येण स्वरितञितः पठिता य उभयवन्तः, येषां कर्त्रभिप्रायं चाकर्त्रभिप्रायं च क्रियाफलमस्ति। महा० १।३।७२॥

अर्थात्—उसी प्रकार की धातुओं को आचार्य ने स्वरित और ञित् पढ़ा है जो उभयरूप हैं, अर्थात् जिनका क्रियाफल कर्तृगामी और अकर्तृगामी उभयथा है।

यहाँ पर भी आचार्य पाणिनि को ही स्वरित और ञित् धातुओं का पाठकर्त्ता कहा है। यह व्यक्त है। यह पाठ धातुपाठ में ही है।

५—कृतमनयोः साधुत्वम्। कथम्? वृधिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः प्रकृतिपाठे। तस्मात् क्तिन्······। महा० १।१।१॥

अर्थात्—वृद्धि और आदैच् के साधुत्व का प्रतिपादन कर दिया [पाणिनि ने]। कैसे? 'वृध' धातु सामान्यरूप से उपदिष्ट की गई है प्रकृति-पाठ (= धातुपाठ) में, उससे 'क्तिन्' प्रत्यय······।

यहाँ पर भाष्यकार ने साक्षात् प्रकृतिपाठ अर्थात् धातुपाठ में पणिनि द्वारा वृध धातु का उपदेश स्वीकार किया है।

६—मृजिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः। महा० १।१।१॥

अर्थात्—मृज धातु का सामान्य रूप से उपदेश किया है।

इस पर छाया-व्याख्याकार वैद्यनाथ पायगुण्ड लिखता है—

७—पाणिनिना प्रत्ययविशेषानाश्रयेण 'मृजूष् शुद्धौ' इति धातुपाठ उपदिष्ट इत्यर्थः।

अर्थात्—पाणिनि ने किसी प्रत्ययविशेष का आश्रयण न करके 'मृजूष शुद्धौ' धातु का धातुपाठ में उपदेश किया है।

८—पदमञ्जरीकार हरदत्त लिखता है—

यत्राचार्याःस्मरन्ति तत्रैव सूत्रकारेण तावद्विवक्षिताः सर्वेऽनुनासिका पठिताः 'डुलभँष् प्राप्तौ' इति वत्। लेखकैस्तु संकीर्णं पठिताः। भाग १, पृष्ठ २१४॥

अर्थात्—जहाँ व्याख्याता लोग अनुनासिक मानते हैं, वहाँ सूत्रकार ने विवक्षित सारे अनुनासिक 'डुलभँष् प्राप्तौ'[1] के समान पढ़े थे। लेखकों ने संकीर्णरूप से पढ़ दिया अर्थात् निरनुनासिकों के साथ सानुनासिकों को भी निरनुनासिक रूप से पढ़ दिया।

९—पाणिनीय वैयाकरण सूत्रपाठ के समान धातुपाठ को भी पाणिनीय मानकर धातुपाठस्थ प्रयोगों के आधार पर अनेक प्रयोगों के साधुत्व का विधान करते हैं। यथा—

क—कथमुद्यमोपरमौ ? अड उद्यमने (क्षीरत० १।२४९), यम उपरमे (क्षीरत० १।७११) इति निपातनादनुगन्तव्यौ। काशिका ७।३।३४॥

अर्थात्—उद्यम, उपरम प्रयोग कैसे बनेंगे ? 'अड उद्यमने' और 'यम उपरमे' पाठ में निपातन से वृद्धि का अभाव जानना चाहिए।

ख—धू विधूनने (क्षीरत० ६।९८), तृप प्रीणने (क्षीरत० पृ० ३०७ टि० ३) इति निपातनादनयोर्नुग्भविष्यति। न्यास भाग २, पृष्ठ ७९२।

अर्थात्—धातुपाठ में 'धू विधूनने' और 'तृप प्रीणने' में विधूनन तथा प्रीणन पदों के पाठसामर्थ्य से 'नुक्' का आगम हो जाएगा।

ग—'व्याजीकरणे' लिङ्गाद् घञि कुत्वाभावः—व्याजः। क्षीरत० ६।१६॥

अर्थात्—'व्याज' शब्द में 'घञ्' प्रत्यय में कुत्व होना चाहिए, वह 'व्यज व्याजीकरणे' (क्षीरत० ६।१६) पाठ में 'व्याज' पद-निर्देश से नहीं होता, ऐसा जानना चाहिए।

घ—शुभ शुम्भ शोभार्थे (क्षीरत० ६।३३) अत एव निपातनात् शोभा साधुः। क्षीरत० ६।३३॥

अर्थात्—'शुभ शुम्भ शोभार्थे' पाठसामर्थ्य से शोभापद का साधुत्व जानना चाहिए।

ऐसा ही क्षीरस्वामी ने क्षीरत० १।४९८ में भी लिखा है—ज्ञापकात् शोभा।

अर्थात् शोभा पद ज्ञापक से साधु है।

ङ—वामन भी 'शोभा' पद के साधुत्व-प्रतिपादन के लिए काव्यालङ्कारसूत्र में लिखता है—

---

१. क्षीरस्वामी क्षीरत० १।७२४ पर लिखता—डुपचँष् पाके—सानुनासिकोऽकारः सर्वेषामुपलक्षणार्थः।

शोभेति निपातनात्। का० सूत्र ५।२।४१॥

अर्थात्—शोभा पद धातुपाठ में 'शुभ शुम्भ शोभार्थे' इस निपातन से साधु है, ऐसा समझना चाहिए।

इन उपर्युक्त प्रमाणभूत आचार्यों के वचनों से सुस्पष्ट है कि सूत्रपाठ के समान धातुपाठ भी पाणिनि-प्रोक्त है॥

क्या धात्वर्थ-निर्देश अपाणिनीय है ?

जो वैयाकरण धातुपाठ को पाणिनीय मानते हैं, वे भी धात्वर्थ-निर्देश के विषय में विरुद्ध मत रखते हैं। कई वैयाकरण धात्वर्थ-निर्देशों को अपाणिनीय कहते हैं। कतिपय उन्हें पाणिनीय मानते हैं। इसलिए हम धात्वर्थ-निर्देश के पाणिनीयत्व और अपाणिनीयत्व के प्रतिपादक समस्त प्रमाणों को नीचे उद्धृत करते हैं—

अपाणिनीयत्व–प्रतिपादक प्रमाण—पहले हम धात्वनिर्देश के अपाणिनीयत्व-प्रतिपादक प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—परिमाणग्रहणं च कर्त्तव्यम्। इयानवधिर्धातुसंज्ञो भवति इति वक्तव्यम्। कुतो ह्येतद् भूशब्दो धातुसंज्ञो भवति, न पुनर्भ्वेधशब्दः ? महा० १।३।१॥

अर्थात्—[धातुसंज्ञा–विधायक प्रकरण में] परिमाण का ग्रहण भी करना चाहिए। इतनी अवधिवाला शब्द धातुसंज्ञक होता है, ऐसा कहना चाहिए। किस हेतु से यह 'भू' शब्द धातुसंज्ञक होता है, 'भ्वेध' शब्द धातुसंज्ञक क्यों नहीं होता ?

इस उद्धरण में महाभाष्यकार ने परिमाण ग्रहण के अभाव में 'भ्वेध' शब्द की धातुसंज्ञा की प्रसक्ति दर्शाई है। यदि धातुपाठ में भू सत्तायाम् एध वृद्धौ ऐसा धात्वर्थ-निर्देश सहित धातुओं का पाठ होता तो 'भ्वेध' में धातुसंज्ञा की प्रसक्ति का निर्देश उपपन्न ही नहीं होता, क्योंकि दोनों के मध्य में सत्तायाम् पद पढ़ा है। यह प्रसक्ति तभी उपपन्न होती है जब धातुपाठ में धात्वर्थ-निर्देश न हो, केवल धातुएँ 'भ्वेधस्पर्ध' इस प्रकार संहितापाठ से पठित हो। इसीलिए महाभाष्य के उपर्युक्त पाठ की व्याख्या में कैयट लिखता है—

न चार्थपाठः परिच्छेदकः, तस्यापाणिनीयत्वात्, अभियुक्तै[1] रुपलक्षणतयोक्तत्वात् इति।

---

१. पाश्चात्य भाषामत के मतानुयायी अनेक भारतीय विद्वान् 'अभियुक्त' शब्द के विषय में लिखते हैं कि यह शब्द पहले 'प्रामाणिक' अर्थ में

अर्थात्—['सत्तायाम्' आदि] अर्थ का पाठ धातुसंज्ञा का परिच्छेदक नहीं होगा, उसके अपाणिनीय होने से। प्रामाणिक पुरुषों ने अर्थ-निर्देश उपलक्षण रूप से पढ़े हैं।

इसकी व्याख्या करते हुए नागेश लिखता है—

भीमसेनेनेत्यैतिह्यम्।

अर्थात्—धात्वर्थ-निर्देश भीमसेन ने किया है, यह इतिहास से विदित होता है।

२—पाठेन धातुसंज्ञायां समानशब्दानां प्रतिषेधो वक्तव्यः। 'या' इति धातुः, 'या' इत्याबन्तः। 'वा' इति धातुः, 'वा' इति निपातः। 'नु' इति धातुः, 'नु' इति प्रत्ययः। 'दिव' इति धातुः, 'दिव' इति प्रातिपदिकम्। महा० १।३।१॥

अर्थात्—पाठ से धातुसंज्ञा मानने पर भी उसके तुल्य शब्दों की धातु संज्ञा का प्रतिषेध कहना चाहिए। 'या' यह धातु है, 'या' ऐसा आबन्त स्त्रीलिङ्ग शब्द भी है। 'वा' यह धातु है, 'वा' ऐसा निपात भी है। 'नु' यह धातु है 'नु' प्रत्यय भी है। 'दिव' यह धातु है, दिव ऐसा प्रातिपदिक भी है।

यदि धातुपाठ में या प्रापणे, वा गतिगन्धनयोः ऐसा सार्थपाठ पाणिनीय होता तो समान शब्दों की धातु संज्ञा की प्रसक्तिरूप दोष ही उपस्थित नहीं होता, क्योंकि आबन्त 'या' प्रापण अर्थ का वाचक ही नहीं, निपात 'वा' गतिगन्धन अर्थों को कहता ही नहीं (इसी प्रकार 'नु' तथा 'दिव' के विषय में समझें) तब इनकी धातुसंज्ञा प्राप्त ही नहीं होगी, प्रतिषेध कहने की

प्रयुक्त होता था। उत्तर काल में इसके अर्थ का अपकर्ष अथवा अवनति होकर यह 'दोषी', 'अपराधी', अर्थ का वाचक बन गया है। वस्तुतः यह अज्ञानमूलक है। अभियुक्त पद की मूल प्रकृति 'अभियुज्' और क्विबन्त वैदिक ग्रन्थों में दोषी-अपराधी-शत्रु अर्थ में बहुधा प्रयुक्त है। यथा—'विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्य' (ऋ० ५।४।५)। महाभारत शल्यपर्व ३१।६२ में 'अभियुक्तवस्तुको राजा दातुमिच्छेद्धि मेदिनीम्' में इसी अपकृष्ट अर्थ में प्रयोग उपलब्ध होता है। इसी प्रकार 'देवानां प्रियः' पद में भी जो अर्थापकर्ष की आधुनिक भाषाविज्ञ कल्पना करते हैं, वह भी अयुक्त है। वस्तुतः इन प्रयोगों में अर्थसंकोच हुआ है, अर्थापकर्ष नहीं।

क्या आवश्यकता ? अतः इस भाष्यपाठ से भी यही प्रतीत होता है कि पाणिनि ने धात्वर्थ-निर्देश नहीं किया।

३—(क) नह्यर्था आदिश्यन्ते क्रियावचनता च गम्यते।
महा० ३।१।८,११,१९॥

(ख) कः खल्वपि पचादीनां क्रियावचनत्वे यत्नं करोति।
महा० ३।१।१९॥

(ग) को हि नाम समर्थो धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपाता-नामर्थानादेष्टुम्। महा० २।१।१॥

इन वचनों से भी यही ध्वनित होता है कि पाणिनि ने धातुओं के अर्थों का निर्देश नहीं किया। द्वितीय वाक्य की व्याख्या करता हुआ नागेश लिखता है—

पचादीनामर्थरहितानामेव पाठात्।

अर्थात्—पच आदि धातुओं का अर्थरहित ही पाठ होने से।

४—भट्टोजिदीक्षित ने भी शब्दकौस्तुभ १।३।१ में धात्वर्थ-निर्देश को अपाणिनीय ही कहा है। वह लिखता है—

न च 'या प्रापणे' इत्याद्यर्थनिर्देशो नियामकः तस्यापाणिनीयत्वात्। भीमसेनादयो ह्यर्थं निर्दिदिक्षुरिति स्मर्यते। पाणिनिस्तु 'भ्वेध' इत्याद्यपाठीत् इति भाष्यकैयटयोः स्पष्टम्।

अर्थात्—'या प्रापणे' इत्यादि अर्थ-निर्देश भी धातुसंज्ञा का नियामक नहीं हो सकता, क्योंकि वह अपाणिनीय है। भीमसेन आदि ने धातुओं के अर्थों का निर्देश किया था, यह परम्परा से स्मरण किया जाता है। पाणिनि ने तो भ्वेध इसी प्रकार (अर्थरहित संहितापाठ) पढ़ा था, यह भाष्य और कैयट में स्पष्ट है।

५—भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ १।२।२० में पुनः लिखा है—

तितिक्षाग्रहणं ज्ञापकं भीमसेनादिकृतोऽर्थनिर्देश उदाहरणमात्रम्।

अर्थात्—सूत्र में 'तितिक्षा' ग्रहण ज्ञापक है कि भीमसेन आदि कृत धात्वर्थ-निर्देश उदाहरणमात्र है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि पाणिनीय धातुपाठ में जो अर्थ-निर्देश उपलब्ध होता है, वह अपाणिनीय है। पाणिनि ने तो भ्वेधस्पर्ध इस प्रकार अर्थ-निर्देशरहित संहितापाठ का ही प्रवचन किया था।

पाणिनीयत्व-प्रतिपादक प्रमाण—अब हम धातुपाठस्थ अर्थ-निर्देश पाणिनीय हैं, इस मत के प्रतिपादक प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—महाभाष्य में अनेक धातुएँ अर्थ-निर्देशपूर्वक उद्धृत हैं। उनसे विदित होता है कि महाभाष्य से पूर्व ही पाणिनीय धातुपाठ में अर्थ-निर्देश विद्यमान था।

२—महाभाष्यकार का निम्न वचन हम पूर्व उद्धृत कर चुके हैं—

आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति–नैवं जातीयकानामिद्विधिर्भवतीति यदयमिरितः कांश्चिन्नुमनुषक्तान् पठति–उबुन्दिर् निशामने स्कन्दिर् गतिशोषणयोरिति ।१।३।७ ॥

इस वचन से धातुपाठ के पाणिनीयत्व का ज्ञापन हम पूर्व कर चुके हैं। इसलिए जिस पाणिनि आचार्य ने उबुन्दिर् और स्कन्दिर् को नुम् संयुक्त पढ़ा उसी ने इनके 'निशामन' तथा 'गतिशोषण' अर्थों का भी निर्देश किया, यह इस वचन से स्पष्ट है।

३—महाभाष्यकार ने भूवादि (१।३।१) सूत्र के भाष्य में लिखा है—

वपिः प्रकिरणे दृष्टः, छेदने चापि वर्तते–केशश्मश्रु वपतीति। ईडिः स्तुतिचोदनायाच्ञासु दृष्टः, प्रेरणे चापि वर्तते–अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति इति। करोतिरभूतप्रादुर्भावे दृष्टः, निर्मलीकरणे चापि वर्तते–पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु, उन्मृदानेति गम्यते।

इस वचन में भाष्यकार ने वप-ईड-कृ धातुओं के कतिपय अर्थों को दृष्ट कहा है और कतिपय अर्थों में इनका वर्तन (व्यवहार) बताया है। दोनों दृष्ट और वर्तते पद एकार्थक नहीं हैं, यह तो वाक्य-विन्यास से ही स्पष्ट है। अतः यहाँ जिन धात्वर्थों को दृष्ट कहा है, वे धातुपाठ में पठित हैं अथवा धातुपाठ में देखे गए हैं, और जिनके लिए वर्तते का प्रयोग किया है, वे लोक में व्यवहृत हैं, यही अभिप्राय इस वचन का है।

उक्त वाक्य में महाभाष्यकार ने बीजसन्तान अर्थ का निर्देश प्रकिरण शब्द से किया है और करणे का अभूतप्रादुर्भाव शब्द से। ईड धातु के स्तुति, चोदना और याच्ञा अर्थों को दृष्ट कहा है, परन्तु वर्तमान धातुपाठ चोदना याच्ञा अर्थ उपलब्ध नहीं होते। इसका कारण पाणिनीय धातुपाठ का उत्तर काल में बहुधा परिष्कार होना है। पाणिनीय धातुपाठ के उत्तर कालीन परिष्कारों के विषय में आगे लिखेंगे।

४—हमने काशिका, न्यास, क्षीरतरङ्गिणी और वामनीय काव्यालङ्कार के चार वचन पूर्व (पृष्ठ ४४) उद्धृत किए हैं। उनसे यह प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों के रचयिता धात्वर्थनिर्देश को भी पाणिनि के सूत्रपाठ के समान ही प्रामाणिक मानते हैं। यदि धात्वर्थनिर्देश पाणिनीय न हो तो न तो उनमें सूत्रवत् प्रामाण्य-बुद्धि उत्पन्न हो सकती है और न उनके आधार पर पाणिनीय सूत्रनियमों का विरोध होने पर भी उन शब्दों का साधुत्व ही स्वीकार किया जा सकता है। इसलिए उक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि काशिका आदि के रचयिता धात्वर्थ-निर्देशों को भी पाणिनीय ही मानते हैं।

५—धातुवृत्तिकार अनेक स्थानों में धातुसूत्रों[1] के संहितापाठ को प्रामाणिक मानकर उनके विच्छेद में विमत दिखाई पड़ते हैं। यथा—

(क) तप ऐश्वर्येवावृतु वरणे[2] (क्षीरत० ४।४८,४९) इस पाठ में मध्य पठ्यमान वा पद पूर्वसूत्र का अवयव है अथवा उत्तर सूत्र का, इस में व्याख्याकारों में मतभेद है। यदि वा शब्द पूर्वसूत्र का अवयव है, तब भूवादि गण में पठित तप सन्तापे (क्षीरत० १।७१२) इस धातु का ही ऐश्वर्य अर्थ में विकल्प से दैवादिकत्व होगा। अर्थात् ऐश्वर्य अर्थ में श्यन् विकल्प से होगा। यदि वा उत्तरसूत्र का अवयव है, तब भी दो व्याख्याएं होती हैं। वा पृथक स्वतन्त्र पद मानने पर भ्वादि में पठित वृतु धातु (क्षीरत० १।५०४) वरण अर्थ में विकल्प से दैवादिक होगी, अर्थात् वरण में वृतु से श्यन् विकल्प से होगा। वा को पृथक् स्वतन्त्र पद न मानने पर वावृतु धातु होगी।[3]

(ख) पत गतावापश अनुपसर्गात्[3] (क्षीरत० १०।२४९, २५०) इस सूत्र में भी वा पद पूर्वसूत्र का अवयव है अथवा उत्तरसूत्र का, इसमें व्याख्याकारों का मतभेद है। कुछ व्याख्याकार वा को पूर्वसूत्र का अवयव मानते हुए 'पत धातु से विकल्प से णिच् होता है' व्याख्या करते हैं।

---

१. प्राचीन धातुवृत्तिकार 'भू सत्तायाम्। उदात्तः। एध वृद्धौ।' इत्यादि को धातुसूत्र मानते हैं।

२. यह संहितापाठ का स्वरूप है।

३. इन व्याख्याओं के लिए देखिए क्षीरतरङ्गिणी (४।४८,४९), धातु-प्रदीप (पृष्ठ ९३), पुरुषकार (पृष्ठ ९३), माधवीया धातुवृत्ति (पृष्ठ २९३)। भट्टिकार 'ततो वावृत्यमाना सा रामशालामविक्षत' (४।२८) में 'वावृतु' धातु स्वीकार करता है।

अन्य वृत्तिकार उत्तरसूत्र का अवयव मानते हुए वा को स्वतन्त्र पद मानकर 'पश धातु अनुपसर्ग से परे विकल्प से अदन्त है' व्याख्या करते हैं। पसी पक्ष में जो वा को स्वतन्त्र पद नहीं मानते, वे वापश धातु स्वीकार करते हैं।[1]

उपरिनिर्दिष्ट प्रकार की समस्त व्याख्याएँ धात्वर्थ-निर्देशों को पाणिनीय मानकर ही उपपन्न हो सकती हैं। यदि उपर्युक्त स्थलों में भी श्वेधस्पर्ध के समान तपवावृतु पतवापश ऐसा अर्थ-निर्देश-विरहित संहितापाठ होता तो वावृतु तथा वापश धातुओं के स्वरूप में सन्देह ही उत्पन्न न होता। यदि अर्थ-निर्देश-सहचरित वा पद (अर्थ-विशेष में दैवादिकत्वबोधक) का भी निर्देश न होता, तब तो सन्देह की कोई स्थिति ही नहीं थी। यदि सन्देह होता तब भी तप वावृतु, तपवा वृतु; पत वापश, पतवा पश ऐसा सन्देह होता, वृत्तिकारों द्वारा निर्दिष्ट व्याख्या-भेद तो विना धात्वर्थ-निर्देश के सम्भव ही नहीं।

सायणाचार्य धात्वर्थ-निर्देश को पाणिनीय मानकर लिखता है।

अस्माकं तूभयमपि प्रमाणमाचार्येणोभयथा शिष्याणां प्रतिपादनात्।

अर्थात्—हमें तो तप ऐश्वर्ये वा वृतु वरणे तथा तप ऐश्वर्ये वावृतु वरणे दोनों प्रकार का सूत्र-विच्छेद प्रमाण है, क्योंकि आचार्य ने शिष्यों को दोनों प्रकार का सूत्रपाठ बताया था।

६—यदि पाणिनीय धातुपाठ में अर्थ-निर्देश अपाणिनीय हो तो कए प्रघट्टक अथवा दण्डक में एक ही धातु का दो बार पाठ नहीं होना चाहिए। धातु के स्वरूपनिर्देश के लिए एक धातु का एक स्थान पर ही पाठ पर्याप्त है। परन्तु धातुपाठ में समान प्रघट्टक में एक ही धातु का दो-दो बार पाठ बहुत्र उपलब्ध होता है। यथा—

(क) भ्वादि में हुड का—हुडि संघाते, हुडि वरणे (क्षीरत० १।१७२, १८०)।

(ख) शौड्ादि में किट का—किट खिट त्रासे, इट किट कटी गतौ (धातुवृत्ति पृष्ठ ७७, ७९,)।

(ग) मव्यादि में खेलृ का—केलृ खेलृ क्ष्वेलृ वेल्ल चलने, पेलृ खेलृ शेलृ षेलृ गतौ (क्षीरत० १०५,१०६)[2]

१. क्षीरत० १०।२४९, २५० द्रष्टव्य।

२. धातु० पृष्ठ० २९३। तुलना करो—उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः। महाभाष्य १।४।१॥ द्वयमपि चैतत् प्रमाणम्, उभयथा सूत्रप्रणयनात्। काशिका ४।१।११७॥

यह द्विःपाठ धात्वर्थनिर्देशपूर्वक धातुपाठ के प्रवचन में सम्भव हो सकता है, अन्यथा नहीं।

(७) इसी प्रकार धात्वर्थ-निर्देश को अपाणिनीय मानने पर समानार्थक धातु में पठित धातु का अन्यार्थ-निर्देश के लिए पुनः स्वतन्त्र पाठ नहीं हो सकता। यथा—

(क) रघि लघि गत्यर्थाः, लघि भोजननिवृत्तावपि (क्षीरत० १।७६,७७)

(ख) गज गजि......शब्दार्थाः, गज मदने च (क्षीरत० १।१५६, १५७)।

(ग) तय नय गतौ, तय रक्षणे च (क्षीरत० १।१३८, १३९)।

इस प्रकार का धात्वर्थ-निर्देश-समुच्चायक पुनः पाठ भी धात्वर्थ-निर्देश के पाणिनीयत्व का ही ज्ञापन करता है।

व्याख्याकारों ने उक्त दोनों प्रकार के धातु के पुनः पाठ में अर्थ-भेद से पुनः पाठ है, यही हेतु दिया है। अर्थ-निर्देश के अभाव में न तो यह हेतु बन सकता है और न उसके अभाव में धातु का द्विः पाठ कथंचित् सम्भव हो सकता है।

यदि किसी अर्वाक्कालिक व्यक्ति ने धातुओं के साथ अर्थ जोड़े होते तो एक स्थान में पठित धातु के एक साथ ही दोनों (अथवा जितने अभिप्रेत हों) अर्थ पढ़ देता। अर्थ-भेद से धातु का पुनः पाठ न करता। अङ्गप्राधान्य न्याय से अङ्गरूप (बाद में जोड़े गए) अर्थ के कारण प्रधान रूप धातु का पुनः पाठ कदापि युक्त नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि जैसे सूत्रपाठ में पाणिनि ने समान आनुपूर्वी वाला बहुलं छन्दसि सूत्र प्रकरणभेद से १४ स्थानों में पढ़ा, वैसे ही उसने एक धातु का ही अर्थभेद से २–३ बार पाठ किया।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि धात्वर्थ-निर्देश भी पाणिनीय है।

धातुपाठ का द्विविध प्रवचन

दोनों वादों का निर्णय—धातुपाठ में पठित अर्थनिर्देश पाणिनीय है अथवा अपाणिनीय इन दोनों विषयों में दोनों प्रकार के प्रमाण ऊपर दर्शा चुके। इस विवाद का वास्तविक निर्णय यह है कि आचार्य पाणिनि ने धातु-पाठ का अर्थनिर्देश-युक्त और अर्थनिर्देश-रहित दोनों प्रकार का प्रवचन किया है। किन्हीं शिष्यों के लिए अर्थनिर्देश के विना भ्वेधस्पर्ध इस प्रकार

संहितापाठ से प्रवचन किया और किन्हीं के लिए भू सत्तायाम् उदात्तः एध वृद्धौ इस प्रकार। इसी कारण महाभाष्य में दोनों प्रकार के निर्देश उपलब्ध होते हैं।

लघु पाठ और वृद्ध पाठ—अर्थ-निर्देश के विना धातुओं का जो पाठ है, वह लघुपाठ है और अर्थनिर्देश-युक्त वृद्ध पाठ है।

अष्टाध्यायी के लघु और वृद्ध पाठ—भगवान् पाणिनि ने केवल धातुपाठ का ही लघु और वृद्ध रूप द्विविध प्रवचन नहीं किया, अपितु अष्टाध्यायी का भी द्विविध प्रवचन किया था। वार्तिककार ने अष्टाध्यायी के जिस पाठ पर वार्तिक लिखे हैं, वह लघुपाठ है और काशिका वृत्ति वृद्ध पाठ पर लिखी गई है। अष्टाध्यायी के इन दोनों प्रकार के पाठों के विषय में इसी ग्रंथ के पांचवें अध्याय (पृष्ठ १५१, प्र० सं०) में लिख चुके हैं। संस्कृत वाङ्मय में पचासों ऐसे प्राचीन ग्रन्थ हैं जिनके ग्रन्थप्रवक्ता ने ही लघु और वृद्ध दो दो प्रकार का प्रवचन किया था। किन्हीं किन्हीं ग्रन्थों का तो लघु, मध्यम और वृद्ध तीन प्रकार का भी पाठ उपलब्ध होता है।[1] प्राचीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों का दो दो प्रकार से प्रवचन क्यों किया, इसका उत्तर भारत और महाभारत के द्विविधप्रवचनप्रकरण में सौति ने इस प्रकार दिया है—

विस्तीर्यैतन्महज्ज्ञानमृषिः संक्षिप्यमब्रवीत्।
इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम्॥ आदिपर्व १।५१॥

अर्थात् ऋषि ने विस्तार से महाभारत का उपदेश करके संक्षेप से (उपाख्यानों से रहित) भारत का उपदेश किया। क्योंकि लोक में समास = संक्षेप और व्यास = विस्तार दोनों प्रकार से ग्रन्थ का धारण करना विद्वानों को इष्ट है।

वार्तिकपाठ का आश्रयभूत लघुपाठ—जिस प्रकार वार्तिककार कात्यायन ने अष्टाध्यायी के लघुपाठ पर अपने वार्तिक रचे, इसी प्रकार उसने

---

१. सुश्रुत के त्रिविध पाठ थे—लघुसुश्रुत-सुश्रुत और वृद्धसुश्रुत। देखिए पं० सूरमचन्द्र कृत 'आयुर्वेद का इतिहास' भाग १, पृष्ठ २५५। सम्भवतः भरत नाट्य शास्त्र के भी लघु (षट् साहस्र), मध्यम (द्वादश साहस्र) तथा वृद्ध (अष्टादश साहस्र) त्रिविध पाठ थे। द्र० कृष्णमाचारियर एम. ए. कृत हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ८१० टिप्पण।

धातुपाठ के अर्थरहित लघुपाठ को स्वीकार करके परिमाणग्रहणं च (महा० १।३।१) वार्तिक की रचना की।

सूत्रपाठ का आश्रय महत् पाठ—पाणिनि के सूत्रपाठ के अवगाहन से प्रतीत होता है कि पाणिनि ने सूत्रपाठ का प्रवचन करते हुए धातुपाठ के वृद्धपाठ को अपने ध्यान में रखा था। पाणिनि के अनेक नियम धातुपाठ के लघुपाठ के आधार पर उपपन्न ही नहीं होते। यथा—

पाणिनि ने इट्-आगम के प्रतिषेध के लिए नियम बताया है—

एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्। ७।२।१०।

अर्थात्—उपदेश में अनुदात्त एक अच् वाली धातु को इट् का आगम नहीं होता।

धातुपाठ के वृद्धपाठ में प्रत्येक प्रघट्टक के अन्त में उदात्तः, उदात्ताः, अनुदात्ताः इत्यादि सूत्र उपलब्ध होते हैं, जिनसे कौन-सी धातु उदात्त है, कौन सी अनुदात्त, यहप रिलक्षित होता है। धातुवृत्तिकार भूसत्तायाम् आदि अन्य धातुसूत्रों के समान इन सूत्रों की भी व्याख्या करते हैं, इससे स्पष्ट है कि ये सूत्र भी पाणिनीय हैं। अर्थनिर्देश-विरहित लघुपाठ में ये सूत्र नहीं थे। यह परिमाण-ग्रहणं च (महा० १।३।१) वार्तिक के भाष्य तथा टीका-ग्रन्थों में स्पष्ट है। वहाँ भ्वेधस्पर्ध इस प्रकार केवल धातुओं का पाठ मान कर ही वार्तिककार ने वार्तिक पढ़ा है। लघु पाठ में भी यदि इस प्रकार के सूत्र होते तो भ्वेधस्पर्ध के स्थान पर भूदात्त एधस्पर्ध ऐसा व्यवहित पाठ होता। इससे व्यक्त है कि पाणिनि ने सूत्रपाठ में धातु के अनुदात्त आदि स्वरूपों का उल्लेख करते हुए धातुपाठ के बृहत् पाठ को ही ध्यान में रखा है।

नागेश भट्ट की भ्रान्ति—नागेश ने महाभाष्य में अर्थनिर्देशयुक्त धातु-सूत्रों के उद्धरण देखकर लिखा है—

तुमेति—एतत्प्रामाण्यात् केषांचिद् धातूनामर्थनिर्देश-सहितोऽपि पाठ इति विज्ञायते। उद्योत १।३।१॥

नागेश की यह वस्तुतः भूल है। उसे संभवतः न तो संस्कृत वाङ्मय के द्विविध-पाठ-प्रवचन-शैली का परिज्ञान था और न अष्टाध्यायी तथा धातुपाठ के द्विविध-पाठ का ही। अतः जब वह भाष्य के उभयविध पाठों की संगति न लगा सका, तब उसने अर्धजरतीय[1] न्याय से एक ही ग्रन्थ में कही अर्थनिर्देश-

---

१. अर्धं जरत्याः कामयन्ते अर्धं न। महाभाष्य ४।१।७८॥ इसपर कैयट लिखता है—मुखं न कामयन्ते अङ्गान्तरं तु जरत्याः कामयन्ते।

विरहित पाठ स्वीकार किया और कहीं अर्थनिर्देशसहित।

क्या अर्थ-निर्देश भीमसेन का है ?

औत्तरकालिक अनेक पाणिनीय विद्वानों का कथन है कि पाणिनीय धातु-पाठ में निर्दिष्ट अर्थ भीमसेन नामक किसी वैयाकरण ने पाणिनि के पश्चात् पढ़े हैं। यथा—

१—नागेशभट्ट कैयट के न चार्थपाठः परिच्छेदकः, तस्यापाणिनीयत्वात् वचन की व्याख्या करता हुआ लिखता है—भीमसेनेनेत्यैतिह्यम्।

अर्थात् अर्थनिर्देश भीमसेन ने पढ़े हैं, यह ऐतिह्य में प्रसिद्ध है।

प्रदीपोद्योत १।३।१॥

२—भट्टोजिदीक्षित ने भी लिखा है—

क—तितिक्षाग्रहणं ज्ञापकं भीमसेनादिकृतोऽर्थनिर्देश उदाहरणमात्रम्। शब्दकौस्तुभ १।२।२० ॥

ख—न च या प्रापणे इत्याद्यर्थनिर्देशो नियामकः तस्यापाणिनीयत्वात्। भीमसेनादयो ह्यर्थं निर्दिदिक्षुरिति स्मर्यते।

अर्थात् भीमसेन आदि ने अर्थ-निर्देश किया है, ऐसा परम्परा से स्मरण किया जाता है।

३—धातुप्रदीपकार मैत्रेयरक्षित भी लिखता है—

बहुनोऽमून् यथा भीमः प्रोक्तवांस्तद्वदागमात्।

धातुप्रदीप, पृष्ठ १॥

अर्थात्—जैसे भीमसेन ने इनका प्रवचन किया है, उसी प्रकार आगम से......।

४—उमास्वाति भाष्य का व्याख्याता सिद्धसेन गणी (सं० ७००) लिखता है—

भीमसेनात् परतोऽन्यैर्वैयाकरणैरर्थद्वयेऽपठितोऽपि [चिति] धातुः संज्ञाने विशुद्धौ च वर्तते। पृष्ठ २९४।

अर्थात्—भीमसेन से परवर्ती अन्य वैयाकरणों द्वारा चिति धातु दो अर्थों में पठित न होने पर भी संज्ञान और विशुद्धि अर्थ में वर्तमान है।

यद्यपि इन प्रमाणों से यह प्रतीत होता है कि धात्वर्थ-निर्देश भीमसेन-प्रोक्त है, तथापि पूर्वनिर्दिष्ट प्राचीन सुदृढ़ प्रमाणों द्वारा 'धात्वर्थ-निर्देश

पाणिनीय है' ऐसा सिद्ध होने पर नागेश भट्ट आदि के वचन भ्रममूलक ही हैं। तृतीय और चतुर्थ उद्धरणों में धात्वर्थ-निर्देश भीमसेनकृत है। इसका कोई निर्देश नहीं है। हाँ, इनसे इतना अवश्य विदित होता है कि किसी भीमसेन का पाणिनीय धातुपाठ के साथ कुछ विशिष्ट संबंध है।

नागेश आदि की भ्रान्ति का कारण—भीमसेन नामक कोई वैयाकरण पाणिनीय धातुपाठ का व्याख्याता था, यह हम आगे वृत्तिकारप्रकरण में कहेंगे। सम्भव है इसी सम्बन्ध के कारण धात्वर्थ-निर्देश-विषयक पूर्व निर्दिष्ट भ्रान्ति हुई हो।

दूसरी भ्रान्ति—इतिहास से अनभिज्ञ कई वैयाकरण नामसादृश्य के कारण धातुवृत्तिकार भीमसेन को पाण्डुपुत्र समझते हैं। यह सर्वथा चिन्त्य है। भगवान् पाणिनि भारत युद्ध से लगभग ढ़ाई सौ वर्ष पीछे हुए, यह हम इस ग्रन्थ के पांचवें अध्याय में सविस्तर लिख चुके हैं। इसलिए यह भीमसेन पाण्डु-पुत्र नहीं हो सकता।

लघुपाठ का उच्छेद

धातुपाठ का अर्थ-निर्देश-विरहित जो लघुपाठ था, वह इस समय उपलब्ध नहीं होता। प्रतीत होता है सार्थ वृद्धपाठ के पठन-पाठन में व्यवहृत होने और लघुपाठ के अव्यवहृत होने से वह उत्सन्न हो गया।

वृद्धपाठ का त्रिविधत्व

भारतीय वाङ्मय में बहुत से ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनके देशभेद से विविध पाठ उपलब्ध होते हैं। पाणिनीय व्याकरण के कतिपय ग्रन्थों की भी यही दशा देखी जाती है। यथा—

अष्टाध्यायी—पाणिनीय अष्टाध्यायी के प्राच्य, उदीच्य (पश्चिमोत्तर) और दाक्षिणात्य तीन प्रकार के पाठ उपलब्ध होते हैं। काशी में लिखी गई काशिका वृत्ति अष्टाध्यायी के जिस पाठ का आश्रयण करती है, वह प्राच्य पाठ है। क्षीरस्वामी क्षीरतरङ्गिणी में अष्टाध्यायी के जिस सूत्रपाठ को उद्धृत करता है, वह उदीच्य पाठ है। दाक्षिणात्य कात्यायन[1] ने जिस सूत्रपाठ पर वार्तिक

---

1. द्रष्टव्य—प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। महाभाष्य १।१, आ० १। तथा इसी ग्रन्थ का आठवां अध्याय पृष्ठ २१२ (प्र. सं.)!

लिखे हैं, वह दाक्षिणात्य पाठ है। इन तीनों पाठों में प्राच्य पाठ वृद्ध पाठ है, उदीच्य तथा दाक्षिणात्य लघु पाठ हैं। इन दोनों में स्वल्प ही भेद है।

पञ्चपादी उणादि—पाणिनीय संप्रदाय से संबद्ध पञ्चपादी उणादि सूत्रों के भी तीन प्रकार के पाठ हैं।[1] उज्ज्वलदत्त आदि की वृत्ति जिस पाठ पर है, वह प्राच्य पाठ है। क्षीरस्वामी द्वारा क्षीरतरङ्गिणी में उद्धृत पाठ उदीच्य पाठ है।[2] नारायण तथा श्वेतवनवासी की वृत्तियां दाक्षिणात्य पाठ पर हैं। इनमें भी प्राच्य पाठ वृद्ध पाठ है, अन्य दोनों लघुपाठ हैं।

धातुपाठ के त्रिविध पाठ—इसी प्रकार सार्थ धातुपाठ के भी देश-भेद से तीन प्रकार के पाठ हैं। यथा—

प्राच्य पाठ—धातुपाठ के प्राग्देशीय मैत्रेय प्रभृति व्याख्याता जिस पाठ की व्याख्या करते हैं, वह प्राच्य पाठ है। न्यासकार भी प्राच्य पाठ को ही उद्धृत करता है।

उदीच्य पाठ—उदीच्य क्षीरस्वामी प्रभृति ने जिस पाठ पर अपनी वृत्ति लिखी है, वह उदीच्य पाठ है।[3]

दाक्षिणात्य पाठ—धातुपाठ का दाक्षिणात्य पाठ हमें साक्षात् उपलब्ध नहीं हुआ है, परन्तु दाक्षिणात्य पाल्यकीर्ति आचार्य (जैन शाकटायन प्रवक्ता)

---

१. पञ्चपादी के त्रिविध पाठों का प्रथम परिज्ञान हमें कुछ समय पूर्व ही हुआ है। इस विषय में 'भारतीय ज्ञानपीठ काशी' से प्रकाशित 'जैनेन्द्र महा-वृत्ति' में 'जैनेन्द्र व्याकरण और उसके खिलपाठ' शीर्षक हमारा लेख देखें। पञ्चपादी पाठ का भी मूल कोई त्रिपादी पाठ था। इस सब का विस्तार आगे 'उणादि सूत्र के प्रवक्ता और व्याख्याता' प्रकरण में देखें।

२. क्षीरतरङ्गिणी का जब सम्पादन किया था, तब हमें यह रहस्य ज्ञात नहीं था। इसलिए उणादिसूत्रों में प्राच्यपाठ से जहाँ पाठभेद उपलब्ध हुआ, वहाँ हमने दशपादी उणादि के पते दे दिए। दशपादी के भी दो पाठ हैं। हमारे दशपादी संस्करण के आधारभूत हस्तलेखों में 'क' संज्ञक हस्तलेख का पाठ क्षीरस्वामी के पाठ के साथ प्रायः मिल जाता है। अन्य हस्तलेखों के पाठ पञ्चपादी के दाक्षिणात्य पाठ के साथ समानता रखते हैं।

३. तुलना करो—"यष्टीकपारश्वधिकौ, यष्टिपरशुहेतिकौ" (अमर० २।८।७१) पर क्षीरस्वामी लिखता है—"पर्श्वधः परशौ न दृष्टः। अतो 'यष्टि-स्वधितिहेतिकौ' इति काश्मीराः पठन्ति'।

ने पाणिनि के जिस धातुपाठ का आश्रयण करके अपने धातुपाठ का प्रवचन किया, वह संभवतः दाक्षिणात्य पाठ था। पाल्यकीर्ति का धातुपाठ प्राच्य पाठ के साथ उतना नहीं मिलता, जितना उदीच्य पाठ के साथ। इस से अनुमान होता हैं कि जैसे पञ्चपादी उणादिसूत्रों के उदीच्य और दाक्षिणात्य पाठ समान होने पर भी क्वचित् विषमता रखते हैं। उसी प्रकार धातुपाठ के उदीच्य और दाक्षिणात्य पाठ में प्रायिक समानता होने पर भी कुछ भेद रहा होगा।

धातुपाठ के पाठों का परिचायक चित्र

धातुपाठ के जिन विविध पाठों का हमने ऊपर निर्देश किया है, उनका परिज्ञान निम्नाङ्कित चित्र से सुगमता से हो जाएगा—
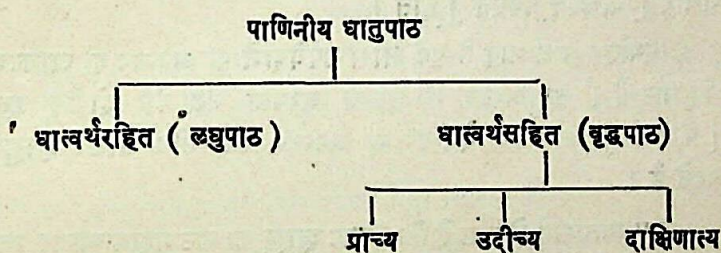
धातुपाठ का साम्प्रतिक पाठ—सम्प्रति पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा धातुपाठ का जो पाठ पठन-पाठन में व्यवहृत हो रहा है, वह पूर्वनिर्दिष्ट तीनों पाठों से विलक्षण है। यह पाठ आचार्य सायण द्वारा परिष्कृत है, हम आगे लिखेंगे।

पाठ की अव्यवस्था

जो अर्थनिर्देशयुक्त धातुपाठ सम्प्रति उपलब्ध है, उसमें पाठों की महती अव्यवस्था दिखाई देती है। उसमें किन्ही धातुओं का क्रमविपर्यास, किन्हीं का अर्थविपर्यास, किन्हीं का अभाव और किन्ही का आधिक्य देखा जाता है। धातुपाठ के किन्हीं भी दो वृत्तिग्रन्थों का पाठ समान उपलब्ध नहीं होता। धातुपाठ की यह अव्यवस्था चिरकाल से हो रही है और उत्तरोत्तर इसमें वृद्धि होती गई है। यथा—

१—महाभाष्य ६।१।६ में लिखा है।

जक्षित्यादयः षट्......नवार्थः परिगणनेन आगणान्तमभ्यस्तसंज्ञा। इहापि तर्हि प्राप्नोति आङः शासु......।

अर्थात्—जक्षित्यादयः षट् (६।१।६) [षट्] परिगणन की आवश्यकता नहीं है। [अदादि] गण के अन्त तक अभ्यस्त संज्ञा हो जाए) ऐसा होने पर यहाँ भी अभ्यस्त संज्ञा प्राप्त होगी आङः शासु इच्छायाम्··· ।

इस भाष्य वचन से स्पष्ट है कि भगवान् पतञ्जलि के काल में आङः शासु इच्छायाम् धातु का पाठ वेवीङ् वेतिना तुल्ये (क्षीरत० २।७८) अनन्तर कहीं पर था।[1] भाष्य के व्याख्याता कैयट के काल में आङः शासु का पाठ वेवीङ् के आगे नहीं था, यह उसके व्याख्यान से स्पष्ट है। नागेश भट्ट ने भी प्रदीप के व्याख्यान में लिखा है—

ननु जक्षित्यादिभ्यः पूर्वमेव आस उपवेशने इत्यनन्तरमाङः शासु इति पठ्यते तत्कथं तस्याभ्यस्तसंज्ञा स्यात्, अत आह—वेवीङोऽनन्तरं [कैश्चित् पठ्यत] इति।

अर्थात्—जक्ष धातु से पूर्व आस उपवेशने के अनन्तर ही आङःशासु का पाठ है। उस अवस्था में उसकी अभ्यस्त संज्ञा कैसे होगी? इसलिए [कैयट ने] कहा है—वेवीङ के अनन्तर कई लोग आङः शासु को पढ़ते हैं।

इस व्याख्यान से स्पष्ट है कि आङः शासु का पाठ महाभाष्यकार पतञ्जलि के काल में वेवीङ् के अनन्तर था, परन्तु कैयट के काल में उसका पाठ जक्ष धातु से पूर्व परिवर्तित हो गया था[2]।

२—जक्षित्यादयः षट् (६।१।७) में षट् पद न रखने पर अदादि गण के अन्त तक अभ्यस्त संज्ञा की जो प्राप्ति होती है, तन्निमित्तक दोषों का परिहार करते हुए महाभाष्यकार कहते हैं—

षसिवशी छान्दसौ।

इस पर कैयट लिखता है—

षस शस्ति स्वप्ने इति ये न पठन्ति, केवलं षस स्वप्ने, वश कान्तौ इति तन्मतेनैतदुक्तम्।

---

१. इस प्रकरण की स्पष्टता के लिए भाष्य प्रदीप ६।१।७ देखें।

२. भाष्यकार ने अन्य सम्प्रदाय के धातुपाठ को दृष्टि में रखकर अभ्यस्त-संज्ञाविषयक दोष तथा उसका परिहार लिखा है, यह भी सम्भव है। हमने तो कैयट की व्याख्यानुसार यहाँ पाठभ्रंश दोष दर्शाया है।

अर्थात्—जो लोग षस शस्ति स्वप्ने ऐसा पाठ नहीं पढ़ते, केवल षस स्वप्ने, वश कान्तौ ऐसा पढ़ते हैं, उनके मत से भाष्यकार ने उक्त वचन कहा है।

इस व्याख्या से प्रतीत होता है कि कैयट के काल में इस प्रकरण का दो प्रकार का पाठ था। क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी में षस स्वप्ने, वश कान्तौ (२।८१,८२) पाठ माना है और मैत्रेयरक्षित ने धातुप्रदीप में षस सस्ति स्वप्ने, वश कान्तौ पाठ का व्याख्यान किया है।

३—क्षीरस्वामी धातुपाठ के पाठभ्रंश से खिन्नमना होकर लिखता है—

पाठेऽर्थे चागमभ्रंशान्महतामपि मोहतः।
न विद्मः किन्तु जहीमः किं वात्राद्ध्महे वयम्॥

क्षीरतरङ्गिणी—चुरादि गण के अन्त में।

अर्थात्—पाठ और अर्थ-निर्देश में परम्परा के भ्रष्ट हो जाने से बहुज्ञों के भी मोहित होने से हम नहीं जानते किस पाठ को छोड़ें अथवा किसको ग्रहण करें।

४—धातुवृत्तिकार सायण अनेक स्थानों पर लिखता है—

क—इह केचिद् धृञ् धारणे इति पठन्ति, सोऽनार्षः.........। अस्माभिस्तु मैत्रेयाद्यनुरोधेन ञित्प्रकरणे हरतेरनन्तरं पठित्वाऽयमुदाहृतः।[1] धातुवृत्ति पृष्ठ १८४।

अर्थात्—यहाँ पर कई व्याख्याता धृञ् धारणे धातु पढ़ते हैं, वह पाठ अनार्ष है।.........हमने मैत्रेय आदि के अनुरोध से ञित्प्रकरण में हृञ् हरणे के अनन्तर पढ़ कर उदाहरण दिए हैं।

ख—गाङ् गतौ......गापोष्टक् इत्यत्र न्यासपदमञ्जर्योरयं धातुरादादिक इति स्थितम्। शपि पाठे चास्य प्रयोजनं नास्ति। अस्माभिस्तु काप्ययं पठितव्य इति मैत्रेयाद्यनुसारेणेह पठितः। धातुवृत्ति पृष्ठ १८५।

अर्थात्—गाङ् गतौ......'गापोष्टक्' (अष्टा० ३।२।८) सूत्र पर न्यास और पदमञ्जरी में यह धातु अदादिगण की मानी है। शप् विकरण (भ्वादि)

---

१. काशी संस्करण में यहाँ पाठ अशुद्ध है।

में पाठ का कोई प्रयोजन नहीं है। हमने इसे कहीं भी पढ़ना चाहिए, यह समझकर मैत्रेय आदि के अनुसार यहीं (भ्वादि में) पढ़ा है।

ग—षच समवाये......एवं च न्यासकारादीनां बहूनामभिमतत्वादयं धातुरस्माभिः पठितः। धातुवृत्ति पृष्ठ २०२।

अर्थात्—षच समवाये......इस प्रकार न्यासकार आदि बहुत से व्याख्याकारों से स्वीकृत होने से इस धातु को हमने पढ़ा है।

घ—यथा तु भाष्यवृत्तिन्यासपदमञ्जर्यादिषु तथायं धातुर्नेति प्रतीयत इति जीर्यतावुपपादितम्। आत्रेयमैत्रेयपुरुषकारादिषु दर्शनादिहास्माभिर्लिखितम्। धातुवृत्ति पृष्ठ ३६९॥

अर्थात्—जैसा भाष्य, वृत्ति (काशिका), न्यास, पदमञ्जरी आदि में उल्लेख है, तदनुसार यह धातु नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है, यह हमने जीर्यति (जृष् वयोहानौ-दिवादि) धातु पर लिखा है। आत्रेय, मैत्रेय, पुरुषकार आदि के ग्रन्थों में दिखाई पड़ने से हमने इसे यहाँ (क्र्यादि गण में) लिखा है।

ङ—एते पञ्चदश स्वामिकाश्यपानुसारेण लिख्यन्ते। धातुवृत्ति पृष्ठ २९३।

अर्थात्—ये पन्द्रह धातुएँ हमने [क्षीर] स्वामी काश्यप आदि के अनुसार लिखी हैं।

च—तत्राद्यौ बृहिश्च मैत्रेयानुरोधेनास्माभिर्दण्डके पठितः। धातुवृत्ति पृष्ठ ३९३।

अर्थात्—प्रारम्भिक दो (=पट, पुट) तथा बृहि ये तीन धातुएँ मैत्रेय आदि के अनुरोध से हमने इस दण्डक (=पट पुट लुट आदि) में पढ़ी हैं।

छ—यद्यपि मैत्रेयेणादितस्त्रय इदित उखिवखिमखयः, मूर्धन्यादिर्नखिरनिदित इखिश्च न पठ्यते, तथापि इतरानेकव्याख्यातॄणां प्रामाण्यादस्मभिः पठितः। धातुवृत्ति पृष्ठ ५९।

अर्थात्—यद्यपि मैत्रेय ने आरम्भ की तीन इदित् उखि वखि मखि, मूर्धन्यादि नखि, अनिदित इख नहीं पढ़ी, पुनरपि अन्य अनेक व्याख्याताओं के अनुरोध से इन्हें हमने पढ़ा है।

ज—डुकृञ् करणे इति भूवादौ पठ्यते।.........अनेन प्रकारेणास्माभिर्धातुवृत्तावयं धातुर्निराकृतः[1] । ऋग्भाष्य १।८२।१॥

अर्थात्—डुकृञ् करणे इसे भूवादि में पढ़ते हैं।.........इस प्रकार हमने धातुवृत्ति में इस धातु का पाठ हटा दिया है।[1]

५—महाभाष्य १।३।१ में लिखा है—

ईडिः स्तुतिचोदनायाच्ञासु दृष्टः.........।

अर्थात्—ईड धातु स्तुति, चोदना और याच्ञा अर्थों में देखी (पढ़ी) गई है।

सम्प्रति धातुपाठ में ईड धातु का स्तुति अर्थ ही उपलब्ध होता है, चोदना, याच्ञा अर्थ उपलब्ध नहीं होते।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि पाणिनीय धातुपाठ में चिरकाल से पाठ की अव्यवस्था अथवा विपर्यास आरम्भ हो गया था। सायण ने तो धातुपाठ में बड़ी स्वच्छन्दता से पाठ परिवर्तन-परिवर्धन तथा निष्कासन कार्य किया है यह भी सायण के पूर्व उद्धरणों से व्यक्त है।

साम्प्रतिक पाठ सायण-परिष्कृत है

पाणिनीय वैयाकरणों में धातुपाठ का जो पाठ पठनपाठन में व्यवहृत हो रहा है, वह प्राचीन आर्षपाठ नहीं है, अपितु विविध ग्रन्थों के साहाय्य से सायण द्वारा परिष्कृत पाठ है। सायण ने इस परिष्कार में अति स्वच्छन्दता से कार्य लिया है, यह पूर्व उद्धरणों से सर्वथा विस्पष्ट है।

सायण के पश्चात् भट्टोजिदीक्षित ने भी धातुपाठ में कुछ परिष्कार किया है, परन्तु वह अत्यन्त स्वल्प है।

सायण और दीक्षित द्वारा परिष्कृत धातुपाठ ही सम्प्रति पाणिनि-प्रोक्त समझा जाता है। परन्तु सायण द्वारा तन्त्रान्तरप्रसिद्ध पचासों धातुओं के प्रक्षेप और स्वशास्त्रपठित बहुत सी धातुओं के परित्याग के कारण यह

---

१. धातुवृत्ति में 'धृञ् धारणे' धातु के व्याख्यान के अनन्तर 'अत्र केचित् कृञ् करणे धातुं पठन्ति तदनार्षम्.........' आदि लिखा है (द्र० पृष्ठ १६३) उसकी ओर यह संकेत है। सायणाचार्य ने ऋग्भाष्य में अनेक स्थानों पर धातुवृत्ति का निर्देश किया है। यथा—१।४२।७; १।५१।८॥ आदि।

'पाणिनीय' पद से व्यवहर्त्तव्य नहीं है। भूयसा व्यपदेशः न्याय से इसे सायणीय पाठ कहना ही युक्त है।

भोटलिङ्गीय पाठ—सम्प्रति पाश्चात्य विद्वानों तथा उनके अनुयायियों द्वारा धातुपाठ का जो पाठ प्रामाणिक माना जाता है, वह जर्मनदेशीय भोटलिङ्ग द्वारा संगृहीत अथवा परिष्कृत है। उसे भी पाणिनीय कहना अनुचित है। इस पाठ में भोटलिङ्ग ने विना विशेष विचार के तन्त्रान्तरप्रसिद्ध प्रायः सभी धातुओं का संग्रह कर दिया है। अतः भोटलिङ्ग का पाठ तो सायण के पाठ से भी अधिक भ्रष्ट है और प्रमाणरहित है।

संहिता-पाठ का प्रामाण्य

प्रायः सभी प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में मन्त्रसंहिता के समान संहितापाठ ही प्रामाणिक माना जाता है। भगवान् पतञ्जलि आदि आचार्यों ने अष्टाध्यायी के संहितापाठ को ही प्रामाणिक माना है। यथा—

क—कुतः पुनरियं विचारणा? उभयथा हि तुल्या संहिता 'स्थानेन्तरतम उरण्रपरः' इति। महा० १।१।५०।

अर्थात्—उक्त विचार कैसे उत्पन्न हुआ? [उत्तर] दोनों प्रकार से संहिता तुल्य है स्थानेन्तरतम उरण्रपरः। अर्थात् इस संहितापाठ का स्थानेऽन्तरतमः तथा स्थानेन्तरतमे दोनों प्रकार का विच्छेद हो सकता है।

ख—नैवं विज्ञायते-कञ्क्वरपो यञश्चेति। कथं तर्हि? कञ्क्वरपोऽयञश्चेति। महा० ४।१।१६॥

अर्थात्—इस प्रकार का सूत्रच्छेद नहीं है—कञ्क्वरपः-यञश्च, अपि तु कञ्क्वरपः-अयञश्च। क्योंकि संहिता उभयथा तुल्य ही है कञ्क्वरपोयञश्च।

इसी प्रकार धातुपाठ में भी धातुसूत्रों का संहितापाठ ही प्रामाणिक माना जाता है। इसीलिए धातुसूत्रों के विच्छेद में वृत्तिकारों का बहुत मतभेद उपलब्ध होता है। यथा—

क—तपऐश्वर्येवावृतुवरणे।[1]

ख—पतगतावापशानुपसर्गात्।[2]

---

१. इसके विषय में क्षीरतरङ्गिणी ४।४८,४९; धातुप्रदीप (पृष्ठ ९३), पुरुषकार (पृष्ठ ९३) माधवीया धातुवृत्ति (पृष्ठ २९३) द्रष्टव्य हैं।

२. इसके विषय में क्षीरतरङ्गिणी १०।२४९,२५०; माधवीया धातुवृत्ति (पृष्ठ ३९७) द्रष्टव्य हैं।

इन सूत्रों के विच्छेद के विषय में जो मतभेद है, उसका निर्देश हम पूर्व 'अर्थ-निर्देश पाणिनीय है' प्रकरण में कर चुके हैं। ख पाठ के विषय में सायण लिखता है—

अत्र स्वामी संहितायां धातुपाठाद् वाशब्दमुत्तरधातुशेषं वष्टि। धातुवृत्ति पृष्ठ ३९०।

अर्थात्—यहाँ क्षीरस्वामी धातुपाठ के संहिता होने से वा शब्द को उत्तर धातु का शेष मानता है।

ग—पणिनीय तथा तत्पूर्ववर्त्ती धातुपाठों में एक सूत्र है—

राटाने। क्षीरत० २।५०॥

यास्क ने अप्सरा पद के निर्वचन में इस सूत्र के रा दाने, रा आदाने उभयथा विच्छेद मानकर दान और आदान दोनों अर्थों का निर्देश किया है। यथा—

अप्सरा······अप्स इति रूप नाम······तदनया ऽऽत्तमिति वा, तदस्यै दत्तमिति वा। निरुक्त ५।१३॥

अर्थात्—अप्सरा······अप्स नाम रूप का है······उस रूप को इसने आत्त (=ग्रहण) किया है, अथवा उसे इसके लिए दिया है।

यहाँ स्पष्ट ही यास्क ने संहिता पाठ को प्रामाणिक मानकर रा दाने, रा आदाने उभयथा विच्छेद स्वीकार किया है।

उभयथा सूत्र-विच्छेद पाणिनीय है

धातुपाठ के संहितापाठ को प्रामाणिक मानकर वृत्तिकारों ने जो विविध प्रकार का सूत्र-विच्छेद दर्शाया है, वह पाणिनीय है, ऐसा वैयाकरणों का मत है। इसीलिए तपऐश्वर्येवावृतुवरणे सूत्र पर सायण लिखता है—

अस्माकं तूभयमपि प्रमाणम्, आचार्येणोभयथा शिष्याणां प्रतिपादनात्। धातुवृत्ति पृष्ठ २९३।

अर्थात्—हमें तो दोनों प्रकार का सूत्र-विच्छेद प्रमाण है, क्योंकि आचार्य (पाणिनि) ने दोनों प्रकार से शिष्यों को पढ़ाया था।

इसका भाव यह है कि पाणिनिने धातुपाठ का प्रवचन करते समय किन्हीं शिष्यों को तप ऐश्वर्ये वा, वृतु वरणे इस प्रकार विच्छेद करके पढ़ाया था और किन्हीं को तप ऐश्वर्ये, वावृतु वरणे इस प्रकार।

धातुपाठ सस्वर था

जिस प्रकार धातुपाठ से अनुनासिक चिह्न नष्ट हो गए, उसी प्रकार धातुओं के उदात्त, अनुदात्त निर्देशक चिह्न भी समाप्त हो गए। पूर्वकाल में इड्विधान के लिए जिन धातुओं का उदात्तत्व इष्ट था, वे उदात्त पढ़ी गई थीं और जिनसे इडागम इष्ट नहीं था उन्हें अनुदात्त पढ़ा था और उसी का निर्देश पाणिनि ने एकाच उपदेशे अनुदात्तात् (७।२।१०) आदि सूत्रों में किया था। इसी प्रकार इत्संज्ञाविशिष्ट स्वर भी कोई उदात्त पढ़े गए थे, तो कोई अनुदात्त और स्वरित। इन्हीं का निर्देश पाणिनि ने

अनुदात्तङित आत्मनेपदम्। १।३।१२॥

स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले। १।३।७२॥

आदि सूत्रों में किया है। इसी लिए धातुपाठ के व्याख्याकारों ने भी लिखा है—

अत एव चुरादिभूतान् स्वरान्वितान् नाकरोत्। (क्षीरत० १०।१३१)

अर्थात्—इसीलिए चुरादि धातुओं को स्वरयुक्त नहीं पढ़ा है।

यही बात क्षीरस्वामी से पूर्ववर्त्ती काश्यप ने लिखी है—

कार्याभावादेकश्रुत्या पठ्यन्ते इति। द्र० धातुवृत्ति पृष्ठ ३७०।

अर्थात्—स्वरनिर्देश का कार्य न होने से चुरादियों को एकश्रुति से पढ़ा है।

इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि शेष ९ शेष गणस्थ धातुएं किसी समय सस्वर पढ़ी गई थीं।

पाणिनीय धातुपाठ का आश्रय प्राचीन धातुपाठ

धातुपाठ पाणिनि का प्रोक्त ग्रन्थ है, कृत नहीं। प्रोक्त ग्रन्थों में प्रवक्ता पूर्व ग्रन्थों से ही उपयोगी अंशों को शब्दतः और अर्थतः संग्रह किया करता है। ग्रन्थ की सम्पूर्ण वर्णानुपूर्वी प्रवक्ता की अपनी नहीं होती, यह हम पूर्व कह चुके। इसलिए जिस प्रकार पाणिनि ने प्रायः प्राचीन आचार्यों के सूत्रों को ही ग्रहण करके अपने शब्दानुशासन का प्रवचन किया, उसी प्रकार धातु-पाठ में भी प्रायः प्राचीन आचार्यों के धातुसूत्रों का ही आश्रयण किया, इसमें लेशमात्र भी सन्देह का अवसर नहीं है। यथा—

१—जिस प्रकार अष्टाध्यायी के सूत्र पाणिनि से पूर्ववर्ती आपिशलि, काशकृत्स्न, भागुरि आदि के सूत्रों से मिलते हैं, जिस प्रकार पाणिनीय शिक्षा

आपिशल शिक्षा से मिलती है, उसी प्रकार पाणिनि के धातु सूत्र भी क्रम-वैपरीत्य होने पर भी काशकृत्स्नीय धातुसूत्रों से प्रायः अक्षरशः मिलते हैं।

२—जिस प्रकार अष्टाध्यायी में यत्र तत्र किन्हीं प्राचीन श्लोकबद्ध सूत्रों का सद्भाव उपलब्ध होता है,[1] उसी प्रकार पाणिनीय धातुसूत्रों में भी किन्हीं प्राचीन छन्दोबद्ध धातुसूत्रों का सद्भाव मिलता है। यथा—

क—भ्वादि में एक धातुसूत्र है—

चते चदे च याचने। क्षीरत० १।६०८॥

इस सूत्र में चकार अस्थान में पठित है। पूर्वसूत्र-पठित परिभाषण अर्थ के समुच्चय के लिए है। अतः सूत्रपाठ होना चाहिए था चते चदे याचने च। यहाँ अस्थान में चकार का पाठ छन्दोऽनुरोध से है। अष्टाध्यायी ४।४।३६ के परिपन्थं च तिष्ठति सूत्र में भी चकार का अस्थान में पाठ छन्दोऽनुरोध से ही है। इस तुलना से स्पष्ट है कि जिस प्रकार अष्टाध्यायी का परिपन्थं च तिष्ठति सूत्र तथा तत्पूर्ववर्ती सूत्र प्राचीन श्लोकबद्ध शब्दानुशासन से संगृहीत है, उसी प्रकार चते चदे च याचने धातुसूत्र भी किसी प्राचीन श्लोकबद्ध धातुपाठ से संगृहीत है।

क्षीरस्वामी का भ्रम—क्षीरस्वामी ने इस तथ्य को न जानकर इस सूत्र पर लिखा है कि चकार पूर्वपठित रेटृ धातु के समुच्चय के लिए है, अर्थात् रेटृ के परिभाषण और याचन दोनों अर्थ हैं। क्षीरस्वामी का यह व्याख्यान अयुक्त है, क्योंकि सम्पूर्ण धातुपाठ में अन्यत्र कहीं पर भी पूर्व धातु के समुच्चय के लिए चकार का निर्देश उपलब्ध नहीं होता।

हेमचन्द्र द्वारा क्षीरस्वामी का अनुसरण—आचार्य हेमचन्द्र ने अपने धातुपारायण में क्षीरस्वामी का अनुसरण करके रेटृग् परिभाषणयाचनयोः (१।८९७) में रेटृ के परिभाषण और याचन दोनों अर्थों का निर्देश किया।

यह भी ध्यान रहे कि चते चदे च याचने यह क्षीरस्वामी का पाठ है। मैत्रेय चकार नहीं पढ़ता। सायण ने याचने च ऐसा पाठविपर्यास किया है। उससे विदित होता है कि वह पूर्व पाठ में चकार को परिभाषण अर्थ के

---

१. यथा—पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति परिपन्थं च तिष्ठति (४।४।३५,३६) अनुष्टुप् के दो चरण। वृद्धिरादैजदेङ्गुणः (१।१।१,२) अनुष्टुप् का एक चरण। विशेष द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ के पांचवें अध्याय में पृष्ठ १५७,१५८।

समुच्चय के लिए ही मानता है। अध्येताओं को भ्रम न हो, इसलिए उसने चकार को यथास्थान रख दिया।

ख—खादिगण में पाठ है—

ष्टिघ आस्कन्दने, उदात्तावनुदात्तेतौ, तिक तिग च, षघ हिंसायाम्। क्षीरत० ५।२२–२५॥

यहाँ क्षीरस्वामी और मैत्रेय ने चकार को पूर्वपठित आस्कन्दन अर्थ का समुच्चायक माना है। परन्तु उदात्तावनुदात्तेतौ सूत्र का व्यवधान होने पर चकार पूर्वपठित आस्कन्दन अर्थ का समुच्चय कैसे करेगा, यह वृत्तिकारों ने स्पष्ट नहीं किया। काशकृत्स्न, कातन्त्र, हैम, शाकटायन के धातुपाठों में तिक तिग धातुओं का केवल हिंसा अर्थ ही लिखा है, आस्कन्दन नहीं। इतना ही नहीं, षघ हिंसायाम् (५।२९) सूत्र पर क्षीरस्वामी ने लिखा है।

तिक तिग चषघ हिंसायाम् इत्येके चषघ्नोति।

इससे स्पष्ट होता है कि छन्दःपूर्त्यर्थं पढ़े गए चकार का वास्तविक प्रयोजन न जानकर किसी वृत्तिकार ने उसे आस्कन्दन अर्थ का समुच्चायक मान लिया तो अन्य ने उसे धात्ववयव बनाकर चषघ धातु की कल्पना कर ली। वस्तुतः यहाँ—

ष्टिघ आस्कन्दने तिक, तिग च षघ हिंसायाम्

इस प्रकार अनुष्टुप् के दो चरण किसी प्राचीन श्लोकबद्ध धातुपाठ में थे। पाणिनि ने उन्हें यथावत् ग्रहण करके मध्य में उदात्तावनुदात्तेतौ सूत्र और जोड़ दिया। इस अवस्था में चकार अनर्थक हो गया।

ग—चुरादिगण में एक सूत्र है—

उपसर्गाच्च दैर्घ्ये। क्षीरत० १०।२२९॥

यहाँ क्षीरस्वामी ने चकारं भिन्नक्रममाहुः लिखकर ज्ञापित किया है कि वास्तविक सूत्रपाठ उपसर्गाद् दैर्घ्ये च होना चाहिए। हमारा विचार तो यही है कि यहाँ पर भी चकार का अस्थान में पाठ छन्दोऽनुरोध से ही है।

घ—चुरादिगण के कुछ सूत्र हैं—

रच प्रतियत्ने, कल गतौ संख्याने च, चह कल्कने, मह पूजायाम्, शार कृप श्रथ दौर्बल्ये। क्षीरत० १०।२५२–२५६॥

इन्हें आप इस रूप में पढ़िए—

रच प्रतियत्ने कल, गतौ संख्याने च चह्।
कल्कने मह पूजायाम्, शार कृप श्रथ दौर्बल्ये ॥

यह पूरा यथाश्रुत भुरिक् (एकाक्षर अधिक) अनुष्टुप् श्लोक है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि पाणिनि से पूर्व कोई छन्दोबद्ध धातुपाठ भी विद्यमान था। उसके ही कतिपय अंश पाणिनि के धातुपाठ में सुरक्षित दिखाई देते हैं।

३—पाणिनीय धातुपाठ में बहुत्र प्रकरणविरोध उपलब्ध होता है। यथा—

क—उदात्त चवर्गान्त धातुओं में अनुदात्त इकारान्त क्षि धातु का पाठ उपलब्ध होता है। द्र० क्षीरत० १।१४९॥

ख—उदात्त अन्तस्थान्त धातुओं में अनुदात्त इकारान्त जि धातु का पाठ मिलता है। द्र० क्षीरत० १।३७४॥

ग—ऊष्मान्त धातुओं में वान्त (अन्तस्थान्त) कव धातु का पाठ देखा जाता है। द्र० क्षीरत० १।४७९॥

यह प्रकरणविरोध पूर्वाचार्यों के अनुरोध के कारण है, ऐसा प्राचीन वृत्तिकार कहते हैं। इसी कारण क्षि क्षये (क्षीरत० १।१४९) धातुव्याख्यान में क्षीरस्वामी वक्ष्यति च लिखकर किसी प्राचीन व्याख्याकार का श्लोक उद्धृत करता है—

पाठमध्येऽनुदात्तानामुदात्तः कथितः क्वचित्।
अनुदात्तोऽप्युदात्तानां पूर्वेषामनुरोधतः॥

अर्थात्—पाणिनीय धातुपाठ में कहीं-कहीं अनुदात्तों के मध्य उदात्त और उदात्तों के मध्य अनुदात्त धातुओं का जो पाठ उपलब्ध होता है, वह पूर्वाचार्यों के अनुरोध से है।

यह भी ध्यान रहे कि काशकृत्स्न धातुपाठ में भी चवर्गान्त उदात्त धातुओं के मध्य इकारान्त अनुदात्त क्षि धातु का पाठ उपलब्ध होता है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि पाणिनि ने अपने धातुपाठ के प्रवचन में पूर्वाचार्यों के धातुपाठ का पर्याप्त आश्रय लिया है।

श्लोकबद्ध धातुपाठ

पाणिनि से पूर्व किसी आचार्य का श्लोकबद्ध धातुपाठ भी विद्यमान था, यह हम ऊपर दर्शा चुके। अर्वाचीन ग्रन्थों में भी श्लोकबद्ध धातुपाठ के कुछ वचन उपलब्ध होते हैं। यथा—

१—तथा च 'पूरी आप्यायने ष्वदास्वाद' इति श्लोकधातुपाठः। पुरुषकार पृष्ठ ४४।

२—यत्तु श्लोकधातुपाठे 'फक्क नीचैर्गतौ तक्क मर्षणे बुक्क भाषणे' इति द्विककारस्तकिः। पुरुषकार पृष्ठ ४७।

३—तथा च श्लोकधातुपाठः—'जुड प्रेरणवाची शुठालस्ये गज मार्जे च। शब्दार्थे पचिविस्तारे' इति। पुरुषकार पृष्ठ ५०।

४—तथा च 'गुध रुषि मृद संक्षोदे मृड सुखार्थे च कुन्थ संश्लेषे' इति श्लोकधातुपाठ। पुरुषकार पृष्ठ ७६।

५—श्लोकधातुपाठः—यत उपसंस्कारनिराकारार्थः स निरश्च धान्यधनवाची' इति। पुरुषकार पृष्ठ ७६।

६—'विश मृश णुद प्रवेशामर्शक्षेपेषु षद्लृ विशरणार्थः' इति च श्लोकधातुपाठः। पुरुषकार पृष्ठ ८३।

७—तथा च 'तव[1] पत ऐश्वर्ये वावृतु वर्तने कासृ दीप्त्यर्थे' इति श्लोकधातुकारः।[2] देवराजयज्वा, निघण्टुव्याख्या २।११।२॥

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि पुरुषकार के रचयिता लीलाशुक मुनि और देवराज यज्वा के काल में कोई श्लोकबद्ध धातुपाठ भी विद्यमान था।

धातुपाठ से संबद्ध अन्य ग्रन्थ

धातुपाठ से संबद्ध कतिपय अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं। उनमें अधिकतर ग्रन्थ का संबंध पाणिनीय धातुपाठ से प्रतीत होता है। अतः हम उनका निर्देश पाणिनीय धातुपाठ के प्रसङ्ग में ही करते हैं—

१—आख्यात-निघण्टु—इस ग्रन्थ का उद्धरण लीलाशुक मुनि ने अपने दैव व्याख्यान पुरुषकार में दिया है—

तथा चाख्यातनिघण्टुः—यत्ने प्रैषे निराकारे यातयेदप्युपस्कृतौ इति। ९६ कारिका व्याख्यान, पृष्ठ ७६।

---

१. यहां 'तप' पाठ होना चाहिए।

२. यह पाठ सत्यव्रत सामश्रमी के संस्करण में त्रुटित है। हमने यह पाठ अपने मित्र प० शुचिव्रत जी शास्त्री द्वारा सम्पादित निघण्टुव्याख्या से लिया है। शास्त्री जी ने अनेक हस्तलेखों के आधार पर इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का महान् परिश्रम से सम्पादन किया है। अभी यह प्रकाशित नहीं हुआ।

लीलाशुक मुनि का काल विक्रम की तेरहवीं शती का उत्तरार्ध है। यह हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४४५-४४६ (प्र० सं०) पर सप्रमाण लिख चुके हैं। अतः क्रियानिघण्टु १३ शती से प्राचीन है, यह सुव्यक्त है।

इसके ग्रन्थकर्ता का नाम आदि कुछ ज्ञात नहीं है।

२—आख्यातचन्द्रिका—इस ग्रन्थ का कर्ता भट्टमल्ल है। भट्टमल्ल को मल्लिनाथ ने अपनी नैषधव्याख्या (४।८४) में उद्धृत किया है। अतः भट्टमल्ल मल्लिनाथ से प्राचीन है, इतना ही कहा जा सकता है। मल्लिनाथ ने नैषध १।११ की व्याख्या में साहित्य दर्पण १०।४६ को उद्धृत किया है। साहित्य दर्पण का काल वि० सं. १३६३ के आसपास है।[1]

आख्यातचन्द्रिका के सम्पादक वेङ्कट रङ्गनाथ स्वामी ने लिखा है कि अमरकोष की सर्वानन्दविरचित टीका सर्वस्वव्याख्या में आख्यात चन्द्रिका उद्धृत है। यदि सम्पादक का यह लेख युक्त हो (हमें उक्तवचन उपलब्ध नहीं हुआ) तो निश्चय ही भट्टमल्ल वि० सं० १२२५ से प्राचीन है।

क्षीरस्वामी ने विट आक्रोशे (क्षीरत० १।२१६) धातुसूत्र के व्याख्यान में एक मल्ल नामक विद्वान् को उद्धृत किया है—

अत एव विट शब्दे पिट आक्रोशे इति मल्लः पर्यट्टकान्तरे विभङ्ग्याह।

यह मल्ल आख्यातचन्द्रिका के रचयिता भट्टमल्ल से भिन्न व्यक्ति है अथवा अभिन्न, इसमें कोई प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं हुआ।

वेङ्कट रङ्गनाथ स्वामीने आख्यात चन्द्रिका की भूमिका में आख्यातों के अर्थबोधक निम्न (३-९) ग्रन्थों का निर्देश किया है—

३—कवि रहस्य—यह हलायुध की कृति है। हलायुध का काल वि० सं. १२३०—११६० तक माना जाता है।

४—क्रियाकलाप—इसका रचयिता विद्यानन्द है। इसका काल आदि अज्ञात है।

५—क्रियापर्यायदीपिका—इसका रचयिता वीर पाण्ड्य है। इसका काल आदि भी अज्ञात है।

६—क्रियाकोश—इसका रचयिता रामचन्द्र है। रामचन्द्र नाम के

---

१. द्र० कन्हैयालाल पोद्दार लिखित संस्कृत साहित्य का इतिहास भाग १, पृष्ठ २७३।

अनेक विद्वान् संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध हैं। अतः विशिष्ट प्रमाण के अभाव में इसका कालनिर्णय भी अभी नहीं हो सकता।

७—प्रयुक्ताख्यातमञ्जरी—इसका रचयिता कवि सारङ्ग है।

८—क्रियारत्नसमुच्चय—इस ग्रन्थ का रचयिता गुणरत्न सूरि है। यह ग्रन्थ हैम धातुपाठ की व्याख्यारूप है। अतः इसका वर्णन हैम धातुपाठ के प्रकरण में करेंगे।

९—धातुरूपभेद—दशबल अथवा वरदराज की यह कृति है।

१०—धातुसंग्रह—इस ग्रन्थ का निर्देश जगद्धर ने मालतीमाधव १।१७ की टीका में किया है—

अभिसन्धिर्वञ्चनार्थं इति धातुसंग्रहः।

जगद्धर का काल वि० सं० १३५० है। अतः धातुसंग्रह उससे पूर्ववर्ती है, इतना ही निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

११—ओष्ठ्यकारिका—इसमें केवल ६ कारिकाएँ हैं। इनमें पवर्गीय ब वर्ण वाली धातुओं का संग्रह है। वस्तुतः इन कारिकाओं में समस्त ब वर्ण-वाली धातुओं का संग्रह नहीं है, क्योंकि धातुपाठ में इनसे भिन्न भी बहुत-सी बकार वाली धातुएँ देखी जाती हैं।[1] अतः सम्भव है इन कारिकाओं का सम्बन्ध किसी अज्ञात संक्षिप्त धातुपाठ के साथ हो। अमरटीका सर्वस्वकार ने अपने व्याख्यान में (भाग १ पृष्ठ ७) उद्धृत किया है। अतः वि० सं० १२२५ से प्राचीन अवश्य हैं।

इन कारिकाओं के रचयिता का नाम आदि अज्ञात है

१२—अनिट् कारिका—यह ग्रन्थ आचार्य व्याघ्रभूति का माना जाता है।[2] आचार्य व्याघ्रभूति अति प्राचीन व्यक्ति है। वह निश्चय ही २८०० विक्रमपूर्व से पूर्ववर्ती हैं। पं० गुरुप्रसाद हालदार ने इसे पाणिनि का साक्षात् शिष्य लिखा है।[3] इसमें प्रमाण अन्वेषणीय है।

---

१. द्र० अमरटीकासर्वस्व भाग १, पृष्ठ ८—अर्ब पर्ब बर्ब कर्ब खर्ब गर्ब मर्ब सर्ब चर्ब गतौ इत्ययमपि भीमसेनेन पवर्गान्तप्रकरणे पठितः। मुद्रित ग्रन्थ में अर्व पर्व आदि अन्तस्थ वकारवान् पाठ छपा है, वह चिन्त्य है।

२. यमिर्नमन्तेष्वनिडेक इष्यते इति व्याघ्रभूतिना व्याहृतस्य। शब्द-कौस्तुभ १।१। आ० २, पृष्ठ २२। तर्पि तिपिमिति व्याघ्रभूतिवचनविरोधाच्च। धातुवृत्ति पृष्ठ ८२॥

३. व्याकरण दर्शनेर इतिहास, पृ ४४४।

इन कारिकाओं में कौन सी धातु अनिट् अथवा सेट् हैं, का परिगणन कराया है।

धातुपाठ के व्याख्याता

भगवान् पाणिनि के धातुप्रवचनकाल से लेकर अद्य यावत् अनेक आचार्यों ने पाणिनीय धातुपाठ के व्याख्यान लिखे, इस में कोई सन्देह नहीं। किन्तु उनमें से कतिपय व्याख्याग्रन्थ ही सम्प्रति ज्ञात अथवा उपलब्ध हैं। बहुतों के तो नाम भी करालकाल के गह्वर में विलीन हो गए। हम यहाँ उन धातुवृत्तिकारों का वर्णन करेंगे, जिनके नाम अथवा ग्रन्थ परिज्ञात हैं।

१—पाणिनि

भगवान् पाणिनि ने शब्दानुशासन का प्रवचन करते हुए अष्टाध्यायी के सूत्रों की कोई वृत्ति भी अवश्य बताई, यह हम अनेक सुदृढ़ प्रमाणों के आधार पर इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ३१५-३१७ (प्र० सं०) में विस्तार से लिख चुके। इसी प्रकार पाणिनि ने अपने धातुपाठ का प्रवचन करते हुए उसकी भी कोई वृत्ति शिष्यों को अवश्य बताई होगी, यह अनुमान स्वतः ही उत्पन्न होता है। विना वृत्ति बताए सूत्रग्रन्थ का प्रवचन सर्वथा अशक्य है। इतना ही नहीं, हमारे अनुमान के उपोद्बलक अनेक प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

१—जिस प्रकार पाणिनि ने अष्टाध्यायी का प्रवचन करते समय किन्हीं शिष्यों को किसी प्रकार सूत्रपाठ बताया और दूसरे समय अन्य शिष्यों को दूसरी प्रकार का सूत्र बताया।[1] तथा किन्हीं शिष्यों को किसी सूत्र की कोई वृत्ति बताई, अन्यों को उसी सूत्र की दूसरी प्रकार से वृत्ति समझाई।[2] इसी प्रकार धातुपाठ के प्रवचनकाल में किन्हीं शिष्यों को तप ऐश्वर्ये, वावृतु

---

१. उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः। केचिदाकडारादेका संज्ञा, केचित् प्राक्कडारात् परं कार्यम्। महाभाष्य १।४।१॥ शुभ्राशब्दं स्त्रीलिङ्गमन्ये पठन्ति, ततो ढकं प्रत्युदाहरन्ति शौभ्रेय इति। द्वयमपि चैतत् प्रमाणमुभयथा सूत्रप्रणयनात्। काशिका ४।१।११८॥

२. उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः, केचिद् वाक्यस्य [संप्रसारसंज्ञा] केचिद् वर्णस्य। भर्तृहरिकृत महाभाष्य दीपिका, पृष्ठ ३४१, हमारा हस्तलेख। सूत्रार्थद्वयमपि चैतदाचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः। काशिका ५।१।५०॥

वर्तने इस प्रकार सूत्रविच्छेद बताया, अन्यों को दूसरे समय तप ऐश्वर्ये, वावृतु वर्तने इस प्रकार पढ़ाया। इसी परम्परा को ध्यान में रखकर आचार्य सायण ने लिखा है।

अस्माकं तूभयमपि प्रमाणम् उभयथा शिष्याणां प्रतिपादनात्
धातुवृत्ति पृष्ठ २९३।

२—उदात्त चान्त धातुओं के प्रकरण में अनुदात्त इकारान्त क्षि धातु के पाठ के कारण का निर्देश करते हुए क्षीरस्वामी ने लिखा है—

वक्ष्यति च—

पाठमध्येऽनुदात्तानामुदात्तः कथितः क्वचित्। ११।४९॥
अनुदात्तोऽप्युदात्तानां पूर्वेषामनुरोधतः॥ क्षीरत० १।१४९॥

यहाँ वक्ष्यति क्रिया का कर्ता कौन है, यह क्षीरस्वामी ने व्यक्त नहीं किया। स्वामी के वाक्यविन्यास प्रकार से हमारा अनुमान है कि वक्ष्यति क्रिया का कर्त्ता भगवान् पाणिनि ही है। उसने धातुपाठ का प्रवचन करते हुए और व्याख्या समझाने के लिए जो वृत्ति लिखी होगी, अथवा पढ़ाई होगी, उसी में उक्त श्लोक रहा होगा।

२—सुनाग

महाभाष्य में बहुधा सौनाग वार्तिक उपलब्ध हैं।[1] हरदत्त के वचनानुसार इन वार्तिकों का प्रवक्ता सुनाग नाम का आचार्य है।[2] यह भगवान् कात्यायन से अर्वाचीन है, ऐसा कैयट के लेख से व्यक्त होता है।[3] आचार्य सुनाग के काल आदि के सम्बन्ध में हम इस ग्रन्थ के आठवें आध्याय में लिख चुके हैं। (द्र० भाग १, पृष्ठ २२० प्र० सं०)

वार्तिकों के प्रवचनकर्ता सुनाग ने पाणिनीय धातुपाठ पर भी कोई व्याख्यान लिखा था, यह कतिपय प्रमाणों से जाना जाता है। यथा—

१—काशिका में विभाषा भावादिकर्मणोः (७।२।१७) सूत्र की व्याख्या में वामन लिखता है—

---

१. महाभाष्य २।२।१८; ३।२।५६; ४।१।७४,८७; ४।३।१५६; ६।१।९५॥
२. सुनागस्याचार्यस्य शिष्याः सौनागाः। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ७६१॥
३. कात्यायनाभिप्रायमेव प्रदर्शयितुं सौनागैर्विस्तरेण पठितमित्यर्थः। भाष्य प्रदीप २।२।१८॥

सौनागाः कर्मणि निष्ठायां शकेरिटमिच्छन्ति विकल्पेन, अस्यतेर्भावे।

अर्थात्—सुनाग के शिष्य कर्म में प्रयुक्त निष्ठा में शक धातु से विकल्प से इट् चाहते हैं और असु क्षेपे से भाव में।

२—इसी सौनाग मत का निर्देश सायण ने अनेक स्थानों पर किया है।[1]

३—क्षीरतरङ्गिणी के आदि और अन्त में धात्वर्थसंबन्धी सौनाग मत इस प्रकार उद्धृत है—

धातूनामर्थनिर्देशोऽयं निदर्शनार्थ इति सौनागाः। यदाहुः—
क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकोऽत्रार्थः प्रदर्शितः।
प्रयोगतोऽनुगन्तव्या अनेकार्था हि धातवः॥[2]

अर्थात्—धातुओं का अर्थ-निर्देश निदर्शनार्थ है, ऐसा सौनागों का मत है। जैसा कि कहा है—यहाँ धातुओं का क्रियावाचित्व दर्शाने के लिए एक अर्थ लिखा है। धातुएँ अनेकार्थ हैं, उनके अर्थ प्रयोग से जानने चाहिएँ।

वामन और क्षीरस्वामी द्वारा उद्धृत मत धातुपाठविषयक ही हैं, यह स्पष्ट है। इन मतों का प्रतिपादन भगवान् सुनाग ने कहाँ किया था, यह उद्धर्ता लोगों ने नहीं बताया। इनमें प्रथम मत उसके वार्तिक पाठ में भी निर्दिष्ट हो सकता है। परन्तु क्षीरस्वामी द्वारा उद्धृत मत का निर्देश उसके धातुव्याख्यान में ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं। इससे अनुमान होता है कि आचार्य सुनाग ने भी पाणिनीय धातुपाठ पर किसी व्याख्यान का प्रवचन किया था।

३—भीमसेन

किसी भीमसेननामा वैयाकरण का पाणिनीय धातुपाठ के साथ कोई महत्वपूर्ण सम्बन्ध था, यह अनेक ग्रन्थकारों के वचनों से स्पष्ट विदित होता है। यथा—

१—क्रियारत्नसमुच्चय का लेखक गणरत्न सूरि (संवत् १४६६) लिखता है—

---

१. शक धातु, पृष्ठ ३०१; अस धातु, पृष्ठ ३८७; शक्लृ धातु, पृष्ठ ३१९।

२. क्षीरत० पृष्ठ ३,३२३ हमारा संस्क०। चुरादि (पृष्ठ ३२३) में द्वितीय चरण 'एकैकोऽर्थो निदर्शितः' है और तृतीय चरण 'प्रयोगतोऽनुमातव्याः' है। यह श्लोक चान्द्र धातुपाठ के अन्त में भी उपलब्ध होता है। वहाँ तृतीय चरण 'प्रयोगतोऽनुगन्तव्याः' है।

अर्चि-अर्दि-तर्पि-वर्दि-मृषयः परस्मैपदिन इति भीमसेनीयाः । क्रियारत्नसमुच्चय पृष्ठ २८४ ।

अर्थात्—अर्चि अर्दि तर्पि वदि मृषि ये परस्मैपदी हैं, ऐसा भीमसेनप्रोक्त ग्रन्थ के अध्येता मानते हैं ।

२—सर्वानन्द (सं० १२१५) अपने अमरटीका सर्वस्व नामक व्याख्यान में लिखता है—

अर्ब पर्ब बर्ब कर्ब खर्ब गर्ब मर्ब सर्ब चर्ब गतौ इत्ययमपि भूवादौ भीमसेनेन पवर्गान्तप्रकरणे पठितः ।[1] अमर टीका १।१।७, भाग १, पृष्ठ ८।

अर्थात्—भीमसेन ने अर्ब आदि धातुओं को भ्वादि गण में पवर्गान्त प्रकरण में पढ़ा है ।

३—सर्वानन्द से प्राचीन मैत्रेय रक्षित (सं० ११६५) धातुप्रदीप के आदि में भीमसेन को स्मरण करता है—

बहुषोऽमून् यथा भीमः प्रोक्तवांस्तद्वदागमात् ।[2]

४—मैत्रेय से भी बहुत प्राचीन उमास्वाति-भाष्य का व्याख्याता सिद्धसेन गणी लिखता है—

भीमसेनात् परतोऽन्यैर्वैयाकरणैरर्थद्वयेऽपठितोऽपि......।[3]
पृष्ठ २९४ ।

५—भट्टोजिदीक्षित, नागेश भट्ट आदि का मत है कि पाणिनीय धातुपाठ के अर्थों का निर्देश भीमसेन ने किया है (प्रमाण पूर्व उद्धृत कर चुके)।

६—भीमसेनीय धातुपाठ के हस्तलेख अनेक हस्तलेख संग्रहों में विद्यमान हैं। एक हस्तलेख लाहौर के दयानन्द महाविद्यालय अन्तर्गत लालचन्द पुस्तकालय में था (लालचन्द पुस्तकालय के हस्तलेख सम्प्रति साधु आश्रम होशियार पुर में सुरक्षित हैं) । इसकी एक प्रतिलिपि हमारे भारतीय प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान के संग्रह में भी है ।

इन प्रमाणों से इतना सुव्यक्त है कि भीमसेन का पाणिनीय धातुपाठ के साथ कोई विशिष्ट संबन्ध अवश्य था ।

१—टीकासर्वस्व में ये धातुएँ वकारान्त (अन्तस्थान्त) छपी हैं । वह मुद्रणदोष है ।

२—इसकी व्याख्या पूर्व कर चुके हैं ।

३—इस उद्धरण का निर्देश भी पहले कर चुके हैं ।

भीमसेन का काल—इस वैयाकरण भीमसेन ने अपने जन्म से किस देश और काल को अलंकृत किया, यह अज्ञात है। भीमसेनसंबंधी जितने निर्देश विविध ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, उनमें सिद्धसेन गणी का निर्देश सब से प्राचीन है। सिद्धसेन गणी का काल विक्रम की ७वीं शती है, ऐसा ऐतिहासिकों का मत है। भीमसेन इससे भी बहुत प्राचीन है, यह उसकी अवरसीमा है। कई लोग इसको पाण्डुपुत्र धर्मराज का अनुज मानते हैं, यह नाम सादृश्यमूलक भ्रान्ति है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

धातुपाठ के साथ भीमसेन का सम्बन्ध—भीमसेनसम्बन्धी जो निर्देश प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, उनसे इतना स्पष्ट है कि भीमसेन का पाणिनीय धातुपाठ के साथ कोई विशिष्ट सम्बन्ध है। 'भीमसेनीय धातुपाठ' नाम से हस्तलिखित पुस्तक संग्रहालयों में उपलभ्यमान धातुपाठ के कोश भी इस विशिष्ट सम्बन्ध के प्रज्ञापक हैं। परन्तु यह विशिष्ट सम्बन्ध किस प्रकार का है, इस विषय में वैयाकरणों में मतभेद है। कई ग्रन्थकार कहते हैं कि भीमसेन ने पाणिनीय धातुओं का प्रथमतः अर्थनिर्देश किया। अन्य लेखकों का मत है कि भीमसेन ने पाणिनीय धातुपाठ पर कोई व्याख्या लिखी थी। इन में से प्रथम मत प्रमाणशून्य है, यह हम पूर्व प्रतिपादन कर चुके हैं। अब द्वितीय मत के सम्बन्ध में विचार करते हैं।

धातुवृत्तिकार—हमारा अपना मत है कि भीमसेन ने पाणिनीय धातुपाठ पर कोई वृत्तिग्रन्थ लिखा था। इसके उपोद्बलक निम्न प्रमाण हैं—

१—आचार्य हेमचन्द्र हैमशब्दानुशासन २।१।८८ की बृहद् वृत्ति में लिखता है—

अन्ये त्वदूटि पठन्ति। इसकी स्वोपज्ञ बृहन्न्यास नाम्नी व्याख्या में हेमचन्द्राचार्य ने लिखा है—

अन्ये त्विति-भीमसेनादयः।

२—कविकल्पद्रुम की टीका में दुर्गादास लिखता है—

स्तम्भ इह क्रियानिरोध इति भीमसेनः। पृष्ठ १७१।

स्तुन्भु स्तम्भे सौत्र धातु है। इसका धातुपाठ में उपदेश नहीं है। धातुवृत्तिकार प्रसंगवश सौत्र धातुओं का व्याख्यान भी अपनी वृत्तियों में करते हैं। दुर्गादास का कथन है कि स्तन्भु स्तम्भे धातु का जो स्तम्भ अर्थ है, उसका अभिप्राय यहाँ क्रियानिरोध है, ऐसा भीमसेन का कथन है। भीमसेन स्तम्भ

का क्रियानिरोध अर्थ धातुवृत्ति में ही लिख सकता है, धात्वर्थनिर्देश में इसका कोई प्रसंग ही नहीं, क्योंकि धात्वर्थनिर्देश तो 'स्तम्भ' ही है। इससे स्पष्ट है कि भीमसेन ने कोई धातुवृत्ति ग्रन्थ लिखा था, उसी में स्तम्भ का क्रियानिरोध अर्थ दर्शाया होगा।

३—'दैव' ग्रन्थ का व्याख्याता कृष्ण लीलाशुक मुनि लिखता है—

क्षप प्रेरणे भीमसेनेन कथादिष्वपठितोऽप्ययं 'बहुलमेतन्निदर्शनम्' इत्युदाहरणत्वेन धातुवृत्तौ पठ्यते। पृष्ठ ९५।

अर्थात्—कथादि में अपठित 'क्षप प्रेरणे' धातु को भीमसेन ने 'बहुलमेतन्निदर्शनम्' के उदाहरण रूप से धातुवृत्ति में पढ़ा है।

४—यही पाठ स्वल्प भेद से देवराज यज्वा के निघण्टु व्याख्यान (पृष्ठ ४३, १०९) में दो बार उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त पाठ में धातुवृत्तौ पठ्यते का कर्ता भीमसेन के अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता, क्योंकि दूसरे कर्ता का निर्देश वाक्य में नहीं है। इससे स्पष्ट है कि भीमसेन ने कोई धातुवृत्ति नामक धातुव्याख्यान ग्रन्थ लिखा था, उसी में उसने बहुलमेतन्निदर्शनम् धातुसूत्र की व्याख्या में अपठित क्षप प्रेरणे धातु का निर्देश किया था और उसी में स्तम्भु स्तम्भे धातु के स्तम्भ का अर्थ क्रियानिरोध लिखा था।

४—अज्ञातनामा

किसी प्राचीन अज्ञातनामा विद्वान् ने धातुपाठ पर एक वृत्तिग्रन्थ लिखा था। इस वृत्तिकार और इसके वृत्ति ग्रन्थ के अनेक उद्धरण क्षीरतरङ्गिणी, पुरुषकार और निघण्टुव्याख्या आदि में उपलब्ध होते हैं। यथा—

१—क्षीरस्वामी श्रथि शैथिल्ये धातुसूत्र के व्याख्यान में लिखता है—

शश्रन्थे.....इदित्त्वादनुनासिकलोपाभावः। श्रेथे इति तूदाहरन् वृत्तिकृद् भ्रान्तः। क्षीरत० १।२९१॥

अर्थात्—शश्रन्थे में धातु के इदित होने से नकार का लोप नहीं होता। श्रेथे ऐसा उदाहरण देता हुआ वृत्तिकृद् भ्रान्त हुआ है।

वृत्तिकृद् = धातुवृत्तिकार—'वृत्तिकृद्' तथा 'वृत्तिकार' शब्द प्रायः काशिकावृत्ति के रचयिताओं के लिए प्रयुक्त होता है, परन्तु यहाँ वृत्तिकृद् पद

किसी धातुवृत्ति के रचयिता का बोधक है। सायणाचार्य ने क्षीरस्वामी के उपर्युक्त पाठ को उद्धृत करके लिखा है—

अत्र तरङ्गिणी—इदित्त्वादनुनासिकलोपाभावात् श्रेथे ग्रेथे इत्युदाहरन् वृत्तिकारो भ्रान्त इति। अत्र वृत्तिकारो धातुवृत्तिकृदुच्यते। धातुवृत्ति पृष्ठ ४६।

२—देवराज यज्वा निघण्टु १।१।३ की व्याख्या में लिखता है—

अञ्जू व्यक्तिम्रक्षगकान्तिगतिषु, म्रक्षणं सेचनमिति तद्वृत्तिः।

अर्थात्—म्रक्षण का अर्थ सेचन है, ऐसा वृत्ति का मत है।

इन उद्धरणों में स्मृत धातुवृत्तिकार अथवा धातुवृत्ति भीमसेन अथवा उसका धातुवृत्ति ग्रन्थ न हो, तो क्षीरस्वामी से पूर्ववर्ती किसी वैयाकरण ने धातुवृत्ति लिखी थी, ऐसा निःसंशय कहा जा सकता है।

५—नन्दिस्वामी

क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी में बहुत्र नन्दी के नाम से धातुपाठ विषयक पाठ उद्धृत किए हैं। क्षीरतरङ्गिणी धातुसूत्र १।२२६। (पृष्ठ ५६) में नन्दिस्वामिनौ पाठ मिलता है। इसका पाठान्तर 'नन्दिस्वामी' भी है। दैव व्याख्यान पुरुषकार (पृष्ठ ५१) में सुधाकर का जो पाठ उद्धृत है, उसमें 'नन्दिस्वामी' का भी निर्देश है।

यह नन्दिस्वामी यदि जैनेन्द्रव्याकरणप्रवक्ता देवनन्दी से भिन्न व्यक्ति हो, तब निश्चय ही यह पाणिनीय धातुपाठ का व्याख्याता हो सकता है; अन्यथा सन्दिग्ध है।

६—राजश्री धातुवृत्तिकार (१२१५ वि० पूर्व)

सर्वानन्द ने अमरटीका सर्वस्व भाग १ पृष्ठ १५२ पर राजश्री धातुवृत्ति का एक पाठ उद्धृत किया है—

दीर्घत्वे सूक्ष्णमिति राजश्रीधातुवृत्तिः।

इस राजश्री धातुवृत्ति का लेखक कौन था, यह अज्ञात है। सम्भव है लेखक का नाम राजश्री हो। यह धातुवृत्ति क्षीरस्वामी से पूर्वभावी है अथवा उत्तरवर्ती, यह अज्ञात है।

७—नाथीय धातुवृत्ति (१२१५ वि० पूर्व)

सर्वानन्द ने अमरटीका सर्वस्व २।६।१०० में लिखा है—

नाथीयधातुवृत्तावपि कोषवन्मूर्धन्यषत्वं तालव्यशत्वं चोक्तम्।
भाग २, पृष्ठ ३६०।

इस नाथीय धातुवृत्ति के लेखक का नाम अज्ञात है। सम्बन्ध किस व्याकरण के साथ है, यह भी अज्ञात है।

रमानाथ-विरचित कातन्त्र धातुवृत्ति का वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे। पदैकदेशन्याय से रमानाथविरचित धातुवृत्ति भी नाथीय नाम से व्यवहृत हो सकती है, परन्तु रमानाथ का काल १५९३ विक्रम सं० है, यह हम उसी प्रकरण में लिखेंगे। अतः इस धातुवृत्ति का रमानाथ के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

८—क्षीरस्वामी (१११५–११६५ वि०)

क्षीरस्वामी नामक शब्दशास्त्रनिष्णात व्यक्ति ने पाणिनीय धातुपाठ के औदीच्य पाठ पर क्षीरतरङ्गिणी नाम का एक वृत्तिग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ को प्रथमवार प्रकाश में लाने का श्रेय जर्मन विद्वान् लिबिश को है उसने इस ग्रन्थ को रोमन अक्षरों में प्रकाशित किया था। उसके चिरकाल से उत्सन्न हो जाने पर इसका एक संस्करण हमने प्रकाशित किया। वह रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की ग्रन्थमाला में छपा है।

परिचय

क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी और अमरकोशोद्घाटन में अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया। अतः इस महावैयाकरण का वृत्तान्त सर्वथा अज्ञात है।

पितृनाम—क्षीरतरङ्गिणी में भ्वादि और अदादि गण के अन्त में
•••भट्टेश्वरस्वामिपुत्रक्षीरस्वाम्युत्प्रेक्षितायां•••।

पाठ उपलब्ध होता है। इससे विदित होता है कि क्षीरस्वामी के पिता का नाम भट्ट ईश्वर स्वामी था।

शाखा—क्षीरस्वामी ने यज धातु की व्याख्या में लिखा है—
यजुः काठकम्। १।७२९॥

एकसौ एक शाखावाले यजुर्वेद में यजुः के उदाहरण प्रसंग में काठक

नाम का उल्लेख करना सूचित करता है कि क्षीरस्वामी सम्भवतः काठक शाखाध्येता था।

देश—क्षीरस्वामी ने अपने जन्म से भारत के किस प्रान्त, नगर वा ग्राम को अलङ्कृत किया, इसका कुछ भी साक्षात् परिचय नहीं मिलता। क्षीरतरङ्गिणी और अमरकोश के आरम्भ में वाग्देवी की प्रशंसा करने से तथा क्षीरतरङ्गिणी के अन्त में दृश्यमान श्लोक[1] से प्रतीत होता है कि क्षीरस्वामी संभवतः कश्मीर प्रदेश का निवासी था। क्षीरस्वामी का कठशाखाध्यायी होना भी इस अनुमान का पोषक है। कठशाखाध्येता ब्राह्मण कश्मीर में ही उपलब्ध होते हैं।

काल—क्षीरस्वामी किस काल में हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। तथापि उसके काल के परिच्छेदक निम्न प्रमाण हैं—

१—एक क्षीर नामक शब्द विद्योपाध्याय कल्हण कृत राजतरङ्गिणी में स्मृत है—

> देशान्तरादागमय्याथ व्याचक्षाणान् क्ष्मापतिः।
> प्रावर्तयद् विच्छिन्नं महाभाष्यं स्वमण्डले॥
> क्षीराभिधानाच्छब्दविद्योपाध्यायात् सम्भृतश्रुतः।
> बुधैः सह ययौ वृद्धिं स जयापीडपण्डितः॥४।४८८,४८९॥

अर्थात्—जयापीड नृपति ने देशान्तर से क्षीरसंज्ञक शब्दविद्योपाध्याय को बुलाकर अपने मण्डल (कश्मीर) में विच्छिन्न महाभाष्य को पुनः प्रवृत्त किया।

कश्मीर-नृपति जयापीड का राज्यकाल वि० सं० ८०८-८३९ पर्यन्त माना जाता है। क्षीरस्वामी क्षीरतरङ्गिणी और अमरकोश टीका में श्री भोज और उसके सरस्वतीकण्ठाभरण को बहुधा उद्धृत किया है। इसलिए यह क्षीरस्वामी कल्हण द्वारा स्मृत क्षीर संज्ञक वैयाकरण से भिन्न है, यह स्पष्ट है।

२—वर्धमान ने संवत् ११९७ में स्वविरचित गणरत्न-महोदधि में क्षीरस्वामी को दो बार उद्धृत किया है।

(क) ज्योतींषि ग्रहनक्षत्रादीनि वेत्ति ज्यौतिषिक इति वामनक्षीरस्वामिनौ। ४।३०३, पृष्ठ १८३॥

---

1. कश्मीरमण्डलभुवं जयसिंहनाम्नि विश्वम्भरापरिवृढे दृढदीर्घदोष्णि। शासत्यमात्यवरसूनुरिमां लिलेख भक्त्या स्वयं द्रविणवानपि धातुपाठम्॥
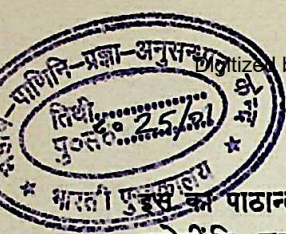
इस का पाठान्तर इस प्रकार है।

ज्योतींषि ग्रहादीनधिकृत्य कृतो ग्रन्थो ज्योतिषः, ज्योतिषं वेद ज्यौतिषिकः। द्र० पृष्ठ १८३, टि० २।

इनमें पाठान्तर में निर्दिष्ट पाठ क्षीरस्वामी की अमरकोशव्याख्या से (२।८।१४) से अक्षरशः मिलता है।

(ख) क्षीरस्वामिना मार्षं मारिष इत्यपि, यथा पर्षत् परिषदिति टीकायां विवृतम्। ७।४३०, पृष्ठ २३८॥

इसका पाठान्तर इस प्रकार है—

मर्षणात् सहनात् मारिषः। मार्षोऽपि। यथा परिषत् [पर्षत्]।
द्र० पृष्ठ २३८, टि० २।

इनमें भी पाठान्तर में निर्दिष्ट पाठ क्षीरस्वामी की अमरटीका में मारिष पद के व्याख्यान में उपलब्ध होता है।

गणरत्न-महोदधि के मुद्रित संस्करणों की भ्रष्टता—उपर्युक्त उद्धरणों की तुलना से स्पष्ट है कि गणरत्न-महोदधि का योरोपीय और उसके आधार पर छपा भारतीय दोनों संस्करण अत्यन्त भ्रष्ट हैं। गणरत्न महोदधि जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के शुद्ध संस्करण की महती आवश्यकता है। इस समय इसका कोई भी संस्करण सुप्राप्य नहीं है।

३—आचार्य हेमचन्द्र (वि. सं. ११४५-१२२९) ने हैम अभिधान की स्वोपज्ञ चिन्तामणि व्याख्या में क्षीरस्वामी के निम्न पाठ उद्धृत किये हैं।

(क) क्षीरस्वामी तु—'काष्ठमुपलक्षणम्, काष्ठाऽश्मादिमयी जलधारिणी द्रोणी इति व्याचख्यौ। ३।५४१, पृष्ठ ३५०॥

क्षीरस्वामी का यह पाठ उस की अमरकोश १।९।११ की व्याख्या (पृष्ठ ६३) में उपलब्ध होता है।

(ख) 'हितजलापभ्रंशो हिज्जलः' इति क्षीरस्वामी। ४।२११, पृष्ठ ४६१॥

क्षीरस्वामी का यह पाठ उसकी अमरकोश २।४।६१ की व्याख्या (पृष्ठ ६३) में उपलब्ध होता है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि क्षीरस्वामी आचार्य हेमचन्द्र से पूर्ववर्ती है।

क्षीरतरङ्गिणी के उपोद्घात (पृष्ठ ३२) में हमने श्री पं० चन्द्रसागर सूरि के प्रमाण से क्षीरस्वामी को हैम से पूर्ववर्ती माना था। उस समय तक हमें साक्षात्

ऐसा वचन उपलब्ध नहीं हुआ था, जिससे क्षीरस्वामी और हेमचन्द्राचार्य का निश्चित पौर्वापर्य परिज्ञात हो।

४—क्षीरतरङ्गिणी के हस्तलेख के अन्त में निम्न पद्य उपलब्ध होता है—

कश्मीरभुवमण्डलं जयसिंहनाम्नि विश्वम्भरापरिवृढे दृढदीर्घदोष्णि।
शासत्यमात्यवरसूनुरिमां लिलेख भक्त्या स्वयं द्रविणवानपि धातुपाठम्॥

अर्थात्—कश्मीर-अधिपति जयसिंह के किसी अमात्य के पुत्र ने क्षीरतरङ्गिणी की प्रतिलिपि की थी।

उक्त श्लोक में स्मृत जयसिंह नृपति का राज्यकाल वि० सं० ११८५-११९५ तक है। इस काल के मध्य में क्षीरतरङ्गिणी की प्रतिलिपि करने से विदित होता है कि क्षीरस्वामी उक्त समय से पूर्ववर्ती है।

५—मैत्रेय रक्षित ने वि० सं० ११६५ से ११९० के मध्य अपना धातुप्रदीप ग्रन्थ लिखा था, यह हम इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ २८३ (प्र० सं०) पर लिख चुके हैं। मैत्रेय रक्षित धातुप्रदीप में बहुत स्थानों पर केचित्, एके, अपरे पदों से क्षीरस्वामी के मतों का निर्देश करता है। यथा—

(क) ऋञ्जते, ऋञ्जाञ्चक्रे········। केचित्तु आनृञ्जे इति प्रत्युदाहरन्ति। पृष्ठ २०॥

क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी १।११० में ऋञ्जते, आनृञ्जे उदाहरण दिए हैं। क्षीरतरङ्गिणी १।११० (पृष्ठ ३६) की हमारी टिप्पणी भी द्रष्टव्य है।

(ख) तुहिर् दुहिर् इत्येके। पृष्ठ ५२।

इसके लिए क्षीरतरङ्गिणी १।४८७ द्रष्टव्य है।

(ग) अपरे तु वावृतु वरणे इति परस्मिन् वाग्रहणं संबध्य धातुमेकार्थमनेकाचं मन्यन्ते वावृतु वरणे इति वावृत्यते। ततो वावृत्यमाना सा रामशालां न्यविक्षतेति। पृष्ठ ९२॥

क्षीरस्वामी क्षीरतरङ्गिणी ४।४९ में लिखता है—

वावृतु वरणे। वावृत्यते। ततो वावृत्यमाना सा रामशालामविक्षत इति भट्टिः।

यहाँ निश्चय ही मैत्रेय अपरे पद से क्षीरस्वामी का ही निर्देश करता है।

(घ) प्रतिचलनयोरित्येके। पृष्ठ १०३।

क्षीरतरङ्गिणी का मुद्रित पाठ 'स्मृ प्रीतिवलनयोः। वलनं जीवनम्' (पृष्ठ

२२८) है, तथापि क्षीरस्वामी का स्वपाठ प्रीतिचलनयोः चलनं जीवनम् ही था, यह माधवीया धातुवृत्ति पृष्ठ ३१८ के निम्न पाठ से व्यक्त है—

प्रीतिचलनयोरित्यन्ये। चलनं जीवनमिति स्वामी।

(ङ) प्वाद्यस्त्वागणान्ताः। तेषामपि समाप्त्यर्थमत्र वृत्करणमित्येके। पृष्ठ १२७॥

यह संकेत भी क्षीरतरङ्गिणी ९।३३ के वृत्—ल्वाद्यः प्वाद्यश्च वर्तिताः। पाठ की ओर है।

(च) भासार्था इत्येके भासार्था दीप्त्यर्थाः। पृष्ठ १४४।

यद्यपि सम्प्रति क्षीरतरङ्गिणी १०।१९७ में भासार्था दीप्त्यर्थाः पाठ नहीं मिलता, पुनरपि सायण के काल में यह पाठ क्षीरतरङ्गिणी में विद्यमान था। सायण लिखता है—

तथा च क्षीरस्वामी—भासा दीप्तिरर्थो येषां ते भासार्थाः इति। धातुवृत्ति पृष्ठ ३९३॥

(छ) पुरुषकार कृष्णलीला शुकमुनि लिखता है—

तथा च मैत्रेयरक्षितः स्वादिगणे 'तृप प्रीणने' इत्यस्यानन्तरं पठ्यमानं 'छन्दसि' इत्येतद् व्याचक्षाणः 'छन्दसीत्यागणपरिसमाप्तेरधिक्रियते इति क्षीरस्वामिवद् उक्त्वा······। पुरुषकार पृष्ठ २४।

इन कतिपय उद्धरणों से व्यक्त है कि क्षीरस्वामी मैत्रेय रक्षित से प्राचीन है। इसलिए वि० सं० ११६५ से प्राचीन है क्षीरस्वामी, इतना निश्चित है।

क्षीरस्वामी स्वीकृत धातुपाठ

क्षीरस्वामी ने पाणिनीय धातुपाठ के औदीच्य पाठ पर अपनी वृत्ति लिखी है यह हम पूर्व विस्तार से लिख चुके।

क्षीरतरङ्गिणी का हमारा संस्करण

जर्मन विद्वान् लिबिश ने क्षीरतरङ्गिणी का रोमन अक्षरों में जो संस्करण प्रकाशित किया था वह उसके महान् परिश्रम का फल था, इसमें कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है। हमारे संस्करण का मूल आधार यद्यपि लिबिश का संस्करण ही था, पुनरपि हमने व्याकरण के समस्त उपलब्ध वाङ्मय में उद्धृत क्षीरतरङ्गिणी के पाठों का संग्रह करके उनके प्रकाश में अपने संस्करण का सम्पादन किया है। प्रतिपृष्ठ व्याकरण आदि विविध शास्त्रसंबद्ध अनेक टिप्पणियाँ दी हैं। हमारे

संस्करण में जर्मन संस्करण की अपेक्षा २६ प्रकार का वैशिष्ट्य है। यह सब हमारे संस्करण तथा उसके उपोद्घात पृष्ठ ४३–४७ के अवलोकन से ही भले-प्रकार ज्ञात हो सकता है।

क्षीरस्वामी के अन्य ग्रन्थ

क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी के अतिरिक्त पांच ग्रन्थ और लिखे हैं। वह क्षीरतरङ्गिणी के आरम्भ में लिखता है—

न्याय्ये वर्त्मनि वर्तनाय भवतां षड् वृत्तयः कल्पिताः।

यही बात अमरकोश की व्याख्या के आदि में भी कही है। क्षीरतरङ्गिणी के अतिरिक्त पाँच अन्य वृत्तियों के नाम इस प्रकार हैं—

१—अमरकोषोद्घाटनम्—यह ग्रन्थ दो तीन बार प्रकाशित हो चुका है।

२—निपाताव्ययोपसर्गवृत्ति—इसका एक हस्तलेख अडियार (मद्रास) के पुस्तकालय में सुरक्षित है। इसका क्रमाङ्क ४८७ है। यह हस्तलेख तिलक नाम्नी व्याख्या सहित है। हस्तलेख के अन्त में लिखा है—

भट्टक्षीरस्वाम्युत्प्रेक्षितनिपाताव्ययोपसर्गीये तिलककृता वृत्तिः संपूर्णेति। भद्रं पश्येम प्रचरेम भद्रम्......।

३—गणवृत्ति—यह गणपाठ की व्याख्या प्रतीत होती है। इसका हस्तलेख अभी तक अज्ञात है।

४—अमृततरङ्गिणी—इसका निर्देश क्षीरतरङ्गिणी में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

कर्मयोगामृततरङ्गिण्याम्—

प्रत्ययोऽकर्मकाद् भावे कर्मणि वा स्यात् सकर्मकात्।
सकर्मकाकर्मकत्वं द्रव्यकर्मनिबन्धनम्।।१।१ पृष्ठ ७।

इस पर पाठान्तर है—

यन्ममैवामृततरङ्गिण्यामुक्तम्—प्रत्ययो......बन्धनम्।

इस उद्धरण से प्रतीत होता है कि अमृततरङ्गिणी का दूसरा नाम कर्मयोगामृततरङ्गिणी भी है। यह ग्रन्थ व्याकरणशास्त्र सम्बन्धी प्रतीत होता है।

५—अज्ञात वा संदिग्ध—देवराजयज्वा ने अपनी निघण्टु व्याख्या के आरम्भ में क्षीरस्वामी कृत निघण्टुटीका[1] को स्मरण किया है। यह निघण्टु

---

1. क्षीरस्वाम्यनन्ताचार्यादिकृतां निघण्टुव्याख्याम्। पृष्ठ ४॥

टीका वैदिक यास्कीय निघण्टु की प्रतीत नहीं होती, क्योंकि देवराज यज्वा द्वारा निघण्टु टीका में स्मृत क्षीरस्वामी के ३२ उद्धरणों में से ३० उद्धरण क्षीरस्वामी की अमरटीका में उपलब्ध होते हैं।[1] अवशिष्ट दो उद्धरणों में से एक उद्धरण शब्दनं शब्दः (निघण्टु टीका १।११।३२) क्षीरतरङ्गिणी १।७२७ के व्याख्यान में उपलब्ध होता है। देखिए पृष्ठ १५८ की टिप्पणी में निर्दिष्ट 'शब्दः शब्दनम्' पाठ। इस प्रकार अब एक ही उद्धरण ऐसा है जो अभी अज्ञात है, वह भी सम्भव है कुछ पाठभेद से क्षीरतरङ्गिणी में ही हो।

यतः लोक में कोशग्रन्थों के लिए निघण्टु शब्द का भी व्यवहार होता है, अतः देवराज के निघण्टु व्याख्या' पद से वैदिक निघण्टु व्याख्या की कल्पना करना ठीक नहीं है,[2] जब कि क्षीरस्वामी के ३२ उद्धरणों में से ३० उद्धरण उसकी अमरकोश की व्याख्या में उपलब्ध हो चुके हों।

ऐसी अवस्था में क्षीरस्वामी की छठी वृत्ति किस ग्रन्थ पर थी, यह अज्ञात है।

क्षीरस्वामी का अन्य ग्रन्थ

नाट्यदर्पण पृष्ठ १५५ (बड़ोदा सं०) में निम्न पाठ है—

यथा क्षीरस्वामिविरचितेऽभिनवराघवे—
स्थापकः—(सहर्षम्) आर्ये चिरस्य स्मृतम्।
अस्त्येव राघवमहीन कथापवित्रम्
काव्यं प्रबन्धघटनाप्रथितप्रथिम्नः।
भट्टेन्दुराजचरणाब्जमनुव्रतस्य
क्षीरस्य नाटकमनन्यसमानसारम्॥

यह क्षीरस्वामी पूर्वनिर्दिष्ट क्षीर से संभिन्न है अथवा अभिन्न, यह अज्ञात है। यदि उपर्युक्त श्लोक में स्मृत भट्ट इन्दुराज ही क्षीरस्वामी द्वारा क्षीरतरङ्गिणी

---

१. पं० भगवद्दत्तकृत वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वेदों के भाष्यकार पृष्ठ २०८,२०९॥

२. इस बात को न समझकर मैकडानल ने षड्गुरुशिष्य की सर्वानुक्रमणी की व्याख्या में उद्धृत 'यातयामो जीर्णे भुक्तोच्छिष्टेऽपि च इति निघण्टौ' (पृष्ठ ५९) तथा 'शङ्कावितर्कभययोरिति निघण्टुः' उद्धरणों के विषय में लिखा है—कि यह यास्कीय निघण्टु में नहीं है। षड्गुरुशिष्य द्वारा उद्धृत दोनों वचन वैजयन्ती कोश में क्रमशः पृष्ठ २२३,२७५ पर मिलते हैं॥

(पृष्ठ ७) में स्मृत भट्ट शशाङ्कधर है, तब तो निश्चय ही दोनों एक हैं और इसी क्षीरस्वामी का अभिनवराघव नाटक है, ऐसा मानना पड़ेगा ।

६—मैत्रेय रक्षित (सं० ११४०–११६५)

मैत्रेय रक्षित नाम के बौद्ध विद्वान् ने धातुपाठ पर धातुप्रदीप नाम की एक लघु वृत्ति रची । यह वृत्ति वरेन्द रिसर्च सोसाइटी राजशाही बङ्गाल से प्रकाशित हो चुकी है ।

परिचय

मैत्रेय रक्षित ने किस कुल में, किस देश या नगर में और किस काल में जन्म लिया, यह अज्ञात है ।

सम्भवतः बंगवासी—धातुप्रदीप में अनेक स्थानों पर धातुओं के आरंभ में दन्त्योष्ठ्य वकार होने से न शसददवादिगुणानाम् (अष्टा० ६।४।१२६) सूत्र से एत्व और अभ्यास लोप का साक्षात् प्रतिषेध प्राप्त होने पर भी चन्द्राचार्य की सम्मति से एत्व और अभ्यासलोप को उदाहृत किया है । यथा—

(क) वज व्रज गतौ (१।२४९, २५०)······एत्वाभ्यासलोपप्रतिषेधश्चास्य चान्द्रैरुदाहृतः, ववाज ववजतुः······ । पृष्ठ २५ ॥

(ख) ष्टन वन शब्दे (१।४६०, ४६१)······ववान ववनतुः । अस्यैत्वाभ्यासलोपनिषेधश्चान्द्रैरुदाहृतः । पृष्ठ ३७ ।

साक्षात् पाणिनि के सूत्र से एत्वाभ्यासलोप का निषेध प्राप्त होने पर भी चन्द्राचार्य के मत का आश्रय लेना, इस बात का प्रमाण है कि मैत्रेय रक्षित को दन्त्योष्ठ्य व और औष्ठ्य ब में साक्षात् भेदपरिज्ञान नहीं था । व—ब में समान उच्चारण दोष के कारण बाङ्ग विद्वान् इनके भेदग्रह में प्रायः मोहित होते हैं । इसी मोह के कारण मैत्रेय रक्षित ने भी साक्षात् पाणिनीय नियम का आश्रयण न करके चान्द्र मत का आक्रमण किया । अतः प्रतीत होता है कि मैत्रेय रक्षित सम्भवतः वङ्गदेशवासी था ।

काल—मैत्रेयरक्षित का ग्रन्थलेखनकाल वि० सं० ११४०-११६५ के मध्य में रहा होगा, यह हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ २८३ (प्र० सं०) में विस्तार से लिख चुके हैं ।

विद्वत्ता—मैत्रेय रक्षित व्याकरण शास्त्र का असाधारण विद्वान् था । इसने न्यास पर तन्त्रप्रदीप नाम्नी जो विपुल व्याख्या रची है, उससे इसकी

असाधारण विद्वत्ता का परिचय अनायास प्राप्त होता है। मैत्रेय ने धातुप्रदीप के अन्त में स्वयं भी कहा।

वृत्तिन्यासं समुद्दिश्य कृतवान् ग्रन्थविस्तरम्।
नाम्ना तन्त्रप्रदीपं यो विवृतास्तेन धातवः ॥१॥

आकृष्य भाष्यजलधेरथ धातुनामपारायणक्षपणपाणिनि शास्त्रवेदी।
कालापचान्द्रमततत्त्वविभागदक्षो धातुप्रदीपमकरोज्जगतो हिताय ॥२॥

अर्थात्—जिसने वृत्ति (काशिका) पर लिखे गए न्यास को उद्देश कर के भाष्यरूपी समुद्र से [शास्त्र तत्त्व को] निकाल कर तन्त्रप्रदीप नामक विस्तृत ग्रन्थ रचा, उसने धातुओं का व्याख्यान किया है। तथा धातुपारायण, नाम-पारायण, क्षपणक और पाणिनीय शास्त्र के जानने वाले, कालाप तथा चान्द्रमत के तत्त्वविभाग में दक्ष [मैत्रेय ने] जगत् के हित के लिए धातुप्रदीप ग्रन्थ बनाया।

परिभाषावृत्तिकार सीरदेव ने भी लिखा है—

तस्माद् बोद्धव्योऽयं रक्षितः, बोद्धव्याश्च विस्तरा एव रक्षितग्रन्था विद्यन्ते। पृष्ठ ९५ ॥

अन्य ग्रन्थ—रक्षित ने धातुप्रदीप के अतिरिक्त न्यास पर तन्त्रप्रदीप नाम्नी विस्तृत व्याख्या लिखी है। इसके विषय में हम पूर्व भाग १, पृष्ठ ३३६ (प्र० सं०) पर लिख चुके हैं। इसके अतिरिक्त मैत्रेय ने कदाचित् महाभाष्य का भी व्याख्यान किया था। इसके लिए इसी ग्रन्थ का प्रथम भाग पृष्ठ २८५, २८६ (प्र० सं०) देखें।

धातुप्रदीप-टीकाकार

किसी अज्ञात नामा विद्वान् ने मैत्रेय विरचित धातुप्रदीप पर कोई टीका-ग्रन्थ लिखा था। इस टीका के कई उद्धरण सर्वानन्द ने अमरकोश की टीका सर्वस्वव्याख्या में दिए हैं। सर्वानन्द की टीका सर्वस्व लिखने का काल वि० सं० १२१६ है। अतः धातुप्रदीपटीका का रचना काल वि० सं० ११९०–१२१५ के मध्य होना चाहिए।

१०—हरियोगी

हरियोगी नाम के किसी विद्वान् ने पाणिनीय धातुपाठ पर शाब्दिकाभरण नाम की एक व्याख्या लिखी है। इसका एक हस्तलेख मद्रास के राजकीय

हस्तलेखसंग्रह में विद्यमान है (सूचीपत्र भाग ५, खण्ड १ A, संख्या ४३१४, पृष्ठ ६३४५)। इसका दूसरा हस्तलेख ट्रिवेण्ड्रम के राजकीय पुस्तकालय में है (सूचीपत्र भाग १, संख्या ६५, सन् १९१२)।

परिचय—हरियोगी का वंशादिवृत्त अज्ञात है। मद्रास राजकीय पुस्तकालय के पूर्वनिर्दिष्ट हस्तलेख के अन्त में

इति हरियोगिनः प्रोलनाचार्यस्य कृतौ शाब्दिकाभरणे शब्विकरण-भूवाद्यो धातवः समाप्ताः।

पाठ उपलब्ध होता है। इसमें हरियोगी के पिता का नाम प्रोलनाचार्य लिखा है।

मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र भाग २ खण्ड १ A, संख्या १२८९, पृष्ठ १६१७ पर इसका एक हस्तलेख और निर्दिष्ट है। उसके अन्त में

इति हरियोगिनः शैलवाचार्यस्य कृतौ शाब्दिकाभरणे
धातुप्रत्ययपञ्जिकायां सौत्रधातवः समाप्ताः।

पाठ मिलता है। इस पाठ में पिता का नाम शैलवाचार्य लिखा है। अतः द्विविध पाठ की उपलब्धि के कारण हरियोगी के पिता का नाम क्या था, यह निश्चय रूप से कहना अशक्य है।

काल—हरियोगी के ग्रन्थ का अवलोकन न करने से इसके काल आदि के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। लीलाशुकमुनि-विरचित दैव व्याख्यान पुरुषकार में हरियोगी का निम्न स्थानों में उल्लेख मिलता है—

१—श्रातेरनुकरणमिति हरियोगी। पृष्ठ २१॥

२—हरियोगी तु अत्र 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इत्येतदनादृत्य क्षेणोतीत्युदाहार्षीत्। पृष्ठ २४॥

३—धनपालहरियोगि पूर्णचन्द्रस्तु दरतीत्येवाहुः। पृष्ठ ४०॥

४—रुट लुट इति हरियोगी। पृष्ठ ६४॥

इन उद्धरणों से व्यक्त है कि हरियोगी पुरुषकार लीलाशुक मुनि से पूर्ववर्ती है। लीलाशुक मुनि का काल वि० सं० १२५० के लगभग है, यह हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४४५ (प्र० सं०) तथा क्षीरतरङ्गिणी के उपोद्घात पृष्ठ ३७ पर लिख चुके हैं। अतः हरियोगी का काल सामान्यतया १२०० विक्रम के लगभग माना जा सकता है।

धातुप्रत्यय-पञ्जिका—मद्रास के द्वितीय हस्तलेख का जो पाठ पूर्व उद्धृत किया है, उसमें शाब्दिकाभरण के साथ धातुप्रत्ययपञ्जिका नाम भी निर्दिष्ट है। इससे प्रतीत होता है कि शाब्दिकाभरण का यह नामान्तर है। अथवा यह भी संभव है कि शाब्दिकाभरण विस्तृत ग्रन्थ हो, उसमें सूत्र-पाठ और खिलपाठ सभी का व्याख्यान हो और तदनन्तर्गत धातुप्रकरण की व्याख्या का अपरनाम धातुप्रत्ययपञ्जिका भी हो।

अन्य धातुप्रत्ययपञ्जिका—तञ्जौर के हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र भाग १० संख्या ५८१९–५८२३ तक (पृष्ठ ४३३९–४२) धातुप्रत्यय-पञ्जिका के पांच हस्तलेख निर्दिष्ट हैं। इनके रचयिता का नाम धर्मकीर्ति लिखा है। एक धर्मकीर्ति रूपावतार नामक व्याकरण ग्रन्थ का लेखक है। उसका उल्लेख इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ३७८ (प्र० सं०) पर कर चुके हैं। इस धातु-प्रत्यय-पञ्जिका का लेखक रूपावतारकृद् धर्मकीर्ति ही है अथवा उससे भिन्न व्यक्ति है, यह अज्ञात है।

११—देव (१२०० वि०)

देव नाम के किसी विद्वान् ने पाणिनीय धातुपाठविषयक "दैव" संज्ञक एक श्लोकात्मक ग्रन्थ बनाया। इस ग्रन्थ में समानरूप वाली अनेक गणों में पठित धातुओं को विभिन्न गणों में पढ़ने का क्या प्रयोजन है, इस विषय पर विचार किया है। ग्रन्थकार ने स्वयं लिखा है—

इत्यनेकविकरणसरूपधातुव्याख्यानं देवनाम्ना विदुषा विरचितं दैवं समाप्तम्।

अर्थात् देवनाम के विद्वान् द्वारा अनेक विकरणों वाली सरूप धातुओं का दैवनामक व्याख्यान समाप्त हुआ।

यह ग्रन्थ श्लोकात्मक है। इसमें २०० श्लोक हैं।

परिचय

देव नामक विद्वान् ने किस देश वा नगर अथवा किस काल में जन्म लिया था, यह अज्ञात है। दैवग्रन्थ के सम्पादक गणपति शास्त्री ने देव का काल खैस्ताब्द की नवम शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के मध्य माना है। हमारा अनुमान है कि देव ने विक्रम की बारहवीं शती के अन्तिम चरण में दैव ग्रन्थ लिखा था। इस अनुमान में निम्न हेतु हैं—

१—क्षीरस्वामी ने 'दैव' ग्रन्थ अथवा उसके ग्रन्थकार को कहीं स्मरण नहीं किया। क्षीरस्वामी का काल वि० सं० ११६५ पर्यन्त है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

२—दैव के व्याख्याता लीलाशुक मुनि ने ऐसा निर्देश किया है, जिससे विदित होता है कि दैव मैत्रेय रक्षित का अनुसरण करता है। यथा—

(क) दैवेन तु 'ष्टै वेष्टने स्तायति तिष्टापयति' इति मैत्रेयरक्षितो-क्तकारविस्रम्भान्नायमनुसृतः। पृष्ठ २३।

(ख) दैवेन तु मैत्रेयरक्षितविस्रम्भादेतदुक्तम्। पृष्ठ २८॥

(ग) आप्लृ लम्भने इत्यत्र मैत्रेयरक्षितेन आपयत इत्यात्मनेपदमप्यु-दाहृतम्[1] उपलभ्यते। दैववशात्तु तस्यापि नैतदस्तीति प्रतीयते। तदनु-सारेण हि प्रायेण दैवः प्रवर्तमानो दृश्यते। पृष्ठ ९६।

इन से स्पष्ट है कि दैव मैत्रेयरक्षित से उत्तरकालीन है। इसलिए दैव का काल सामान्यरूप से ११५०-१२०० के मध्य ही माना जा सकता है।

१२—कृष्णलीलाशुक मुनि (वि० १२२५-१३५०)

कृष्णलीलाशुक मुनि ने दैवविरचित दैव ग्रन्थ पर पुरुषकार संज्ञक वार्तिक लिखा है। ग्रन्थ के अन्त में लिखा है—

कृष्णलीलाशुकेनैव कीर्तितं दैववार्तिकम्

कृष्ण लीला शुक मुनि के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४४५–४४६ (प्र० सं०) तथा क्षीरतरङ्गिणी के उपोद्घात पृष्ठ ३७, ३८ पर विस्तार से लिख चुके हैं, अतः यहाँ पुनः नहीं लिखते।

अन्य ग्रन्थ

१—सरस्वतीकण्ठाभरण-व्याख्या—इस ग्रन्थ के विषय में हम सं० व्या० शास्त्र का इतिहास के प्रथम भाग पृ० ४४५–४४६ (प्र० सं०) में लिख चुके हैं।

२—सुप्पुरुषकार—सायण ने माधवीया धातु वृत्ति में सुब्धातु-व्याख्यान में पुरुषकार के नाम से एक पाठ उद्धृत किया है। वह इस प्रकार है—

---

१. मुद्रित धातुप्रदीप (पृष्ठ १४६) में आत्मनेपद उपलब्ध नहीं होता। सम्भव है पाठभ्रंश हो गया हो। सायण ने भी धातुवृत्ति (पृष्ठ ३२६) में लिखा है—'मैत्रेयेणापयत इत्यात्मनेपदमपि दर्शितम्।'

तदुक्तं पुरुषकारे—'बध्नतीत्युदाहृत्येष्ठनि यद् दृष्टं कार्यं तदप्यतिदिश्यते, न चेष्ठनि यिट्, नापीष्ठवद्भावश्च। यिट्सन्नियोगशिष्टत्वात् तदभावे तु भावयतीति चिन्त्यमाप्तैः' इति। पृष्ठ ४२८।

यह पाठ मुद्रित पुरुषकार में उपलब्ध नहीं होता, इससे प्रतीत होता है कि कृष्णलीलाशुक मुनि ने कदाचित् सुब्धातुव्याख्यानात्मक पुरुषकार ग्रन्थ भी लिखा हो।

३—केनोपनिषद्-व्याख्या—श्रीकृष्णलीलाशुक मुनि ने केन उपनिषद् पर शङ्करहृदयङ्गमा नाम की एक व्याख्या लिखी थी। इसका एक हस्तलेख मद्रास के राजकीय हस्तलेख-संग्रह में विद्यमान है। उसका निर्देश सूचीपत्र भाग ४ खण्ड १ A के पृष्ठ ४२९७ पर है। इस हस्तलेख के अन्त में निम्न पाठ है—

श्रीकृष्णलीलाशुकमुनिविरचितायां शङ्करहृदयङ्गमाख्यायां केनोपनिषद्व्याख्यायाम्......।

४—कृष्णलीलामृत—यह कृष्णलीलापरक स्तोत्र ग्रन्थ है।

५—अभिनव कौस्तुभ माला,

६—दक्षिणामूर्तिस्तव—दैव पुरुषकार के सम्पादक गणपति शास्त्री का मत है कि ये दोनों ग्रन्थ भी कृष्णलीलाशुक मुनि विरचित हैं। इन ग्रन्थों के भी अन्त में

इति कृष्णलीलाशुकमुनि......।

इत्यादि पुरुषकारसदृश ही पाठ उपलब्ध होता है।

१३—सायण (१३७२–१४४४ वि०)

संस्कृत वाङ्मय में आचार्य सायण का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। सायण ने अपने ज्येष्ठ भ्राता माधव के नाम पर पाणिनीय धातुपाठ पर एक धातुवृत्ति लिखी। वह वैयाकरण वाङ्मय में माधवीया धातुवृत्ति अथवा केवल धातुवृत्ति नाम से प्रसिद्ध है।

संक्षिप्त परिचय

सायण ने स्वविरचित विविध ग्रन्थों में अपना परिचय दिया है। तदनुसार इसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है[1]—

---

१. जो महानुभाव सायण माधव के विषय में अधिक विस्तार से यह जानना चाहते हैं, वे श्री पं० बलदेव उपाध्याय विरचित 'आचार्य सायण और माधव' ग्रन्थ देखें।

सायण के पिता का नाम मायण, माता का नाम श्रीमती, ज्येष्ठ भ्राता का नाम माधव और कनिष्ठ का नाम भोगनाथ था। सायण की तैत्तिरीय संहिता, बौधायन सूत्र, और भारद्वाज गोत्र था। इसका जन्म वि० सं० १३७२ में और स्वर्गवास वि० सं० १४४४ में हुआ था।

सायण ने ३१ वर्ष की अवस्था में विजय नगर के महाराजा हरिहर प्रथम के अनुज कम्पण (वि० सं० १४०३–१४१२) का मन्त्रिपद अलंकृत किया। तत्पश्चात् कम्पण पुत्र संगम का शिक्षक तथा मन्त्रिपद (वि० सं० १४१२–१४२०) स्वीकार किया। तदनन्तर बुक्क प्रथम (वि० सं० १४२१–१४३७) का तथा हरिहर द्वितीय (वि० सं० १४३८–१४४४) का अमात्य-पद सुशोभित किया।

धातुवृत्ति का निर्माण-काल

धातुवृत्ति के आदि और अन्त के पाठों से विदित होता है कि सायण ने संगम नृपति के राज्यकाल में धातुवृत्ति लिखी थी। तद्यथा—

आदि में—अस्तिश्रीसंगमक्ष्मापः पृथिवीतलपुरन्दरः।
यत्कीर्तिमौक्तिकमादर्शे त्रिलोक्यां प्रतिबिम्बते॥

अन्त में—इति पूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्राधीश्वर कम्पराजसुतसंगम-महाराजमहामन्त्रिणा मायणसुतेन माधवसहोदरेण सायणाचार्येण विरचितायां धातुवृत्तौ चुरादयः सम्पूर्णाः।

इससे विदित होता है कि धातुवृत्ति विक्रम सं० १४१५–१४२० के मध्य किसी समय लिखी गई।

धातुवृत्ति का निर्माता

सायण के नाम से जो महती ग्रन्थराशि उपलब्ध होती है, उसको निरन्तर विजयनगर राज्य के मन्त्रिपद के भार को वहन करते हुए सायण ने ही लिखा, यह विश्वासार्ह नहीं है। प्रतीत होता है उसने अपने निर्देश में अनेक सहायक विद्वानों के द्वारा ये ग्रन्थ लिखवाए। यही कारण है कि सायण के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर परस्पर विरोध भी उपलब्ध होता है। ऐसी अवस्था में सायण ने माधवीया धातुवृत्ति किस विद्वान् के द्वारा लिखवाई, यह जिज्ञासा स्वभावतः उत्पन्न होती है। धातुवृत्ति में दो स्थानों पर ऐसे पाठ उपलब्ध होते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि धातुवृत्ति के लेखक का नाम यज्ञनारायण था। यथा—

१—क्रमु पादविक्षेपे सूत्र के व्याख्यान के अन्त में लिखा है—

यज्ञनारायणार्येण प्रक्रियेयं प्रपञ्चिता ।
तस्या निःशेषतस्सन्तु बोद्धारो भाष्यपारगाः । पृष्ठ ९७ ।

२—इसी प्रकार मव्य बन्धने सूत्र के अन्त में भी लिखा है—

अत्रापि शिष्यबोधाय प्रक्रियेयं प्रपञ्चिता ।
यज्ञनारायणार्येण बुध्यतां भाष्यपारगैः ॥

धातुवृत्ति का वैशिष्ट्य

सायण की धातुवृत्ति से प्राचीन मैत्रेयरक्षित और क्षीरस्वामी की दो धातुवृत्तियां सम्प्रति उपलब्ध हैं। ये दोनों संक्षिप्त हैं। इनमें भी मैत्रेय का धातुप्रदीप संक्षिप्ततर है। इन दोनों धातुवृत्तियों के साहाय्य से विद्वान् पुरुष भी धातुरूपी गहनवन का अवगाहन करने में असमर्थ रहते हैं, पुनः साधारण जनों का तो क्या कहना। इन वृत्तियों में प्रत्येक धातु के णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त आदि प्रक्रियाओं के रूप प्रदर्शित ही नहीं किए। माधवीया धातुवृत्ति में प्रायः सभी धातुओं के णिजन्त आदि प्रक्रियाओं के रूप संक्षेप से प्रदर्शित किए हैं। इतना ही नहीं, जिन रूपों के विषय में विद्वानों में मतभेद है, उनके विषय में प्राचीन आचार्यों के विविध मतों को उद्धृत करके निर्णयात्मक रूप में अपना मत लिखा है। यद्यपि अनेक स्थानों पर अतिसूक्ष्म विचार की चर्चा होने से कई स्थानों पर यह ग्रन्थ कठिन भी हो गया है, तथापि बुद्धिमान् अध्यापकों के लिए यह परम सहायक है। सिद्धान्तकौमुदी के प्रचलन से पूर्व पाणिनीय वैयाकरणों में धातुपाठ के पठनपाठन की क्या शैली थी, इसका वास्तविक दर्शन इसी ग्रन्थ में होता है। जो लोग पाणिनीय क्रम का उल्लङ्घन (जो कि कौमुदी आदि ग्रन्थों में किया गया है) न करके आर्षक्रम से ही पाणिनीय तन्त्र का अध्ययन-अध्यापन करना चाहते हैं, उनके लिए यह ग्रन्थ काशिकावृत्ति के समान ही परम सहायक है।

प्रक्रियाग्रन्थ अन्तर्गत धातुव्याख्यान

विक्रम की १२ वीं शती से पाणिनीय व्याकरण के पठन-पाठन में पाणिनीय शब्दानुशासन के सूत्र-क्रम का परित्याग करके प्रक्रिया-क्रम से व्याकरण अध्ययन की प्रवृत्ति आरम्भ हुई। प्रक्रियाग्रन्थकारों ने धातुपाठ का भी उसी के भीतर अन्तर्भाव कर लिया। इसलिए उन ग्रन्थों में धातुपाठ की व्याख्या होने पर भी वे सीधे धातुव्याख्यान के ग्रन्थ नहीं कहे जा सकते।

इतना ही नहीं, इन प्रक्रियाग्रन्थकारों ने जिस प्रकार शब्दानुशासन के सूत्र-क्रम का भङ्ग किया उसी प्रकार धातुपाठ की परम्परा से चली आ रही पठन-पाठन की प्रक्रिया का भी परित्याग कर दिया। प्राचीन पठन-पाठन परिपाटी के अनुसार प्रत्येक धातु की दसों प्रक्रियाओं के दसों लकारों के सभी रूपों का प्रदर्शन होता था। परन्तु प्रक्रियाग्रन्थकारों ने केवल सामान्य कर्तृप्रक्रिया मात्र के कतिपय रूपों का ही निदर्शन धातु व्याख्यान में किया है। शेष भाव, कर्म, णिजन्त, सन्नन्त आदि सभी प्रक्रियाओं का निदर्शन अन्त में कतिपय धातुओं द्वारा ही कराया है। इस प्रक्रिया से अध्ययन करनेवाले छात्रों को सब धातुओं की सभी प्रक्रियाओं के रूप गतार्थ नहीं होते। लेट् लकार का तो छन्दोमात्रगोचरः कह कर निदर्शन करना ही व्यर्थ समझा।

स्वामी दयानन्द सरस्वती की महत्ता—दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती और उनके शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाणिनीय क्रम के पुनरुद्धार का जो महान् प्रयत्न किया, उसका उल्लेख हम इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग, पृष्ठ २५०, ३७७ (प्र० सं०) पर कर चुके हैं। जिस प्रकार से उन्होंने सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रवृत्त प्रक्रियाग्रन्थानुसारी पाणिनीय व्याकरण के पठन-पाठन के विरुद्ध वज्रनिर्घोष करके पुनः पाणिनीय क्रम की प्रतिष्ठा की, उसी प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाणिनीय धातुपाठ की प्राचीन पठन-पाठन शैली के परित्याग से होने वाली महती हानि को जानकर पुनः धातुपाठ की प्राचीन पठन-पाठन-शैली अर्थात् प्रत्येक धातु की सभी प्रक्रियाओं के सभी लकारों के रूपसिद्धिशैली की प्रतिष्ठा की। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ में पठन-पाठन-विधि पर लिखते हुए धातुपाठ के प्रसंग में लिखा है—

इसी प्रकार अष्टाध्यायी पढ़ा के धातुपाठ अर्थसहित और दश लकारों तथा प्रक्रियासहित सूत्रों के उत्सर्ग......। तृतीय समुल्लास।

इसी प्रकार संस्कारविधि में भी लिखा है—

......धातुपाठ और दश लकारों के रूप सधवाना तथा दश प्रक्रिया भी सधवानी, पुनः......। वेदारम्भ संस्कार।

जिन प्रक्रियाग्रन्थों में धातुपाठ का प्रसंगतः व्याख्यान हुआ है, उनके तथा उनके लेखकों के नाम इस प्रकार हैं—

१४—रूपावतार	धर्मकीर्ति	११४० वै०
१५—प्रक्रियारत्न		१३०० वै० से पूर्व
१६—रूपमाला	विमल सरस्वती	१४०० वै० से पूर्व

१७–प्रक्रियाकौमुदी	रामचन्द्र	१४८० वै०
१८–सिद्धान्तकौमुदी	भट्टोजिदीक्षित	१५७५ वै०
१९–प्रक्रियासर्वस्व	नारायणभट्ट	१६२० वै०

इन में आरम्भ के चार ग्रन्थों में धातुपाठ की सम्पूर्ण धातुओं का व्याख्यान नहीं किया है। उत्तरवर्ती दो ग्रन्थों में यद्यपि सभी धातुओं के रूप प्रदर्शित किए हैं, तथापि केवल शुद्ध कर्तृप्रक्रिया के ही रूप लिखे हैं। भाव, कर्म, णिजन्त आदि प्रक्रिया के प्रदर्शन के लिए अन्त में कुछ रूप दर्शाए हैं। इन ग्रन्थों में कुछ भी वैशिष्ट्य नहीं है।

उपर्युक्त ग्रन्थों पर बहुत से व्याख्या ग्रन्थ भी लिखे गए। सिद्धान्तकौमुदी के पठन-पाठन में अधिक प्रचलित होने से इस पर अनेक व्याख्या ग्रन्थ लिखे गए।

इन ग्रन्थों, इनके लेखकों तथा इन पर टीका टिप्पणी लिखने वाले वैयाकरणों के विषय में हम इसी ग्रन्थ के 'पाणिनीय व्याकरण के प्रक्रिया-ग्रन्थकार' नामक १६ वें अध्याय में विस्तार से लिख चुके हैं। उसका पुनः यहाँ लिखना पिष्टपेषण मात्र होगा। अतः संकेत मात्र करके इस प्रकरण को समाप्त करते हैं।

इस प्रकार इस अध्याय में पाणिनीय धातुपाठ और उसके व्याख्याताओं के विषय में लिखकर अगले अध्याय में पाणिनि से अर्वाचीन धातुपाठ-प्रवक्ता और उनके व्याख्याताओं के विषय में लिखेंगे॥

बाइसवाँ अध्याय

धातुपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता

(पाणिनि से उत्तरवर्ती)

आचार्य पाणिनि से सहस्रों वर्ष पूर्व व्याकरण-शास्त्र-प्रवचन की जिस धारा का आरम्भ इन्द्र से हुआ और पाणिनिपर्यंत अविच्छिन्न रूप से पहुँची, वह धारा पाणिनि के अनन्तर भी अजस्र रूप से बहती रही। हाँ, इस धारा ने उत्तरवर्ती काल में एक विशिष्ट दिशा की ओर मुख मोड़ा। वह विशिष्ट दिशा है केवल लौकिक संस्कृत के शब्दों का अन्वाख्यान।[1] इस कारण पाणिनि से उत्तरवर्ती व्याकरण वैदिक ग्रन्थों के परिशीलन में किञ्चित् भी सहायक नहीं होते। कुछ आगे चलकर इस धारा ने दूसरा मोड़ लिया। 'वह मोड़ है साम्प्रदायिकता का। जैनेन्द्र, जैन शाकटायन, हैम आदि व्याकरण एक मात्र साम्प्रदायिक हैं। इन्हीं के अनुकरण पर उत्तरकाल में हरिलीलामृत आदि कतिपय ऐसे भी व्याकरण लिखे गए, जो अथ से इति पर्यन्त साम्प्रदायिकता के रंग में रंगे हुए हैं। साम्प्रदायिकता के इस युग का न्यूनाधिक प्रभाव पाणिनीय व्याकरण के व्याख्याता जयादित्य-वामन, भट्टोजिदीक्षित आदि पर भी स्पष्ट दिखाई देता है। इन लोगों ने अनेक स्थानों पर प्राचीन परम्परागत उदाहरणों का परित्याग करके स्वसम्प्रदायविशेष से सम्बद्ध उदाहरण अपनी-अपनी व्याख्याओं में दिए हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि जयादित्य और वामन में यह साम्प्रदायिक प्रवृत्ति बहुत स्वल्पमात्रा में है। इस कारण इन्होंने चार स्थानों को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र प्राचीन परम्परागत उदाहरणों की ही रक्षा की है।[2]

---

१. इसमें चान्द्र और सरस्वतीकण्ठाभरण अपवादरूप हैं। चान्द्र व्याकरण में स्वरवैदिक प्रकरण का समावेश था, परन्तु उत्तरकाल में अध्येताओं के प्रमादवश यह प्रकरण नष्ट हो गया। द्र० इसी ग्रन्थ का भाग १, पृष्ठ ४१६–४१८ (प्र० सं०)।

२. यही ग्रन्थ, भाग १, पृष्ठ ३३७, टि० ६ (प्र० सं०)।

अर्वाचीन व्याकरण प्रवक्ताओं में से प्रधानभूत निम्न पन्द्रह वैयाकरणों का वर्णन हमने इस ग्रन्थ के पन्द्रहवें अध्याय में किया है—

१—कातन्त्रकार	८—भोजदेव
२—चन्द्रगोमी	९—बुद्धिसागर
३—क्षपणक	१०—भद्रेश्वर सूरि
४—देवनन्दी	११—हेमचन्द्र
५—वामन	१२—क्रमदीश्वर
६—पाल्यकीर्ति	१३—सारस्वतकार
७—शिव स्वामी	१४—वोपदेव
	१५—पद्मनाभ

अब हम अर्वाचीन वैयाकरणों में से जिनके धातुपाठ सम्प्रति उपलब्ध अथवा परिज्ञात हैं, उनके विषय में क्रमशः लिखते हैं।

७—कातन्त्रधातु-प्रवक्ता (१५०० वि० पू०)

कातन्त्र व्याकरण लोक में कलाप, कलापक, कौमार आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध है। कातन्त्र व्याकरण के काल आदि के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ३९७-४०६ (प्र० सं०) पर विस्तार से लिख चुके हैं।

कातन्त्र धातुपाठ

कातन्त्र व्याकरण का अपना एक स्वतन्त्र धातुपाठ है। इस पर दुर्ग, मत्रेय प्रभृति अनेक वैयाकरणों ने वृत्तियां लिखी हैं।

कातन्त्र धातुपाठ काशकृत्स्न धातुपाठ का संक्षेप—कातन्त्र धातुपाठ काशकृत्स्न धातुपाठ का संक्षेप है, यह हम काशकृत्स्न धातुपाठ के प्रकरण में विस्तार से लिख चुके हैं।

कातन्त्र धातुपाठ के हस्तलेख—कातन्त्र धातुपाठ के हस्तलेख अति विरल उपलब्ध होते हैं। हमने बड़े प्रयत्न से इस धातुपाठ के दो हस्तलेखों की प्रतिलिपियाँ प्राप्त की हैं। इन प्रतिलिपियों के प्राप्त होने पर ही हम इस निर्णय पर पहुँचे कि कातन्त्र धातुपाठ काशकृत्स्न धातुपाठ का संक्षेप है। इससे पूर्व हम शर्ववर्माप्रोक्त धातुपाठ को ही कातन्त्र धातुपाठ समझते थे।

कातन्त्र धातुपाठ का संक्षेप शर्ववर्मधातुपाठ—क्षीरतङ्गिणी के आद्य सम्पादक जर्मन विद्वान् लिबिश ने क्षीरतरङ्गिणी के अन्त में शर्ववर्मप्रोक्त

धातुपाठ का तिब्बती-अनुवाद प्रकाशित किया है। यदि यह तिब्बती अनुवाद शर्ववर्मप्रोक्त धातुपाठ का अक्षरशः अनुवाद हैं। तब मानना होगा कि शर्ववर्मा ने कातन्त्र धातुपाठ का कोई संक्षेप किया था और उसी का यह तिब्बती अनुवाद है। यदि यह तिब्बती अनुवाद ही शर्ववर्मप्रोक्त धातुपाठ का संक्षिप्त अनुवाद हो, तब हो सकता है कि यह तिब्बती अनुवाद कातन्त्र धातुपाठ का ही संक्षिप्त अनुवाद हो। इस अवस्था में इस धातुपाठ के साथ शर्ववर्मा का नाम उसका वृत्तिकार होने से संबद्ध हो गया हो। हमारे विचार में यह विषय अभी विशेष अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है।

वृत्तिकार

कातन्त्र धातुपाठ के निम्न वृत्तिकारों का हमें परिज्ञान है—

१—शर्ववर्मा (विक्रम पूर्व)

शर्ववर्मा ने कातन्त्र व्याकरण पर एक वृत्ति लिखी थी, यह हम इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ४०७ (प्र० सं०) पर लिख चुके हैं। शर्ववर्मा ने कातन्त्र धातुपाठ पर भी कोई वृत्ति लिखी थी, इसका उपोद्बलक निम्न प्रमाण है। दुर्गादास कविकल्पद्रुम की धातुदीपिका नाम्नी व्याख्या में लिखता है—

विशेषः पाणिनेरिष्टः सामान्यं सर्ववर्मणः। पृष्ठ ८।

अर्थात्—[चुरादि धातुओं से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल अर्थ द्योतित होने पर परस्मैपद होता है ऐसा] विशेष नियम पाणिनि को इष्ट है, सामान्य अर्थात् स्वगामी और परगामी दोनों अर्थों में दोनों पद होते हैं, यह शर्ववर्मा को इष्ट है।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शर्ववर्मा ने धातुपाठ पर कोई वृत्तिग्रन्थ लिखा था और उसी के चुरादिप्रकरण में उक्त सामान्यता का प्रतिपादन किया था।

शर्ववर्मा के काल आदि के विषय में हम पूर्व (प्रथम भाग, पृष्ठ ४०९, प्र० सं०) लिख चुके हैं।

२—दुर्गसिंह (७०० वि०)

आचार्य दुर्गसिंह ने कातन्त्र धातुपाठ पर एक वृत्ति लिखी थी। इसके उद्धरण व्याकरण वाङ्मय में बहुधा उद्धृत हैं। यह वृत्ति इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इस वृत्ति के साहचर्य से कातन्त्र धातुपाठ भी दुर्ग के नाम से प्रसिद्ध हो गया। क्षीरस्वामी ने मूल कातन्त्र धातुपाठ के उद्धरण भी दुर्गः अथवा दौर्गाः के नाम से उद्धृत किए हैं।

दुर्गवृत्ति के कई हस्तलेख विभिन्न पुस्तकालयों में विद्यमान हैं, परन्तु वे सभी प्रायः अपूर्ण हैं। इस वृत्ति का प्रकाशन अत्यावश्यक है।

दुर्गसिंह के काल आदि के विषय में हम प्रथम भाग पृष्ठ ४०७–४१० (प्र० सं०) तक विस्तार से लिख चुके हैं।

३—आत्रेय (१४१५ वि० पूर्व)

सायण ने अपनी धातुवृत्ति में आत्रेय के मत बहुधा उद्धृत किए हैं। आत्रेय ने धातुपाठ पर कोई वृत्ति ग्रन्थ लिखा था, इसका साक्षात् निर्देश सायण के अथर्व भाष्य २।२८।५ में मिलता है। सायण लिखता है—

प्रियम्—यद्यपि वृत्तौ इगुपधज्ञा० इत्यत्र प्रीणातेरेव ग्रहणं कृतं तथापि आत्रेयधातुवृत्त्यनुसारेण अस्मादपि को द्रष्टव्यः।

इस उद्धरण में आत्रेय कृत धातुवृत्ति का साक्षात् निर्देश है।

आत्रेय की यह धातुवृत्ति कातन्त्र धातुपाठ पर थी, इसका निर्देश भी सायण ने धातुवृत्ति में किया है। वह लिखता है—

आत्रेयस्तु कातन्त्रे मूर्धन्यान्तोऽयम् (मुष)। तथा च 'राघवस्यामुषः कान्तम्' इति भट्टिकाव्ये प्रयोगश्चेति पाठान्तरमप्याह। पृष्ठ ३०८।

इससे स्पष्ट है कि आत्रेय की धातुवृत्ति का संबंध कातन्त्र व्याकरण के साथ था।

आत्रेय का काल—आत्रेय का काल अज्ञात है। सायण ने इसका साक्षात् निर्देश किया है, इसलिए यह सायण (१४०० वि०) से पूर्ववर्ती है, इतना स्पष्ट है। यह इसकी उत्तर सीमा है।

सायण ने धातुवृत्ति पृष्ठ ३५८ पर आत्रेय का एक पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है—

अत्रात्रेयः—'कथं क्रियतीतिपुरुषकारः' इत्युपादाय व्यत्ययो बहुलमिति कर्मण्यपि परस्मैपदसिद्धे······इत्युक्तमित्याहुः।

इस उद्धरण में यदि पुरुषकार पद लीलाशुकमुनिविरचित दैव-व्याख्यान पुरुषकार का निदर्शक है, तब आत्रेय लीलाशुकमुनि से उत्तरभावी सिद्ध होता है। यदि यह दैव-व्याख्यान पुरुषकार का द्योतक नहीं हो तो रमानाथ के काल की पूर्व सीमा इससे पूर्व निर्धारित होती है। सायण ने आत्रेय का एक पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है—

अत्र केचिदसंयोगादि तीम इति दीर्घान्तं चतुर्थमपि धातुं पठन्ति इत्यात्रेयः। धातुवृत्ति पृष्ठ २८५।

इस उद्धरण की क्षीरतङ्गिणी के तिम तीम ष्टिम ष्टीम आर्द्रीभावे (४।१५) सूत्र के साथ तुलना करने से प्रतीत होता है कि यहाँ आत्रेय केचित् पद से क्षीरस्वामी का निर्देश करता है। क्षीरस्वामी का काल १११५–११६५ वि० के मध्य है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। इसलिए आत्रेय का काल वि० सं० ११६५ से १४०० के मध्य है, इतना ही सामान्य रूप से कहा जा सकता है।

४—रमानाथ (१५९३ वि०)

रमानाथ ने कातन्त्र धातुपाठ पर एक वृत्तिग्रन्थ लिखा था, इसकी सूचना कविकल्पद्रुम के व्याख्याता दुर्गादास विद्यावागीश कृत धातुदीपिका से मिलती है। दुर्गादास लिखता है—

भरणं पोषणं पूरणं वा इति कातन्त्रधातुवृत्तौ रमानाथः। पृष्ठ ४८।

दुर्गादास ने रमानाथकृत धातुवृत्ति के अनेक उद्धरण अपनी धातुदीपिका में उद्धृत किए हैं।

परिचय—रमानाथकृत धातुवृत्ति हमारे देखने में नहीं आई। इसलिए इसके वंश और देश आदि के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं।

काल—रमानाथकृत कातन्त्र धातुवृत्ति का एक हस्तलेख इण्डिया आफिस (लन्दन) के पुस्तकालय में विद्यमान है। उसका उल्लेख इण्डिया आफिस पुस्तकालय के हस्तलेख सूची-पत्र भाग १ खण्ड २ संख्या ७७५ पर है। इस हस्तलेख के अन्त में निम्न पाठ है—

वसुबाणभुवनगणिते शाके धर्मद्रवीतीरे।
कातन्त्रधातुवृत्तिर्निर्मितवान् रमानाथः॥

अर्थात्—रमानाथ ने १४५८ शक में कातन्त्रव्याकरणसम्बन्धी धातु-वृत्ति ग्रन्थ लिखा।

इससे स्पष्ट है कि रमानाथ का काल (शक सं. १४५८+१३५=) १५९३ विक्रम है।

धातुवृत्ति का नाम—रमानाथकृत कातन्त्र धातुवृत्ति का नाम मनोरमा है। इसका एक हस्तलेख जम्मू के हस्तलेखसंग्रह में भी विद्यमान है। इसका निर्देश हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र पृष्ठ ४० पर उपलब्ध होता है।

नाथीय धातुवृत्ति—वन्द्यघटीय सर्वानन्द ने अमरटीकासर्वस्व में किसी नाथीय धातुवृत्ति का निम्न पाठ उद्धृत किया है—

नाथीयधातुवृत्तावपि कोषवन्मूर्धन्यषत्वं तालव्यशत्वं चोक्तम्। २।६।१००; भाग २, पृष्ठ ३६०।

सर्वानन्द का काल वि० सं० १२१५ है। अतः अमरटीकासर्वस्व में उद्धृत नाथीय धातुवृत्ति रमानाथकृत नहीं हो सकती। यह नाथीय धातुवृत्ति किस की है तथा किस व्याकरण से संबद्ध है, यह अनुसन्धातव्य है।

८—चन्द्रगोमी (१००० वि० पू०)

आचार्य चन्द्रगोमी प्रोक्त शब्दानुशासन के विषय में इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४१४–४३८ (प्र० सं०) तक विस्तार से लिख चुके हैं। आचार्य चन्द्र के देश-काल आदि के विषय में भी वहीं विस्तार से मीमांसा कर चुके हैं।

चान्द्र-धातुपाठ

आचार्य चन्द्रगोमी ने स्वीय तन्त्र के लिए उपयोगी धातुपाठ का भी प्रवचन किया था। यह धातुपाठ सम्प्रति उपलब्ध है। ब्रुनो लिबिश ने चान्द्र-व्याकरण के साथ इसे प्रकाशित किया है।

काशकृत्स्न धातुपाठ का प्रभाव—चान्द्र धातुपाठ पर काशकृत्स्न धातुपाठ की प्रवचन-शैली का पर्याप्त प्रभाव है। इसका निदर्शन हम काश-कृत्स्न धातुपाठ के प्रकरण में करा चुके हैं।

पाठभ्रंश—चान्द्र-धातुपाठ का जो पाठ लिबिश ने सम्पादित करके प्रकाशित किया है, उसमें बहुत्र पाठभ्रंश उपलब्ध होता है। यथा—

१—धातुसूत्र १।३९९ (पृष्ठ १३, कालम १) का मुद्रित पाठ है—केबृ पेबृ मेबृ रेबृ गतौ। यह पाठ चिन्त्य है, क्योंकि प्रकरण पान्त धातुओं का है। धातुसूत्र ३९५–४०१ तक पान्त धातुएँ पढ़ी हैं, उसके पश्चात् बान्त धातुओं का पाठ आरम्भ होता है।[1]

---

१. मैत्रेय के धातुप्रदीप पृष्ठ ३३ पर भी पान्त प्रकरण में पेबृ षेबृ सेवने, रेबृ प्लेबृ गतौ दो धातुसूत्रों में बान्त धातुएँ पढ़ी हैं। प्रतीत होता है मैत्रेय ने यह पाठ चान्द्र के अनुसार स्वीकार किया है। यदि यह अनुमान ठीक हो, तो मानना पड़ेगा कि चान्द्र धातुपाठ में पाठभ्रंश चिरकाल से विद्यमान है।

२—धातुसूत्र १।४१५ का मुद्रित पाठ है—श्रम्भु प्रमादे। धातुवृत्ति में इसके विषय में स्पष्ट निर्देश है—दन्त्यादिरिति चन्द्रः (पृष्ठ ८६)। तदनुसार यहाँ शुद्ध पाठ स्रम्भु प्रमादे होना चाहिए।

३—धातुसूत्र १।१०४ के कटी इ गतौ पाठ में इ धातु ह्रस्व इकारान्त है, परन्तु धातुप्रदीप पृष्ठ २९ में मैत्रेय ने दीर्घमिच्छन्ति चान्द्रा का निर्देश करके चान्द्र पाठ ई दर्शाया है।

४—क्षीरतरङ्गिणी में क्षीरस्वामी ने पाणिनीय धातुपाठ १।५६५ का पाठ स्यमु स्वन स्तन ध्वन शब्दे लिखकर ष्टन इति चन्द्रः (पृष्ठ ११५) लिखा है चान्द्र धातुपाठ १।५५९ सूत्र का पाठ—स्यन स्वमु ध्वन शब्दे छपा है, इसमें ष्टन धातु का निर्देश नहीं है।

५—धातुसूत्र १।३५९ का पाठ छपा है—मच मुचि कल्कने। क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी में मुचेति चन्द्र का निर्देश करके मोचते उदाहरण दिया है।

ये चान्द्र धातुपाठ के थोड़े से अपभ्रंश दर्शाए हैं। चान्द्र धातुपाठ के भावी सम्पादक को इन पाठभेदों का पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए। इतना ही नहीं, पाणिनीय तथा अन्य धातुपाठ के व्याख्याकारों द्वारा उद्धृत पाठों से इसके सम्पादन में अवश्य साहाय्य लेना चाहिए।

वृत्तिकार

आचार्य चन्द्र के धातुपाठ पर अनेक वैयाकरणों ने वृत्तियाँ लिखीं, उनमें से कतिपय परिज्ञात वृत्तिकार ये हैं—

१—आचार्य चन्द्र (१००० वि०)

आचार्य चन्द्र ने जैसे अपने शब्दानुशासन पर स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी थी,[1] उसी प्रकार उसने अपने धातुपाठ पर भी कोई स्वोपज्ञ वृत्ति अवश्य लिखी थी। इस वृत्ति के निदर्शक कतिपय प्रमाण इस प्रकार हैं—

१—धातुवृत्ति में सायण लिखता है—

चन्द्रस्तु गुणाभावं न सहते। यदाह—अर्णोतीत्युदाहृत्य क्षिणेर्धातोर्लघोरुपधान्त्यस्य गुणो नेष्यत इति।[2] पृष्ठ ३५७।

---

१. सं. व्या. शास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ ४१९, (प्र० सं०)

२. तुलना करो—तथैव चान्द्रेण, पूर्णचन्द्रेण ऋणु गतौ तृणु अदने घृणु दीप्तौ इत्यत्र अर्णोति तर्णोति घर्णोतीत्युदाहृत्योक्तम्—धातोर्लघोरुपान्त्यस्यादेङ् नेष्यत इत्यन्यः तस्याभिप्रायो मृग्य इति। पुरुषकार पृष्ठ २४।

चन्द्र का उक्त उद्धृत पाठ उसकी धातुवृत्ति में ही हो सकता है।

२—क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी में लिखा है—

चन्द्रस्त्वत्राप्युभयपदित्वमाम्नासीत् णिज्विकल्पं च। १०।१ ॥

आचार्य चन्द्र का उक्त मत उसके धातु-व्याख्यान में ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि आचार्य चन्द्र ने स्वधातुपाठ पर कोई वृत्ति लिखी थी, विभिन्न धातुवृत्तिकारों ने उसी से चन्द्राचार्य के मत उद्धृत किए हैं।

२—पूर्णचन्द (वि० ११९५ से पूर्व)

पूर्णचन्द्र नाम के वैयाकरण ने चान्द्र धातुपाठ पर कोई व्याख्यान लिखा था। इसके अनेक उद्धरण प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। दैव-व्याख्याता लीला शुकमुनि लिखता है—

तथैव चन्द्रेण पूर्णचन्द्रेण ऋणु गतौ········। पुरुषकार पृष्ठ २४।

पूर्णचन्द्रीय धातुवृत्ति का नाम—पूर्णचन्द्रविरचित चान्द्र धातुपाठ की वृत्ति का नाम धातुपारायण था। टीकासर्वस्वकार वन्द्यघटीय सर्वानन्द लिखता है—

ऋभुक्षो वज्र इति धातुपारायणे पूर्णचन्द्रः। अमर टीका १।१।४४ (भाग १, पृष्ठ ३४) ॥

पूर्णचन्द्र का काल—पूर्णचन्द्र का धातुपारायण हमारे देखने में नहीं आया। अतः इसके काल के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहने में असमर्थ हैं। हाँ, क्षीरस्वामी ने पूर्णचन्द्रविरचित धातुपारायण का पारायण नाम का कई स्थानों में उल्लेख किया है। दो स्थानों पर उसके साथ चन्द्र तथा चान्द्र विशेषण भी निर्दिष्ट है। यथा—

१—यम चम इति चन्द्रः पारायणे। क्षीरतरङ्गिणी १०।७५, पृष्ठ २८८। इसका पाठान्तर है—चन्द्रः पारायणव्याख्यानात्।

२—वन श्रद्धोपहिंसनयोरिति चान्द्रं पारायणम्। क्षीरतरङ्गिणी १०।२२९, पृष्ठ ३०९ ॥

इन उद्धरणों से इतना स्पष्ट है कि पूर्णचन्द्र क्षीरस्वामी से प्राचीन है। क्षीरस्वामी का काल ११९५–११६५ के मध्य है।

८—कश्यपभिक्षु (सं० १२५७)

कश्यपभिक्षु ने वि० सं० १२५७ के लगभग चान्द्रसूत्रों पर एक वृत्ति लिखी थी। यह हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४२० (प्र० सं०) पर लिख चुके हैं। माधवीया धातुवृत्ति में कश्यप तथा काश्यप (कश्यप मतानुयायी) के मत अनेक स्थानों पर उद्धृत हैं। उन से विदित होता है कि किसी कश्यप ने किसी धातुपाठ पर भी कोई व्याख्यानग्रन्थ लिखा था। हमारा विचार है धातुवृत्ति में स्मृत कश्यप यही कश्यपभिक्षु है, और उसके मत सायण ने उसकी चान्द्र धातुवृत्ति से ही उद्धृत किए हैं।

९—क्षपणक (वि० प्रथमशती)

क्षपणकप्रोक्त क्षपणक व्याकरण का उल्लेख हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४२०-४२१ (प्र० सं०) पर कर चुके। क्षपणक ने अपने व्याकरण पर वृत्ति और महान्यास नामक ग्रन्थ लिखे थे। उज्ज्वलदत्त ने क्षपणक की उणादिवृत्ति का उल्लेख किया है[1]। इन सब पर विचार करने से प्रतीत होता है कि क्षपणक ने अपने धातुपाठ पर भी कोई व्याख्यानग्रन्थ अवश्य लिखा होगा।

क्षपणक के काल आदि के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग, पृष्ठ ४२० पर लिख चुके हैं।

१०—देवनन्दी (वि० सं० ५०० पूर्व)

जैन आचार्य देवनन्दी के जैनेन्द्र व्याकरण के विषय में इस ग्रंथ के भाग १, पृष्ठ ४२१–४२८ (प्र० सं०) तक विस्तार से लिख चुके हैं।

आचार्य देवनन्दी का काल—आचार्य देवनन्दी का काल वि० सं० ५००–५५० के मध्य है, ऐसा हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग, पृष्ठ ३२८–३२९ (प्र० सं०) लिख चुके हैं। इसके पश्चात् सं० २०१३ में काशी के भारतीय ज्ञानपीठ से जैनेन्द्र व्याकरण महावृत्तिसहित प्रकाशित हुआ। उसके आरम्भ में हमारा 'जैनेन्द्र व्याकरण और उसके खिलपाठ' शीर्षक एक लेख छपा है। उसमें पृष्ठ ४२ पर आचार्य देवनन्दी के काल के निश्चय के लिए एक नया प्रमाण उपस्थित किया है। तदनुसार आचार्य देवनन्दी गुप्तवंशीय महाराजाधिराज कुमारगुप्त अपरनाम महेन्द्रकुमार के समकालिक हैं। महेन्द्रकुमार=

---

१. क्षपणकवृत्तौ अत्र 'इति' शब्द आद्यर्थे व्याख्यातः। पृष्ठ ६०।

कुमारगुप्त का काल पाश्चात्य मतानुसार वि० सं० ४७०–५१२ तक है। भारतीय इतिहासानुसार गुप्तकाल पाश्चात्य कालगणना की अपेक्षा लगभग २०० वर्ष प्राचीन है। कुछ भी हो अब इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी गुप्तवंशीय महाराजाधिराज कुमारगुप्त = महेन्द्रकुमार के समकालिक हैं।

जैनेन्द्र धातुपाठ और उसके दो पाठ

आचार्य पूज्यपाद के जैनेन्द्र व्याकरण के धातुपाठ का मूलपाठ इस समय उपलब्ध नहीं है। आचार्य गुणनन्दी (सं० ९१०–९६०) ने जैनेन्द्र व्याकरण का एक विशिष्ट प्रवचन किया। इसका नाम है शब्दार्णव। इसे वर्तमान वैयाकरण दाक्षिणात्य संस्करण के नाम से स्मरण करते हैं।[1] शब्दार्णव का जो संस्करण काशी से प्रकाशित हुआ है, उसके अन्त में जैनेन्द्र धातुपाठ छपा है। इसके अन्त में जो श्लोक छपा है, उससे ध्वनित होता है कि उक्त पाठ आचार्य गुणनन्दी द्वारा संशोधित है।

शब्दार्णव के अन्त में छपा धातुपाठ आचार्य गुणनन्दी द्वारा संस्कृत है। इसमें यह भी प्रमाण हैं कि जैनेन्द्र १।२।७३ की महावृत्ति में मित्संज्ञाप्रतिषेधक 'यमोऽपरिवेषणे' धातुसूत्र उद्धृत है। देवनन्दी द्वारा संस्कृत धातुपाठ में न तो कोई मित्संज्ञाविधायक सूत्र मिलता है और न प्रतिषेधक। प्राचीन धातुग्रन्थों में नन्दी के नाम से जो धातुनिर्देश उपलब्ध होते हैं, वे उसी रूप में इस धातुपाठ में सर्वथा नहीं मिलते। इससे भी यही प्रतीत होता है कि वर्तमान जैनेन्द्र धातुपाठ गुणनन्दी द्वारा परिष्कृत है।

जैनेन्द्र के मूल धातुपाठ के उपलब्ध न होने के कारण भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित जैनेन्द्रमहावृत्ति के अन्त में मेरे निर्देश से गुणनन्दी द्वारा संशोधित पाठ ही छपा है।[2]

वृत्तिकार

जैनेन्द्र धातुपाठ पर अनेक वैयाकरणों ने वृत्तिग्रन्थ लिखे होंगे, परन्तु सम्प्रति उनमें से कोई भी इस समय उपलब्ध नहीं है।

---

१. देवनन्दी द्वारा संस्कृत शब्दार्णव व्याकरण के विषय में देखिए—सं. व्या. शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४२८–४३८ (प्र. सं.)।

२. जैनेन्द्र महावृत्ति ज्ञानपीठ संस्करण के आरम्भ में, पृष्ठ ४७।

१—आचार्य देवनन्दी

आचार्य देवनन्दी ने अपने धातुपाठ पर कोई व्याख्यान लिखा, इस विषय में कोई साक्षात् वचन उपलब्ध नहीं होता। परन्तु हैमलिङ्गानुशासन स्वोपज्ञ-विवरण में नान्दिधातुपारायण (पृष्ठ १३२, पं० २०) तथा नन्दिपारायण (पृष्ठ १३३ पं० २३) के पाठ उद्धृत हैं। इनसे इतना स्पष्ट है कि आचार्य देवनन्दी ने धातुपाठ पर कोई वृत्तिग्रन्थ लिखा था और उसका नाम धातु-पारायण था। आचार्य देवनन्दी ने पाणिनीय व्याकरण पर भी शब्दावतार-न्यास नाम का एक ग्रन्थ लिखा था।[1] धातुपारायण नाम का एक धातु-व्याख्यान ग्रन्थ पाणिनीय धातुपाठ पर भी था। सर्वानन्द ने अमरटीकासर्वस्व में लिखा है—

वावदूकः— वदेर्यङन्ताद् यजजपदशां यङः इति बहुवचननिर्देशाद-न्यतोऽपि ऊक इति धातुपारायणम्। भाग ४, पृष्ठ १८।

यहाँ उद्धृत यजजपदशां यङः सूत्र पाणिनीय व्याकरण (३।२।१६६) का है। इसलिए उक्त धातुपारायण भी पाणिनीय धातुपाठ पर था, यह स्पष्ट है।

माधवीया धातुवृत्ति में वन षण संभक्तौ (पृष्ठ ९४) धातुपाठ पर धातु-पारायण का एक पाठ उद्धृत है। उससे भी यही विदित होता है कि धातु-पारायण नाम का कोई ग्रन्थ पाणिनीय धातुपाठ पर भी था।

ऐसी अवस्था में हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि आचार्य देवनन्दी का धातुपारायण पाणिनीय धातुपाठ पर था अथवा जैनेन्द्र धातुपाठ पर।

२—श्रुतपाल (वि० ९ शती अथवा कुछ पूर्व)

श्रुतपाल के धातुविषयक अनेक मत धातुव्याख्यानग्रन्थों में उद्धृत हैं। श्रुतपाल ने जैनेन्द्र धातुपाठ पर कोई व्याख्यानग्रन्थ लिखा था, यह हम इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४११ (प्र० सं०) पर लिख चुके हैं।

काल—श्रुतपाल का निश्चित काल अज्ञात है। इसके जो उद्धरण व्याकरण-ग्रन्थों में उद्धृत हैं, उनसे निम्न परिणाम निकाला जा सकता है—

कातन्त्र व्याकरण की भगवद् दुर्गसिंह की कृद्वृत्ति के व्याख्याता अपर दुर्गसिंह ने कृतसूत्र ४१ तथा ६८ की वृत्ति टीका में श्रुतपाल का उल्लेख किया है।[2] इस कातन्त्रवृत्ति टीकाकार दुर्गसिंह का काल विक्रम की नवम शती

---

१. द्र० सं० व्या० शास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ ३२३ (प्र० सं०)
२. द्र० सं० व्या० शास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ ४११ (प्र० सं०)

है ।[1] इसलिए श्रुतपाल का काल विक्रम की नवम शती अथवा उससे कुछ पूर्व है, इतना ही साधारणतया कहा जा सकता है ।

३—आर्य श्रुतकीर्ति

आर्य श्रुतकीर्ति ने जैनेन्द्र व्याकरण पर पञ्चवस्तु नाम का एक प्रक्रिया-ग्रन्थ लिखा है । इस प्रक्रियाग्रन्थ के अन्तर्गत जैनेन्द्र धातुपाठ का भी व्याख्यान है । आर्य श्रुतकीर्ति का काल विक्रम की १२ वीं शती का प्रथम चरण है ।[2]

४—वंशीधर

वंशीधर नाम के आधुनिक वैयाकरण ने भी जैनेन्द्र प्रक्रिया ग्रन्थ लिखा है । इसका अभी पूर्वार्ध ही प्रकाशित हुआ है । इसके उत्तरार्ध में धातुपाठ की भी व्याख्या होगी ।

शब्दार्णवसंबद्ध जैनेन्द्र धातुपाठ

जैनेन्द्र धातुपाठ के गुणनन्दी-परिष्कृत संस्करण पर किसी वैयाकरण ने कोई वृत्तिग्रन्थ लिखा अथवा नहीं, यह अज्ञात है । हाँ शब्दार्णव पर किसी अज्ञातनामा ग्रन्थकार ने एक प्रक्रियाग्रन्थ लिखा है ।[3] इसके अन्तर्गत इस धातुपाठ की व्याख्या भी है ।

११—वामन (सं० ४०० अथवा ६०० से पूर्व)

वामनविरचित विश्रान्त विद्याधर नामक व्याकरण और उसकी स्वोपज्ञ बृहत् व लघु वृत्तियों का निर्देश हम इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग, पृष्ठ ४३१—४३४ (प्र० सं०) पर कर चुके हैं । वहीं पर तार्किकशिरोमणि मल्लवादी कृत न्यास ग्रन्थ का उल्लेख कर चुके हैं ।

वामन ने स्वव्याकरणसंबद्ध धातुपाठ का प्रवचन भी अवश्य किया होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं । परन्तु इस धातुपाठ और इसके किसी व्याख्याता अथवा व्याख्या का कोई साक्षात् उद्धरण हमारे देखने में नहीं आया । हाँ, क्षीरस्वामी ने धातुसूत्र १।२१६ की व्याख्या में एक पाठ उद्धृत किया है । वह इस प्रकार है—

अत एव विड शब्दे पिट आक्रोशे इति मल्लः पर्यट्टकान्तरे विभज्याह । क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ ५४ ।

---

१. वही, पृष्ठ ४११ । २. वही, पृष्ठ ४२८ । ३. वही, पृष्ठ ४३१ ।

यदि इस उद्धरण में स्मृत 'मल्ल' से आचार्य मल्लवादी का निर्देश हो, तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मल्लवादी ने विश्रान्त विद्याधर व्याकरण से संबद्ध धातुपाठ पर कोई व्याख्यानग्रन्थ लिखा था।

धातुपाठसंबन्धी वाङ्मय में प्रसिद्ध एक मल्ल आख्यातचन्द्रिका का लेखक भट्टमल्ल भी है। परन्तु क्षीरतरङ्गिणी में स्मृत मल्ल भट्टमल्ल नहीं है। वह तो साक्षात् किसी धातुपाठ का व्याख्याता है, यह पर्यट्टकान्तरे विभङ्ग्याह पदों से स्पष्ट है।

इससे अधिक इस व्याकरण के धातुपाठ के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते।

१२—पाल्यकीर्ति (शाकटायन) (सं० ८७१-९२४)

आचार्य पाल्यकीर्ति के शाकटायन व्याकरण और उसके काल आदि के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ४३५-४४० (प्र० सं०) तक विस्तार से लिख चुके।

शाकटायन नाम का कारण—हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४३५ पर लिखा था कि "वैदिक वैयाकरणों में सर्वोत्कृष्ट शाकटायन का नाम उत्कर्षता के द्योतन के लिए जैन सम्प्रदाय के महावैयाकरण पाल्यकीर्ति के साथ भी युक्त कर दिया।" इस लेख के कुछ वर्ष पश्चात् पाल्यकीर्ति के शाकटायन नाम का विशिष्ट कारण हमें ज्ञात हुआ। वह इस प्रकार है—

पाणिनि का एक सूत्र है गोषदादिभ्यो वुन् (५।२।६२)। इससे गोषद आदि से मत्वर्थ में अध्याय अथवा अनुवाक अर्थ गम्यमान होने पर वुन् प्रत्यय होता है। गोषद शब्द जिस अध्याय अथवा अनुवाक में होगा, वह 'गोषदकः' कहलाएगा। इसी प्रकार इषेत्वकः देवस्यत्वकः आदि। पाल्यकीर्ति ने इस गोषदादिगणनिर्देशक सूत्र के स्थान में घोषदादेर्वुच्[1] (३।३।१७८) सूत्र पढ़ा है। इस प्रकार उसने प्राचीन परम्पराप्राप्त 'गोषद' शब्द को हटाकर 'घोषद' का निर्देश किया है। यह विशिष्ट परिवर्तन किसी अतिमहत्त्वपूर्ण परिस्थिति का सूचक है। मैत्रायणी संहिता १।१।२ और काठक संहिता १।२ का आदि मन्त्र है गोषदसि। इसमें 'गोषद' शब्द समूह श्रुत है। तैत्तिरीय संहिता १।१।२ में पाठ है यज्ञस्य घोषदसि। इसमें 'घोषद' शब्द श्रुत है। मन्त्रों

---

१. लाजरस प्रेस काशी के छपे शाकटायन व्याकरण में घोषडादेर्वुच् पाठ है। वह अशुद्ध है, क्योंकि 'घोषड' किसी शाखा में उपलब्ध नहीं होता। हैम ने पाल्यकीर्ति का अनुकरण करते हुए घोषडादि का ही निर्देश किया है।

की इस तुलना और पाणिनि तथा पाल्यकीर्ति के सूत्र पाठों की तुलना करने से प्रतीत होता है कि पाल्यकीर्ति मूलतः तैत्तिरीय शाखा अध्येता ब्राह्मण रहा होगा और इसका गोत्र शाकटायन होगा। ब्राह्मण धर्म का परिवर्तन हो जाने पर भी पाल्यकीर्ति के लिए शाकटायन गोत्रनाम का व्यवहार होता रहा। ऐसी अवस्था में इस शाकटायन के लिए भी शकटपुत्र अथवा शकटाङ्गज आदि पदों का प्रयोग युक्त है।

शाकटायन धातुपाठ

पाल्यकीर्ति ने स्वीय शब्दानुशासन से संबद्ध धातुपाठ का भी प्रवचन किया था। यह धातुपाठ काशी से मुद्रित लघुवृत्ति के अन्त में छपा है। शाकटायन धातुपाठ पाणिनि के पश्चिमोत्तर अथवा उदीच्य पाठ से अधिक मिलता है।

वृत्तिकार

पाल्यकीर्तिप्रोक्त धातुपाठ पर अनेक वैयाकरणों ने व्याख्याएँ लिखी होंगी, परन्तु हमें उनमें से निम्न व्याख्याकारों का ही परिज्ञान है।

१—पाल्यकीर्ति

पाल्यकीर्ति ने अपने व्याकरण की स्वोपज्ञ अमोघा वृत्ति लिखी है। इस युग में प्रायः सभी ग्रन्थकारों ने विशेषकर सूत्रकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों पर स्वयं व्याख्याग्रन्थ लिखे हैं। इससे सम्भावना है कि पाल्यकीर्ति ने भी स्वीय धातुपाठ पर कोई व्याख्याग्रन्थ लिखा हो। सायण ने माधवीया धातुवृत्ति में पाल्यकीर्ति अथवा शाकटायन के जो पाठ उद्धृत किए हैं, उनमें से निम्न दो पाठ विशेष महत्त्व के हैं—

१—सायण तनादिगण की क्षिणु धातु पर लिखता है—

शाकटायनक्षीरस्वामिभ्यामयं धातुर्न पठ्यते। .....शाकटायनः पुनस्तत्र (स्वादौ) छान्दसमेवाह। पृष्ठ ३५६ ॥

अर्थात् शाकटायन ने तनादिगण में क्षिणु धातु नहीं पढ़ी।.........वह स्वादि में पठित क्षि धातु को छान्दस कहता है।

इससे स्पष्ट है कि शाकटायन ने अपने धातुपाठ पर कोई वृत्तिग्रन्थ लिखा था, उसी में उसने स्वादिगणस्थ क्षि धातु को छान्दस कहा होगा।

२—सायण[1] कण्ड्वादि के व्याख्यान में लिखता है—

---

१. कण्ड्वादिगण के आरम्भ में 'तेन सायणपुत्रेण व्याख्या कापि विरच्यते' पाठ है। तदनुसार इस अंश का व्याख्याता सायणपुत्र है।

तदेतन्मोघाया शाकटायनधातुवृत्तौ अर्थनिर्देशरहितेऽपि गणपाठे......। धातुवृत्ति, पृष्ठ ४०४।

३—व्यक्तं चैतद् धनपालशाकटायनवृत्त्योः। पुरुषकार पृष्ठ २६।

इन उद्धरणों से शाकटायन की स्वोपज्ञ धातुवृत्ति का सद्भाव विस्पष्ट है। धातुवृत्ति का पाठ कुछ भ्रष्ट है।

२—प्रक्रिया-ग्रन्थकार

पाल्यकीर्ति के व्याकरण के अनुसार अभयचन्द्राचार्य ने प्रक्रियासंग्रह, भावसेन त्रैविद्य देव ने शाकटायन टीका तथा दयालपालमुनि ने रूपसिद्धि नाम के प्रक्रियाग्रन्थ रचे हैं। इनमें प्रसङ्गात् धातुपाठ का भी कुछ अंश व्याख्यात हो गया है।

१३—शिवस्वामी (सं० ९१४–९४०)

शिवस्वामी प्रोक्त शब्दानुशासन तथा उसके काल आदि के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग, पृष्ठ ४३९ पर लिख चुके हैं।

धातुपाठ तथा उसकी वृत्ति

शिवस्वामी ने धातुपाठ पर सम्भवतः कोई वृत्तिग्रन्थ लिखा था। क्षीरतरङ्गिणी तथा माधवीया धातुवृत्ति में शिवस्वामी के धातुपाठविषयक अनेक मत उद्धृत हैं। ये उद्धरण सम्भवतः उसके धातुव्याख्यान से ही उद्धृत किए होंगे।

हम नीचे शिवस्वामी के नाम से उद्धृत कतिपय ऐसे पाठ लिखते हैं, जिन से शिवस्वामी का धातुपाठप्रवक्तृत्व तथा उसका व्याख्यातृत्व स्पष्ट हो जाता है। यथा—

१—धूञ् इतीहामुं शिवस्वामी दीर्घमाह। क्षीरतरङ्गिणी ५।१०॥

२—शिवस्वामिकाश्यपौ तु [धुञ् धातुं] दीर्घान्तमाहतुः। धातुवृत्ति, पृष्ठ ३१६॥

३—चान्तोऽयं [सश्च] इति शिवः। क्षीरतरङ्गिणी १।१२२॥

४—शिवस्वामी वकारोपधं [घृवु] पपाठ। धातुवृत्ति, पृष्ठ ३५७॥

इस से अधिक शिवस्वामी के धातुपाठ और उसकी धातुवृत्ति के विषय में कुछ नहीं जानते।

१४—भोजदेव (सं० १०७५–१११०)

धाराधीश महाराज भोजदेव के सरस्वतीकण्ठाभरण नामक व्याकरण और काल आदि के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग, पृष्ठ ४४०–४४६ (प्र० सं०) तक विस्तार से लिख चुके।

भोजीय धातुपाठ

महाराज भोजदेव ने अपने शब्दानुशासन में धातुपाठ को छोड़कर अन्य सभी अङ्गों का यथास्थान सन्निवेश कर दिया, केवल धातुपाठ का पृथक् प्रवचन किया। भोजदेव के धातुपाठ के उद्धरण क्षीरतरङ्गिणी, माधवीया धातुवृत्ति आदि ग्रन्थों में भरे पड़े हैं।

वृत्तिकार

भोजीय धातुपाठ के किसी वृत्तिकार का हमें साक्षात् परिज्ञान नहीं है। क्षीरस्वामी और सायण ने भोज के धातुविषयक अनेक ऐसे मत उद्धृत किए हैं, जो उसके किसी वृत्ति-ग्रन्थ के ही हो सकते हैं।

नाथीय धातुवृत्ति

हमने पाणिनीय धातुपाठ के वृत्तिकारप्रकरण में संख्या ७ पर नाथीय धातुवृत्ति का निर्देश किया है। पदे पदैकदेश न्याय से यदि नाथीय शब्द दण्डनाथीय का निर्देशक हो, तो यह भोजीय धातुपाठ पर दण्डनाथविरचित धातुवृत्ति ग्रन्थ हो सकता है, परन्तु इस विषय का साक्षात् कोई प्रमाण हमें अभी उपलब्ध नहीं हुआ।

प्रक्रियान्तर्गत धातुव्याख्यान

सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४४६ पर सरस्वतीकण्ठाभरण पर लिखे गए पदसिन्धुसेतु प्रक्रियाग्रन्थ का उल्लेख किया है, उसमें आख्यातप्रक्रिया में धातुव्याख्यान भी अवश्य रहा होगा। इस ग्रन्थ को प्रक्रियाकौमुदी के टीकाकार विट्ठल ने (भाग २, पृष्ठ ३१३) उद्धृत किया है। अतः इसका काल वि० सं० १५०० से पूर्व है।

१५—बुद्धिसागर सूरि (सं० १०८०)

आचार्य बुद्धिसागर सूरि ने ७, ८ सहस्र श्लोकपरिमाण का पञ्चाङ्ग ग्रन्थी व्याकरण लिखा था। यह हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग, पृष्ठ ४४६, ४४७ (प्र० सं०) पर लिख चुके हैं। वहीं इस आचार्य के काल का भी निर्देश किया है।

धातुपाठ और उसकी वृत्ति

बुद्धिसागर सूरि प्रोक्त धातुपाठ और उसके वृत्तिग्रन्थ का साक्षात् उल्लेख हमें कहीं प्राप्त नहीं हुआ। पुनरपि व्याकरण के पाँच ग्रन्थों में धातुपाठ का अन्तर्भाव होने तथा हैमलिङ्गानुशासन स्वोपज्ञविवरण (पृष्ठ १००) लिङ्गानुशासन का उद्धरण होने से धातुपाठ का प्रवचन तो निश्चित है।

१६—भद्रेश्वर सूरि (सं० १२०० से पूर्व)

आचार्य भद्रेश्वर सूरिविरचित दीपक व्याकरण और उसके काल आदि के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४४७–४४८ (प्र० सं०) पर लिख चुके हैं।

धातुपाठ और उसकी व्याख्या

सायण ने धातुवृत्ति में श्रीभद्र नाम से भद्रेश्वर सूरि के धातुपाठविषयक अनेक मत उद्धृत किए हैं। उनसे भद्रेश्वर सूरि का धातुपाठप्रवक्तृत्व स्पष्ट है। धातुवृत्ति में कुछ उद्धरण ऐसे भी हैं, जिनसे श्रीभद्रकृत धातुवृत्ति का भी परिज्ञान होता है। यथा—

१—एवं च 'लक्षञ्' इति पठित्वा 'ञित्करणादन्येभ्यश्चुरादिभ्यो णिचश्च इति तङ् न भवति' इति च श्रीभद्रवचनमपि प्रत्युक्तम्। पृष्ठ ३७८।

२—अत्र श्रीभद्रादयो 'दीर्घोच्चारणसामर्थ्यात् पक्षे णिज् न' इति। पृष्ठ ३७९।

इससे अधिक भद्रेश्वर सूरि के धातुपाठ और वृत्ति के विषय में कुछ नहीं जानते।

१७—हेमचन्द्र सूरि (सं० ११४५—१२२९)

आचार्य हेमचन्द्र सूरि के शब्दानुशासन और काल के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४४८—४५२ (प्र० सं०) तक विस्तार से लिख चुके हैं।

धातुपाठ

हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण से संबद्ध सभी अङ्गों (खिलों) का प्रवचन किया। उसके अन्तर्गत धातुपाठ का प्रवचन भी सम्मिलित है।

वृत्तिकार

हेमचन्द्र सूरि के धातुपाठ पर जिन वैयाकरणों ने व्याख्याग्रन्थ लिखे, उनमें दो आचार्य परिज्ञात हैं—

१—आचार्य हेमचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने धातुपाठ पर स्वोपज्ञ-धातु-विवरण नाम की विस्तृत व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या छप चुकी है, परन्तु इस समय अप्राप्य है।

२—गुणरत्न सूरि (सं० १४६६)

आचार्य गुणरत्न सूरि ने हैम धातुपाठ पर क्रियारत्न-समुच्चय नाम्नी व्याख्या लिखी है।

परिचय—गुणरत्न सूरि ने क्रियारत्नसमुच्चय के अन्त में ६६ श्लोकों में गुरुपर्वक्रम वर्णन किया है। इस में ४९ पूर्वगुरुओं का वर्णन है। गुणरत्न सूरि के साक्षात् गुरु का नाम श्रीदेवसुन्दर था (श्लोक ५६)। देवसुन्दर के पाँच उत्कृष्ट शिष्य थे। उनके नाम श्री ज्ञानसागर, श्री कुलमण्डन, श्रीगुणरत्न, श्री सोमसुन्दर और श्री साधुरत्न थे। श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र वृत्ति से भी इसी की पुष्टि होती है।[1]

काल—आचार्य गुणरत्न सूरि ने क्रियारत्नसमुच्चय लिखने के काल का निर्देश स्वयं इस प्रकार किया है—

> काले षड्रस पूर्व १४६६ वत्सरमिते श्री विक्रमार्काद् गते
> गुर्वादेशवशाद् विमृश्य च सदा स्वान्योपकारं परम्।
> ग्रन्थं श्रीगुणरत्नसूरिरतनोत् प्रज्ञाविहीनोप्यमुं
> निर्हेतूपकृतिप्रधानजननैः शोध्यस्त्वयं धीधनैः ॥६३॥ पृष्ठ ३०९।

इस श्लोक के अनुसार गुणरत्न सूरि ने वि० सं० १४६६ में क्रियारत्न-समुच्चय लिखा।

क्रियारत्नसमुच्चय—गुणरत्न सूरि ने हैमधातु पारायण के अनुसार क्रियारत्न-समुच्चय ग्रन्थ लिखा है। इसमें प्राचीन मत के अनुसार सभी धातुओं के सभी प्रक्रियाओं में रूपों का संक्षिप्त निर्देश किया है। इस ग्रन्थ में धातुरूपसम्बन्धी अनेक ऐसे प्राचीन मतों का उल्लेख है, जो हमें किसी भी अन्य व्याकरण ग्रन्थ में देखने को नहीं मिले। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ संक्षिप्त होता हुआ भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

---

१. द्र० क्रियारत्न समुच्चय की अंग्रेजी भूमिका पृष्ठ १, टि० ४।

प्रक्रियाग्रन्थान्तर्गत धातुव्याख्यान

विनय विजय गणी ने हैमलघुप्रक्रिया और मेघ विजय ने हैमकौमुदी नाम के प्रक्रिया ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें हैमधातुपाठ की धातुओं का व्याख्यान उपलब्ध होता है।

१८—क्रमदीश्वर (सं० १३०० से पूर्व)
१९—सारस्वतकार (सं० १३०० के लगभग)
२०—वोपदेव (सं० १३००–१३४०)
२१—पद्मनाभ दत्त (सं० १४००)

इन वैयाकरणों के शब्दानुशासनों का वर्णन हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४५२–४५६ तक किया है। इन शब्दानुशासनों के अपने अपने धातुपाठ हैं और उन पर कतिपय वैयाकरणों के व्याख्याग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं।

वोपदेवीय धातुपाठ-कविकल्पद्रुम

वोपदेव ने अपना धातुपाठ पद्यबद्ध लिखा है। इसका नाम कविकल्पद्रुम है।

कविकल्पद्रुम की व्याख्या

१—कविकामधेनु—कविकल्पद्रुम पर ग्रन्थकार ने कविकामधेनु नाम की व्याख्या स्वयं लिखी है। एक कविकामधेनु नामक धातुविषयक ग्रन्थ दैव-व्याख्या पुरुषकार में पृष्ठ ४५,१०२ पर उद्धृत है। यह कविकल्पद्रुम की कामधेनुव्याख्या से भिन्न ग्रन्थ है। इसमें पाणिनीय सूत्र उद्धृत हैं। देखो पुरुषकार पृष्ठ १०३।

२—रामनाथकृत—सरस्वती भवन वाराणसी के संग्रह में वोपदेव के धातुपाठ पर रामनाथ (रमानाथ ?) की टीका सुरक्षित है। इस हस्तलेख के अन्त में लेखनकाल १७८३ शकाब्द अङ्कित है।

३—धातुदीपिका—यह टीकाग्रन्थ वासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्य के आत्मज दुर्गादास विद्यावागीश ने लिखा है।

धातुपाठसंबद्ध कतिपय ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार

धातुपाठ से सम्बद्ध कतिपय ऐसे ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के नाम धातुवृत्तियों में उपलब्ध होते हैं, जिनका सम्बन्ध किसी तन्त्रविशेष से अज्ञात है। उनका

नामनिर्देश हम नीचे करते हैं, जिससे भावी लेखकों को उनका यथावत् संबंध के अनुसन्धान में सुभीता हो।

ग्रन्थनाम

१—पाञ्जिका—क्षीरतरङ्गिणी, पृष्ठ ५८,११० पर उद्धृत।

२—पारायण—क्षीरतरङ्गिणी, पृष्ठ १०,२९१,३०५ पर उद्धृत।

३—प्रक्रियारत्न—धातुवृत्ति में बहुत्र तथा पुरुषकार पृष्ठ ११० पर उद्धृत।

४—कविकामधेनु—पुरुषकार पृष्ठ ३३,१०३ पर उद्धृत।

५—सम्मता—धातुवृत्ति ६२ तथा बहुत्र। द्र० सम्मतायां तु वर्धमान-वदुक्त्वाऽन्यैस्त्वयमिदित् पठ्यत इत्युक्तम्। धातु० पृ. ६२।

ग्रन्थकारनाम

१—आर्य—क्षीरत० पृष्ठ २५२। पुरुषकार पृष्ठ ४६,७२,७५,९१,११२।

२—आभरणकार—धातुवृत्ति, बहुत्र। यथा पृष्ठ २३४।

३—अहित—क्षीरतरङ्गिणी, पृष्ठ १०१।

४—उपाध्याय—क्षीरत०, पृष्ठ १८।

५—कविकामधेनुकार—पुरुषकार पृष्ठ ४५।

६—काश्यप—धातुवृत्ति, बहुत्र।

७—कुलचन्द्र—धातुदीपिका, पृष्ठ २३५।

८—कौशिक—क्षीरत०, पृष्ठ १४,१९ आदि अनेकत्र। पुरुषकार पृष्ठ १३,७०,७३।

९—गुप्त—क्षीरत०, पृष्ठ ६६,११२,३२०,३२३। पुरुषकार, पृष्ठ ७२,९८।

१०—गोविन्द भट्ट—धातुदीपिका, पृष्ठ १७३,२३७।

११—चतुर्भुज—धातुदीपिका, पृष्ठ २८,२१०,२३७ आदि।

१२—द्रमिड—क्षीरत०, पृष्ठ २२, ३४ आदि बहुत्र। पुरुषकार २६, ५१ आदि।

१३—धनपाल—पुरुषकार, पृष्ठ १२, १६, ३० आदि बहुत्र। धातुवृत्ति पृष्ठ ६१, १३६ आदि अनेकत्र।

१४—धातुवृत्तिकार—पुरुषकार, पृष्ठ ९, ३०, ९२।

१५—पञ्जिकाकार—क्षीरत०, पृष्ठ ५८ पं० २० पाठा०।

१६—पारायणिक—क्षीरत०, १, २, १८२, ३२३। पुरुषकार, पृष्ठ ९२, ९३।

१७—भट्टशशांकधर—क्षीरत०, पृष्ठ ७ ।
१८—मल्ल—क्षीरत०, पृष्ठ ५४ ।
१९—वर्धमान—धातुवृत्ति, पृष्ठ १३५ । धातुदीपिका, पृष्ठ ८ ।
२०—वृत्तिकृत् (धातुवृत्तिकृत्) क्षीरत०, पृष्ठ २० ।
२१—सभ्य—क्षीरत०, पृष्ठ १८, ३६ आदि बहुत्र । पुरुषकार, पृ० ९९ ।
२२—सुधाकर—पुरुषकार, पृष्ठ १२, ३२, ३५ बहुत्र । गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २३ ।
२३—सुबोधिनीकार—धातुवृत्ति बहुत्र ।
२४—स्वामी—क्षीरत०, पृष्ठ ५६ ।
२५—हेवाकिन—क्षीरत०, पृष्ठ १२५ ।

विशेष

(१) वर्धमान मैत्रेय का अनुयायी—सायण धातुवृत्ति (पृष्ठ १३५) में लिखता है—वर्धमानोऽपि मैत्रेयवल्लकारवन्तमिदितं चापठत् । इस से विदित होता है कि वर्धमान मैत्रेय से उत्तरवर्ती है । एक वर्धमान गणरत्न-महोदधि का रचयिता है । यह वर्धमान उससे भिन्न प्रतीत होता है ।

(२) धनपाल शाकटायन का अनुसारी—सायण ने औणादिक मचि धातु के व्याख्यान में लिखा है—धनपालस्तावत् शाकटायनानुसारी (धातु-वृत्ति पृष्ठ ६१) । इस से स्पष्ट है कि धनपाल शाकटायन का उत्तरवर्ती है और सम्भवतः शाकटायनीय धातुपाठ का व्याख्याकार है ।

(३) आभरणकार हरदत्त से उत्तरवर्ती—सायण धातुवृत्ति में लिखता है—

आभरणकारस्तु तालव्यान्तं पठित्वा 'वा निंश' इति सूत्रमपि स्वपाठानुगुणं पपाठ । तत्तु 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इत्यत्र वृत्तिन्यास-पदमञ्जर्याद्यपर्यालोचनविजृम्भितम् । पृष्ठ २३४ ।

इस से ध्वनित होता है कि सायण के मत में आभरणकार हरदत्त से उत्तरवर्ती है ।

कतिपय अनिर्ज्ञातसंबंध हस्तलिखित ग्रन्थ

१—धातुमञ्जरी—काशीनाथविरचित धातुमञ्जरी का एक अपूर्ण कोश जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में सुरक्षित है । द्र० सूचीपत्र सं० १४८, पृष्ठ ४२ ।

२—तिङन्तशिरोमणि—अडियार पुस्तकालय के सूचीपत्र में सं० ३९६ पर धातुपाठ का एक हस्तलेख निर्दिष्ट है। इसमें एक पाठ है—

तिङन्तशिरोमणिरीत्या धातवो लिख्यन्ते।

३—धातुमाला—अडियार पुस्तकालय के सूचीपत्र में संख्या ३९७ पर इसका हस्तलेख निर्दिष्ट है। यह ग्रन्थ पूर्ण है।

इस प्रकार आचार्य पाणिनि से उत्तरवर्ती धातुपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याताओं के विषय में लिखकर अगले अध्याय में गणपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याताओं के विषय में लिखेंगे॥

तेईसवां अध्याय

गणपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता

गणपाठ का स्थान—पञ्चाङ्गी अथवा पञ्चग्रन्थी व्याकरण[1] में गणपाठ का सूत्रपाठ और धातुपाठ के अनन्तर तृतीय स्थान है। जब व्याकरण अथवा शब्दानुशासन का अर्थ केवल सूत्रपाठ तक सीमित समझा जाता है, उस अवस्था में सूत्रपाठ के अतिरिक्त चारों ग्रन्थों को खिल अथवा परिशिष्ट का रूप दिया जाता है। इस दृष्टि से गणपाठ का खिलपाठों में द्वितीय स्थान है।

गण शब्द का अर्थ—गण शब्द गण संख्याने (क्षीरत०) धातु से निष्पन्न माना जाता है। तदनुसार गण शब्द का मूल अर्थ है—जिनकी गिनती की जाए।

गण और समूह में भेद—यद्यपि सामान्यतया गण-समूह-समुदाय समानार्थक शब्द हैं, तथापि गण और समूह अथवा समुदाय में मौलिक भेद है। गण उस समूह अथवा समुदाय को कहते हैं जहाँ पौर्वापर्य का कोई विशिष्ट क्रम अभिप्रेत होता है। समूह अथवा समुदाय में क्रम की अपेक्षा नहीं होती।

गणपाठ शब्द का अर्थ—गणों का=क्रमविशेष से पढ़े गए शब्दसमूहों का जिस ग्रन्थ में पाठ (=संकलन) होता है, उसे गणपाठ कहते हैं। इस सामान्य अर्थ के अनुसार धातुपाठ को भी गणपाठ कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें भी क्रमविशेष से पठित १० धातुगणों का संकलन है। इसी दृष्टि से धातुपाठ के लिए कहीं कहीं गणपाठ शब्द का प्रयोग भी उपलब्ध होता है[2], परन्तु वैयाकरणवाङ्मय में गणपाठ शब्द का प्रयोग उसी ग्रन्थ के लिए होता है, जिसमें केवल प्रातिपदिक शब्दों के समूहों का संकलन है, अर्थात् गणपाठ शब्द वैयाकरणनिकाय में शुद्ध यौगिक न रह कर योगरूढ़ बन गया है।

---

१. हेमचन्द्राचार्यैः श्रीसिद्धहेमाभिधानाभिधं पञ्चाङ्गमपि व्याकरणं''' । प्रबन्धचिन्तामणि, पृष्ठ ४६०। बुद्धिसागर प्रोक्त व्याकरण का एक नाम 'पञ्चग्रन्थी' था। सं० व्या० इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४४६ (प्र० सं०)। व्याकरण के ये पांचों ग्रन्थ लोक में 'पञ्चपाठी' नाम से प्रसिद्ध हैं।

२. गणपाठस्तु पूर्ववदेवाङ्गीक्रियते। न्यास, भाग १, पृष्ठ २११॥

गणपाठ का सूत्रपाठ से पार्थक्य—अति पुराकाल में जब शब्दों का उपदेश प्रतिपद पाठ द्वारा होता था[1], तब शब्दस्वरूपों की समानता के आधार पर कुछ शब्द समूह निर्धारित किए गए होंगे। उत्तरवर्ती काल में जब शब्दोपदेश ने प्रतिपदपाठ की प्रक्रिया का परित्याग करके लक्षणात्मक रूप ग्रहण कर लिया, उस काल में भी समान कार्य के ज्ञापन के लिए निर्देष्टव्य प्रातिपदिक अथवा नामशब्दों के समूहों को तत्तत् सूत्रों में ही स्थान दिया गया।[2] और उस उस समूह के आदि (=प्रथम) शब्द के आधार पर ही आरम्भ में कुछ संज्ञाएँ रखी गईं। उत्तरकाल में अर्थ की दृष्टि से अन्वर्थ और शब्दलाघव की दृष्टि से एकाक्षर संज्ञाओं की प्रकल्पना हो जाने पर भी अति-पुराकाल की आदि शब्द पर आधृत संज्ञा का व्यवहार पाणिनीय व्याकरण में भी क्वचित् सुरक्षित रह गया है।[3]

उत्तरकाल में अध्येताओं के मतिमान्द्य तथा आयुह्रास के कारण जब

---

१. एवं हि श्रूयते—बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम। महा० नवा० पृष्ठ ५० (निर्णयसागर)।

२. महाराज भोज द्वारा प्रोक्त सरस्वतीकण्ठाभरण में यह शैली देखी जा सकती है।

३. पाणिनि के शास्त्र में एकाक्षर से बड़ी जो भी संज्ञाएँ हैं, वे सब अन्वर्थ हैं। परन्तु एक 'नदी' संज्ञा ऐसी है, जो महती संज्ञा होते हुए भी अन्वर्थ नहीं है। यह संज्ञा पूर्वाचार्यों द्वारा गणादि शब्द के आधार पर रखी गई संज्ञाओं में से बची हुई संज्ञा है। अर्थात् पूर्वाचार्यों ने स्त्रीलिंग दीर्घ ईकारान्त शब्दों का जो समूह पढ़ा होगा, उसमें नदी शब्द का पाठ प्रथम होगा। उसी के आधार पर उस समुदाय की नदी संज्ञा रखी गई होगी (आधुनिक परिभाषा में ऐसे समुदाय को नद्यादि कहा जाता है)। इसी प्रकार की एक 'अग्नि' और 'श्रद्धा' दो संज्ञाएँ कातन्त्र व्याकरण में उपलब्ध होती हैं ('इदुदग्निः' २।१।८; 'आ श्रद्धा' २।१।१०) इन संज्ञाओं के प्रकाश में पाणिनि के 'गोतो णित्' (७।१।) सूत्र में 'गो' शब्द ओकारान्तों की संज्ञा प्रतीत होती है, उससे पञ्चम्यर्थक तसिल् का प्रयोग है। तपरकरण वर्ण-निर्देश में ही प्रयुक्त होता है अतः, 'गोतः' में तपरकरण नहीं हो सकता। गो संज्ञा मान लेने पर 'द्यो' शब्द के उपसंख्यान अथवा 'ओतो णित्' पाठान्तर कल्पना की आवश्यकता नहीं रहती।

समस्त वाङ्मय में संक्षेपीकरण आरम्भ हुआ, तब शब्दानुशासनों को भी संक्षिप्त करने के लिए समानकार्यज्ञापनार्थ निर्देष्टव्य तत्तद् गण अथवा समुदाय प्रथम शब्द के साथ आदि अथवा प्रभृति शब्दों को जोड़कर सूत्रपाठ में रखा और आदि पद से निर्देष्टव्य शब्द-समूहों को सूत्रपाठ से पृथक् पढ़ा।

गणशैली का उद्भव और पूर्व वैयाकरणों द्वारा प्रयोग—गणशैली के उद्भव के मूल में शास्त्र का संक्षेपीकरण मुख्य हेतु है। उसी लाघव के लिए शास्त्रकारों ने गणशैली को जन्म दिया। इस गणशैली का प्रयोग पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरणों ने भी अपने शब्दानुशासनों में किया है। उनके कतिपय निर्देश पूर्ववैयाकरणों के उपलब्ध सूत्रों और वैदिक व्याकरणों में उपलब्ध होते हैं।[1]

पाणिनि से पूर्ववर्ती गणपाठ-प्रवक्ता

आचार्य पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरणों के शब्दानुशासन इस समय उपलब्ध नहीं, अतः किस-किस वैयाकरण आचार्य ने अपने शब्दानुशासन के साथ गणपाठ का प्रवचन किया था, यह सर्वथा अज्ञात है। प्राचीन वैयाकरणों के उपलब्ध सूत्रों और उद्धृत मतों से इस विषय में जो प्रकाश पड़ता है, तदनुसार पाणिनि से पूर्ववर्ती निम्न आचार्यों ने गणपाठ का प्रवचन किया था—

१—भागुरि (४००० वि० पूर्व)[2]

आचार्य भागुरि के व्याकरणशास्त्र और उसके काल आदि के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग, पृष्ठ ६९–७४ (प्र० सं०) तक विस्तार से लिख चुके हैं। वहीं पर पृष्ठ ७१–७२ पर भागुरि-व्याकरण के उपलब्ध कतिपय वचन तथा मत लिखे हैं। उनमें निम्न वचन विशेष द्रष्टव्य हैं—

---

१. इस विषय के विस्तार के लिए देखिए हमारे मित्र प्रो० कपिलदेवजी, साहित्याचार्य, एम. ए., पी. एच. डी. द्वारा लिखित 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि' निबन्ध का प्रथम और द्वितीय अध्याय। यह ग्रन्थ भी 'भारतीय प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान' की ओर से छप रहा है।

२. पहले हमने भागुरि का काल न्यूनातिन्यून ३१०० वि० पूर्व लिखा था, परन्तु अब हमारा विचार है कि भागुरि का काल न्यूनातिन्यून ४००० विक्रम पूर्व है। इस पर विशेष सं० व्या० इतिहास के प्रथम भाग के नवीन संस्करण में लिखेंगे।

मुण्डादेस्तत्करोत्यर्थे गृह्णात्यर्थे कृतादितः ।
वक्तीत्यर्थे च सत्यादेरङ्गादेस्तन्निरस्यति ॥[1]
तूस्ताद्विघाते संछादेर्वस्त्रात् पुच्छादितस्तथा ।[2]
सेनातश्चाभियाने णिः श्लोकादेरप्युपस्तुतौ ।[3]

इन उद्धरणों में मुण्डादि, कृतादि, सत्यादि, पुच्छादि और श्लोकादि पाँच गणों का निर्देश है। विना गणपाठ के पृथक् प्रवचन के इस प्रकार के आदि पद घटित निर्देशों का कोई अर्थ नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि भागुरि ने गणपाठ का पृथक् प्रवचन अवश्य किया था।

एक अन्य प्रमाण—भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तम देव ने ४।१।१० की व्याख्या करते हुए लिखा है—नप्तेति भागुरिः। अर्थात् भागुरि के मत में नप्तृ शब्द भी स्वस्रादि गण में पठित था, इसलिए उससे स्त्रीलिङ्ग में ङीप् न होकर नप्ता प्रयोग ही होता था।

उक्त पाठ में अशुद्धि—पुरुषोत्तम देव द्वारा उद्धृत भागुरि मतनिदर्शक पाठ में हमें कुछ अशुद्धि प्रतीत होती है। कातन्त्र परिशिष्ट की गोपीनाथ कृत टीका पृष्ठ ३८९ (गुरुनाथ विद्यापति का संस्क०) में नप्तेति भागवृत्तिः, नप्त्रीति भागुरिः पाठ मिलता है। 'नप्ता' में ङीप् नहीं होता, यह मत भागवृत्तिकार के नाम से अन्य ग्रन्थों में भी उद्धृत है। यथा—

भागवृत्तिकारस्तु नप्तृशब्दमपि स्वस्रादिषु पठित्वा नप्ता कुमारी इत्युदाजहार। शब्दकौस्तुभ, भाग ३, पृष्ठ १०।

भागवृत्तिकृद् नप्तृशब्दं स्वस्रादौ पठितवान्। दुर्घटवृत्ति, पृष्ठ ७४।

हमारे विचार में पुरुषोत्तम देव के पाठ में कुछ भ्रंश हुआ है। सम्भव है यहाँ नप्तेति भागवृत्तिः नप्त्रीति भागुरिः ही मूल पाठ हो और लेखक की दृष्टिदोष से दोनों नामों में 'भाग' शब्द की समानता से लेखन में पाठ छूट गया हो अथवा मुद्रण काल में संशोधक के दृष्टिदोष से पाठ रह गया हो।

कुछ भी हो, भागुरि का गणपाठप्रवक्तृत्व तो उभयथा प्रज्ञापित होता है। नप्तेति भागुरिः पाठ से प्रतीत होता है कि भागुरि ने 'स्वस्रादि' गण में 'नप्तृ' का भी पाठ किया था। नप्त्रीति भागुरिः से प्रज्ञापित होता है कि भागुरि ने 'स्वस्रादि' गण में 'नप्तृ' का पाठ नहीं किया था। भागुरि ने स्वस्रादि गण पढ़ा था, यह तो सर्वथा स्पष्ट है।

---

१. जगदीश तर्कालंकार कृत शब्दशक्तिप्रकाशिका, पृष्ठ ४४४ (काशी सं०)
२. वही, पृ. ४४५। ३. वही, पृ. ४४६।

२—काशकृत्स्न (३१०० वि० पू०)

काशकृत्स्न के धातुपाठ का इसी भाग में पूर्व वर्णन कर चुके। धातुपाठ के पृथक् प्रवचन करने वाले वैयाकरण ने गणपाठ का भी पृथक् प्रवचन अवश्य किया होगा, इसमें सन्देह का कोई अवसर नहीं। चन्नवीर कविकृत धातु-पाठ की कन्नड टीका में काशकृत्स्न के जो १३५ सूत्र उपलब्ध हुए हैं,[1] उनमें एक सूत्र है—

क्षिप्रादीनां न नो णः। पृष्ठ २४७।[2]

अर्थात्—क्षिप्रा प्रभृति शब्दों में न के स्थान में ण नहीं होता। यथा क्षिप्राति।

इस सूत्र की पाणिनि के क्षुभ्नादिषु च (अष्टा० ८।४।३९) सूत्र से तुलना करने पर स्पष्ट है कि काशकृत्स्न ने कोई क्षिप्रादि गण अवश्य पढ़ा था।

३—आपिशलि (२९०० वि० पू०)

आपिशलि के व्याकरण और उसके काल आदि के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ९४–१०३ (प्र० सं०) तक विस्तार से लिख चुके हैं। पाणिनि द्वारा स्मृत आचार्यों में आपिशलि ही एक ऐसा आचार्य है, जिसके विषय में हम अन्यों की अपेक्षा अधिक जानते हैं। पदमञ्जरीकार हरदत्त के मतानुसार पाणिनीय तन्त्र की पृष्ठभूमि प्रधानरूप से आपिशल व्याकरण ही है।[3] हरदत्त के लेख की पुष्टि आपिशलि और पाणिनि के उपलब्ध शिक्षा-सूत्रों की तुलना से भी होती है। दोनों आचार्यों के शिक्षासूत्रों में कुछ साधारण सा वैशिष्ट्य है[4], अन्यथा दोनों में समानता है। आपिशलि के

---

१. इन सूत्रों की विशद व्याख्या के लिए देखिए हमारा 'काशकृत्स्न व्याकरण और उसके उपलब्ध सूत्र' नामक निबन्ध।

२. उक्त निबन्ध, क्रमिक सूत्र संख्या ११२।

३. कथं पुनरिदमाचार्येण पाणिनिनाऽवगतमेते साधव इति ? आपिशलेन पूर्वव्याकरणेन……। पदमञ्जरी, भाग १, पृष्ठ ६। इसी प्रकार पृष्ठ ७ पर भी लेख है।

४. पाणिनीय शिक्षासूत्रों में अष्टाध्यायी के समान आपिशलि का मत भी उद्धृत है। द्र० संख्या ११८। दोनों शिक्षासूत्रों का विस्तृत विवेचना-युक्त आदर्श संस्करण हम शीघ्र प्रकाशित कर रहे हैं।

व्याकरण के जो सूत्र, संज्ञा और प्रत्याहार आदि उपलब्ध हुए हैं, वे भी पाणिनीय सूत्र, संज्ञा और प्रत्याहारों से प्रायः समानता रखते हैं।[1]

गणपाठ

आचार्य आपिशलि ने स्वशब्दानुशासन से संबद्ध गणपाठ का पृथक् प्रवचन किया था। आपिशलि के सर्वादिगण के पाठक्रम का निर्देश करनेवाला आचार्य भर्तृहरि का एक वचन इस प्रकार है—

इह त्यदादीन्यापिशलेः किमादीन्यस्मत्पर्यन्तानि, ततः पूर्वापराध-रेति········। महाभाष्यदीपिका, हमारा हस्तलेख, पृष्ठ २८७।

अर्थात् आपिशलि के गणपाठ में त्यदादि—किम् से लेकर अस्मत् पर्यन्त थे, तत्पश्चात् पूर्वापराधर आदि गणसूत्र पठित थे।

भर्तृहरि के उक्त वचन की पुष्टि प्रदीपकार कैयट के निम्न वचन से भी होती है—

त्यदादीनि पठित्वा गणे कैश्चित् पूर्वादीनि पठितानि।[2]

इन उद्धरणों से आपिशलि के गणपाठ की सत्ता स्पष्ट प्रमाणित होती है।

पाणिनिपूर्ववर्ती अन्य गणकार

पाणिनि के पूर्ववर्ती अन्य वैयाकरणों ने भी गणपाठ का प्रवचन किया होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु उनके स्पष्ट निर्देशक प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं हुए, इसलिए हमने अन्यों का उल्लेख नहीं किया। प्रातिशाख्य-प्रवक्ताओं में भी कुछ एक ने गणपाठशैली का आश्रय लिया था, यह उनके विभिन्न सूत्रों से स्पष्ट है। इस विषय के विस्तार के लिए प्राध्यापक कपिलदेव साहित्याचार्य एम. ए. पी. एच. डी का "संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि" निबन्ध का द्वितीय अध्याय देखना चाहिए।[3]

पाणिनीय गणपाठ में कतिपय ऐसे भी अंश हैं, जिन से प्रतीत होता है कि पाणिनि ने उन अंशों को अपने से पूर्ववर्ती किन्हीं गणपाठ से उसी रूप में ग्रहण कर लिया है। यथा—

---

१. द्र० सं० व्या० शास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ ९८–१०१॥

२. महा० प्रदीप १।१।३२॥

३. यह ग्रन्थ 'भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान' की ओर से छप रहा है।

राजासे । हृदयासे ।५।१।१३०॥
वाजासे । वष्कयासे ।

इन गणसूत्रों में असे शब्द से असमासे का निर्देश है। पाणिनीय शब्दानुशासन में कहीं पर भी असमास के लिए अस का निर्देश उपलब्ध नहीं होता। पाणिनि से पूर्ववर्ती ऋक्तन्त्र में इस प्रकार के निर्देश बहुधा उपलब्ध होते हैं। यथा—

समासे का मासे शब्द से।[1]
स्वरे का रे शब्द से।[2]
लघु का घु शब्द से।[3]
स्तोभे का भे शब्द से।[4]

इसी प्रकार अनेक संज्ञाशब्दों का उसके अन्त्य अक्षर से निर्देश मिलता है। इनकी पूर्वनिर्दिष्ट गणसूत्रों में प्रयुक्त असे पद के साथ तुलना करने से निश्चित है कि पाणिनि ने अपने गणपाठ के प्रवचन में पूर्वाचार्यों के उक्त गणसूत्रों को उसी रूप में संगृहीत कर लिया है, उसमें स्वशास्त्र के अनुसार परिष्कार भी नहीं किया। आचार्य पाणिनि की यह शैली उसके शब्दानुशासन में भी परिलक्षित होती है। यथा—

औङ आपः। ७।१।१८॥
आङि चापः ।७।३।१०५॥
आङो नाऽस्त्रियाम् ।७।३।१२०॥

इन सूत्रों में स्मृत औङ् और आङ् प्रत्यय पाणिनि के शब्दानुशासन में कहीं पर भी पठित नहीं हैं। यहाँ पाणिनि ने पूर्व आचार्यों के सूत्रों को ही अपने प्रवचन में स्थान दे दिया। अत एव भाष्यकार ने भी स्पष्ट कहा है—

निर्देशोऽयं पूर्वसूत्रेण वा स्यात् ।७।१।१८॥

काशिकाकार ने भी ।७।३।१०४ की व्याख्या में लिखा है—

आङ् इति पूर्वाचार्यनिर्देशेन तृतीयैकवचनं गृह्यते।

---

१. मासे घमृति ।३।५।३० (पूर्ण संख्या १०३)॥ सप्रकृतिर्मासे संक्रमयोः। ३।७।५; (पूर्ण संख्या १२५)।

२. न वृद्धं रे ।३।१।८; (पूर्ण संख्या ६८)॥ रे ।३।६।९; (पूर्ण संख्या ११९)।

३. युग्मं घु ।४।३।१; (पूर्ण संख्या) २३६॥

४. भे स्वे मान्तस्थी ।४।१।१०; (पूर्ण संख्या १५०)।

इन निर्देशों से स्पष्ट है कि आचार्य पाणिनि से पूर्ववर्ती अनेक वैयाकरण के गणपाठ विद्यमान थे। आचार्य पाणिनि ने उनमें कहीं पर परिष्कार करके और कहीं पर यथातथ रूप में ही उनको अपने गण प्रवचन में स्वीकार कर लिया है।

४—पाणिनि २८०० वि० पू०

आचार्य पाणिनि का गणपाठ हमें उपलब्ध है, यह अत्यन्त सौभाग्य का विषय है। यदि यह लुप्त हो गया होता तो पाणिनीय शब्दानुशासन के गण-संबन्धी सूत्रों का पूर्ण तात्पर्य कभी समझ में न आता। पाणिनीय वैयाकरण जिस गणपाठ को अपनाते हैं, उसके पाणिनीयत्व-अपाणिनीयत्व विषय में प्राचीन ग्रन्थकारों में मतवैभिन्न्य उपलब्ध होता है। इसलिए उस पर कुछ विचार करना उचित है—

गणपाठ का अपाणिनीयत्व—काशिका के व्याख्याता जिनेन्द्रबुद्धि ने अपने न्यासग्रन्थ में कई स्थानों पर लिखा है कि यह गणपाठ पाणिनीय नहीं है। यथा—

१—अथ गण एव कौशिकग्रहणं कस्मान्न कृतम्? कः पुनरेवं सति गुणो भवति? सूत्रे पुनर्बभ्रुग्रहणं न कर्त्तव्यं भवति। सत्यमेतत्। अपाणिनीयत्वाद् गणस्य नैवं चाकरणे पाणिनिरुपालम्भमर्हति। ४।१।१०६॥

अर्थात्—[बभ्रु शब्द गर्गादि में पढ़ा है, उसका प्रयोजन लोहितादि-अन्तर्गत होने से 'ष्फ' विधान है। यदि ऐसा है तो] गर्गादिगण में ही बभ्रु के साथ कौशिक ग्रहण क्यों नहीं किया? इस प्रकार करने में क्या लाभ होता? सूत्र में बभ्रु शब्द के ग्रहण की आवश्यकता न होती। सत्य है। गणपाठ के अपाणिनीय होने से उक्त प्रकार निर्देश न करने के विषय में पाणिनि उपालम्भ के योग्य नहीं है।

२—किंशब्दोऽयं द्व्यादिषु पठ्यते तस्य द्व्यादिभ्यः पर्युदासः क्रियते। तस्मात् सर्वनाम्नोऽपि स्वशब्देनोपादानम्। यद्येवं द्विशब्दात् पूर्वं किं शब्दः पठितव्यः। एवं हि तस्य पृथक्ग्रहणं न कर्तव्यं भवति। सत्यमेतत्। न सूत्रकारस्य इह गणपाठ इति नासावुपालम्भमर्हति। ५।३।२॥

अर्थात्—'किम्' शब्द को सर्वादि गण में द्व्यादि शब्दों में पढ़ा है। उसका अद्व्यादिभ्यः पद से प्रतिषेध प्राप्त होता है। उस प्रतिषेध को दूर करने

के लिए सूत्र में सर्वनाम होते हुए भी 'किम्' शब्द का ग्रहण किया है। यदि ऐसा ही है तो 'किम्' शब्द को 'द्वि' से पहले पढ़ देना चाहिए [ऐसा करने पर न प्रतिषेध प्राप्त होगा और न उसको हटाने के लिए 'किम्' का ग्रहण करना होगा।] सत्य है। यहाँ सूत्रकार का गणपाठ नहीं है (अर्थात् गणपाठ का कर्ता अन्य है), इसलिए सूत्रकार को उपालम्भ नहीं दिया जा सकता।

कुछ अंश का वार्तिककार से भी उत्तरकालीनत्व—न्यासकार गणपाठ के कुछ अंश को वार्तिककार से भी उत्तरकालीन मानता है। वह लिखता है—

३—यद्येवं 'पद्यत्यतदर्थे' (६।३।५३) इति 'पद्भाव इके चरतावुपसंख्यानम्' कस्माद् उपसंख्यायते ? नैष दोषः। पादः पदित्यस्यापौराणिकत्वात्। ४।४।१०॥

अर्थात्—[पर्पादिगण में पठित पादः पत् सूत्र से ही ष्ठन् और पद्भाव होकर पदिकः पदिकी प्रयोग उपपन्न हो जाएँगे]। यदि ऐसा है तो पद्यत्यतदर्थे (६।३।५३) सूत्र पर पद्भाव इके चरतावुपसंख्यानम् वार्तिक पढ़कर पद्भाव के विधान की क्या आवश्यकता ? यह कोई दोष नहीं है, पादः पत् गणसूत्र के आधुनिक होने से।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि जिनेन्द्रबुद्धि पाणिनीय सम्प्रदायसंबद्ध गणपाठ को केवल अपाणिनीय ही नहीं मानता, अपितु उसके कुछ अंश को वह वार्तिककार से भी उत्तरकाल का मानता है।

आई. एस. पावले—न्यासकार के उक्त वचनों तथा कतिपय अन्य वचनों के आधार पर आई. एस. पावले ने भी गणपाठ के विषय में लिखा है कि अष्टाध्यायी के कर्ता ने गणपाठ तथा धातुपाठ दोनों को अपने आचार्यों से प्राप्त किया[1], अर्थात् ये पाणिनीय नहीं हैं।

गणपाठ का पाणिनीयत्व—न्यासकार को छोड़कर प्रायः अन्य सभी पाणिनीय वैयाकरण इस गणपाठ को पाणिनि का प्रवचन मानते हैं। पुनरपि हम इसके पाणिनीयत्व के ज्ञापक कतिपय प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—गणशैली को अपनाने वाला कोई भी वैयाकरण विना गणपाठ का निर्धारण किए अपने शब्दानुशासन का प्रवचन नहीं कर सकता। पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में सर्वत्र गणशैली का आश्रयण किया है, इसलिए आवश्यक है कि पाणिनि शब्दानुशासन के प्रवचन से पूर्व, तत्तद्गणसंबद्ध सूत्रों के

१. दी स्ट्रक्चर आफ अष्टाध्यायी, पृष्ठ ९१।

उपदेश से पूर्व उन उन गणों के स्वरूप का निर्धारण करे और उसके साहाय्य से शब्दानुशासन का प्रवचन करे। इस दृष्टि से यह सुतरां सिद्ध है कि पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन के गणसंबद्ध सूत्रों के प्रवचन से पूर्व उन उन गणों के स्वरूप का निर्धारण अवश्य किया होगा। और वह निर्धारण ही वर्तमान पाणिनीय-संप्रदाय-संबद्ध गणपाठ है।

२—भगवान् भाष्यकार ने जैसे महाभाष्य में अनेक स्थानों पर सूत्रपठित शब्दविशेषों से विभिन्न प्रकार के ज्ञापन करते हुए ज्ञापयति क्रिया के साथ आचार्य पद का निर्देश किया है, उसी प्रकार गणपाठ में पठित अनेक विशिष्ट शब्दों से भी अनेक अर्थविशेषों का ज्ञापन करते हुए आचार्य पद का प्रयोग किया है। यथा—

(क) यदयं युक्तारोह्यादिषु एकशितिपाच्छब्दं पठति तज्ज्ञापयत्याचार्यो निमित्तस्वरान्निमित्तिस्वरो बलीयानिति। महा० २।१।१॥

(ख) यदयं कस्कादिषु भ्रातुष्पुत्रशब्दं पठति तज्ज्ञापयत्याचार्यो नैकादेशनिमित्तात् षत्वं भवतीति। महा०। ८।३।११।

(ग) एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नोदात्तनिवृत्तिस्वरः शुन्यवतरति यदयं श्वन्शब्दं गौरादिषु पठति, अन्तोदात्तार्थं यत्नं करोति, सिद्धं हि स्यान्ङीपैव। महा० १।४।२७।६।४।२२।

(घ) एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न तद्विशेषेभ्यो भवति, यदयं विपाट्शब्दं शरत्प्रभृतिषु पठति। महा० १।१।२२।

(ङ) एवं तर्हि सिद्धे सति यत्सवनादिषु अश्वसनिशब्दं पठति, तज्ज्ञापयत्याचार्यो अनिणन्तादपि षत्वं भवतीति। महा० ८।३।११०।

(च) आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्यृकारान्नो णत्वमिति, यदयं क्षुभ्नादिषु नृनमनशब्दं पठति।······यस्तर्हि तृप्नोतिशब्दं पठति। महा० १।१।आ० २ (पृष्ठ १०८ निर्णय सागर)

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि महाभाष्यकार सूत्रपाठ के समान ही गणपाठ का प्रवक्ता भी आचार्य पाणिनि को ही मानते हैं। महाभाष्यकार जैसे मूर्धाभिषिक्त आचार्य के प्रमाणों के सम्मुख जिनेन्द्रबुद्धि का कथन क्यों कर प्रमाण हो सकता है?

जिनेन्द्रबुद्धि का वदतोव्याघात—धातुपाठ के प्रकरण में ही हम लिख चुके हैं कि जिनेन्द्रबुद्धि धातुपाठ के अपाणिनीयत्व का प्रतिपादन करते हुए अनेक स्थानों में अवरुद्ध कण्ठ से उसे पाणिनीय भी स्वीकार करता

है। उसी प्रकार गणपाठ के विषय में भी उसके परस्पर विरुद्ध वचन उपलब्ध होते हैं। गणपाठ के अपाणिनीयत्व-प्रतिपादक वचन हम ऊपर उद्धृत कर चुके। अब हम उसके कतिपय ऐसे वचन उद्धृत करते हैं, जिनमें वह गण-पाठ को पाणिनीय भी मानता है। यथा—

१. उपदेशेऽजनुनासिक इत् (अष्टा० १।३।२) के उपदेश पद की व्याख्या में काशिकाकार ने लिखा है—उपदेशः शास्त्रवाक्यानि, सूत्रपाठः खिलपाठश्च। अर्थात् उपदेश नाम शास्त्रवाक्यों का है, वह सूत्रपाठ और खिल पाठ रूप है। न्यासकार इसकी व्याख्या में लिखता है—

सूत्रपाठः खिलपाठश्च। खिलपाठो धातुपाठः। चकारात् प्रातिपदिक-पाठश्च। "यहाँ न्यासकार ने उपदेश पद की व्याख्या में सूत्रपाठ के समान ही प्रातिपदिक पाठ अर्थात् गणपाठ का भी निर्देश किया है। यदि सूत्रपाठ के समान ही गणपाठ भी पाणिनीय अभिप्रेत न होता तो उसका पाणिनीय उपदेश पद से कथंचित् भी ग्रहण नहीं हो सकता। यतः न्यासकार उपदेश पद की व्याप्ति गणपाठ पर्यन्त मानता है, अतः स्पष्ट है कि गणपाठ भी पाणिनीय है। अन्यथा—सूत्रपाठ और गणपाठ के प्रवक्ताओं में भिन्नता होने पर पाणि-नीय सूत्र की प्रवृत्ति गणपाठ में नहीं हो सकती।

२—कम्बलाच्च संज्ञायाम् (५।१।३) सूत्र के विषय में न्यासकार लिखता है।

अथ गवादिष्वेव कम्बलाच्च संज्ञायामिति कस्मान्न पठति। तत्र पाठे न कश्चिद् गुरुलाघवकृतो विशेष इति यत्किञ्चिदेतदिति। भाग २, पृष्ठ ६।

अर्थात्—गवादि (५।१।२) गण में ही कम्बलाच्च संज्ञायाम् सूत्र क्यों नहीं पढ़ता। वहाँ पाठ करने में [और यहाँ पाठ करने में] कोई गौरवलाघव-कृत विशेषता तो है नहीं, इसलिए यहाँ का पाठ प्रयोजनरहित है।

इस स्थान पर न्यासकार ने कम्बलाच्च संज्ञायाम् सूत्र को सूत्रपाठ में पढ़ने और गणपाठ में पढ़ने के गौरव लाघव पर विचार किया है। यह विचार तभी उत्पन्न हो सकता है जब कि दोनों का प्रवक्ता एक ही आचार्य हो। भिन्न-भिन्न प्रवक्ता मानने पर उक्त विचार किया ही नहीं जा सकता। इतना ही नहीं, कस्मान्न पठति वाक्य में पठति क्रिया का कर्ता पाणिनि के अतिरिक्त और कोई नहीं माना जा सकता, क्योंकि कम्बलाच्च संज्ञायाम् सूत्र का पाठ पाणिनि का है, अतः उक्त वाक्य में पठति क्रिया का कर्ता भी पाणिनि ही है यह निश्चित है।

३—न्यासकार ने अष्टा० ५।३।२ के सूत्रपाठ और गणपाठ की तुलना करके सूत्रपाठ में जो दोष दिखाई पड़ा, उसका समाधान न सूत्रकारस्येह गणपाठः इति नासावुपालम्भमर्हति अर्थात् यहाँ सूत्रकार का गणपाठ नहीं है।(गणपाठ अन्य आचार्य का है), इसलिए वह उपालम्भ योग्य नहीं है, ऐसा समाधान करके, उक्त समाधान से सन्तुष्ट न होकर समाधानान्तर लिखता है—

अपि च त्यदादीनां यत् यत् परं तत्तच्छिष्यते इति किमः सर्वैरेव त्यदादिभिः सहविवक्षायां शेष इष्यते—त्वं च कश्च कौ। स चैवं पाठे न सिद्ध्यतीति यथान्यासमेवास्तु।

अर्थात्—'त्यदादियों में जो जो परे होता है, उसका शेष इष्ट है' इस नियम से किम् का सभी त्यदादियों के साथ सहविवक्षा में शेषत्व इष्ट है। यथा—त्वं च कश्च कौ, भवांश्च कश्च कौ। वह उक्त प्रकार के पाठ में [त्यदादियों से किम् को पूर्व पढ़ने में] सिद्ध नहीं होता, इसलिए यथान्यास ही पाठ ठीक है।

यहां स्पष्ट ही न्यासकार ने पूर्व समाधान से असन्तुष्ट होकर समाधानान्तर किया और गणपाठ के यथास्थित पाठ को युक्तियुक्त दर्शाया। इससे तथा पूर्व-निर्दिष्ट दो प्रमाणों से स्पष्ट है कि न्यासकार गणपाठ को पाणिनीय ही मानता है, परन्तु जहाँ दोनों में उसे विरोध प्रतीत होता है, वहाँ वह सूत्रपाठ को प्रधानता देने के लिए प्रौढ़िवाद से गणपाठ के अपाणिनीयत्व का प्रतिपादन करता है।

न्यासकार की भ्रान्ति का कारण और समाधान—न्यासकार जिनेन्द्र-बुद्धि को गणपाठ के पाणिनीयत्व में जो भ्रान्ति हुई है, उसका कारण प्रोक्त और कृत ग्रन्थों के भेद का वास्तविक परिज्ञान न होना है। साम्प्रतिक अनु-संधानकर्त्ता भी प्रोक्त और कृत ग्रन्थों में भेद ज्ञान नहीं रखते, इसलिए उन के द्वारा निकाले गए परिणाम भी प्रायः असत्य होते हैं। प्रोक्त और कृत ग्रन्थों में क्या भेद होता है, यह हम विस्तार से पाणिनीय धातुपाठ के प्रकरण में विस्तार से लिख चुके हैं, अतः उसका पुनः पिष्टपेषण करना अयुक्त है। न्यास-कार को धातुपाठ के पाणिनीयत्व के संबंध में भी प्रोक्त और कृत ग्रन्थों के भेद का अपरिज्ञान होने से जो भ्रान्ति हुई, उसका निराकरण हम पाणिनीय धातुपाठ के प्रसङ्ग में कर चुके।

पाणिनि का गणपाठ उसका प्रोक्त ग्रन्थ है, इसलिए उसमें आदि से अन्त तक की सम्पूर्ण वर्णानुपूर्वी पाणिनि की अपनी नहीं है। पाणिनि ने

पूर्वपरम्परा से प्राप्त गणपाठों से उचित सामग्री को कहीं पूर्णतया उन्हीं के शब्दों में, कहीं स्वल्प परिवर्तन अथवा परिवर्धन करके अपने गणपाठ का प्रवचन किया है। पूर्व उद्धृत

राजासे।	हृदयासे।५।१।१३०।।
वाजासे।	वष्कयासे।

इत्यादि गणसूत्र पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के गणपाठों से अक्षरशः ग्रहण कर लिए हैं, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। इसलिए जैसे पाणिनीय अष्टाध्यायी में पूर्व आचार्यों के सूत्रों के निर्देश से सूत्रपाठ का पाणिनीयत्व खण्डित नहीं होता, उसी प्रकार धातुपाठ और गणपाठ में भी पूर्व आचार्यों की सामग्री का ग्रहण होने से उनके पाणिनीयत्व का प्रत्याख्यान नहीं हो सकता। इन ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी कुछ विरोध अथवा न्यूनाधिकता प्रतीत हो, उसका समाधान महाभाष्यकार का अनुसरण करते हुए[1] पूर्वाचार्यनिर्देश मान कर ही करना चाहिए।

गणपाठ के दो पाठ

हम अष्टाध्यायी और धातुपाठ के प्रकरण में विस्तार से लिख चुके हैं कि इनके पाणिनि द्वारा प्रोक्त ही न्यूनातिन्यून दो-दो संस्करण हैं। एक लघुपाठ है और दूसरा वृद्धपाठ। इसी प्रकार गणपाठ के भी पाणिनि के दो प्रवचन हैं अर्थात् दो प्रकार के पाठ हैं एक लघुपाठ और दूसरा वृद्धपाठ। गणपाठ का जो साम्प्रतिक पाठ है, वह उसका वृद्धपाठ है। लघुपाठ इस समय अप्राप्त है।

दो प्रकार के पाठ में प्रमाण—पाणिनि के गणपाठ का दो प्रकार का पाठ है इसकी सूचना महाभाष्यकार पतञ्जलि के निम्न पाठ से मिलती है। महाभाष्यकार तृज्वत् क्रोष्टुः, स्त्रियां च (७।१।९५, ९६) सूत्रों की व्याख्या में लिखते हैं—

तृज्वद्भावनिमित्तकः स ईकारः। नाकृते तृज्वद्भावे ईकारः प्राप्नोति। किं कारणम्? 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इत्युच्यते। ईकारे च तृज्वद्भावः। तदिदमितरेतराश्रयं भवति। इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते।

---

१. महाभाष्यकार ने पाणिनीय सूत्रों में प्रतीयमान असामञ्जस्य के निवारण के लिए स्थान स्थान पर 'पूर्वसूत्रनिर्देश' का आश्रयण किया है। यथा—निर्देशोऽयं पूर्वसूत्रेण वा स्यात्।७।१।१८॥

एवं तर्हि गौरादिषु पाठादीकारो भविष्यति। गौरादिषु न पठ्यते। नहि किंचित्तुन्नन्तं गौरादिषु पठ्यते। एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यः—भवत्यत्र ईकार इति यदयमीकारे तृज्वद्भावं शास्ति।

अर्थात्—तृज्वद्भाव को निमित्त मानकर वह ईकार होता है। तृज्वद्भाव विना किये ईकार प्राप्त नहीं होता। क्या कारण है? ऋकारान्तों से ङीप् होता है, ऐसा कहा है। (द्र० अष्टा० ४।१।५)। ईकार परे होने पर तृज्वद्भाव का विधान किया है। (द्र० अष्टा० ७।२।९६)। यह इतरेतराश्रय होता है (=ईकार हो तो तृज्वद्भाव हो, तृज्वद्भाव होवे तो ईकार हो)। इतरेतराश्रय कार्य सिद्ध नहीं होते। अच्छा तो गौरादि (गणपाठ ४।१।४१) पाठ से ईकार हो जाएगा (अर्थात् गौरादि में तुन्नन्त क्रोष्टु शब्द पढ़ा है)। गौरादि में नहीं पढ़ा जाता। कोई भी तुन्नन्त शब्द गौरादि में नहीं पढ़ा। अच्छा तो आचार्य बतलाते हैं कि यहाँ ईकार होता है, जो यह [आचार्य] ईकार परे रहने पर तृज्वद्भाव का विधान करते हैं।

इस उद्धरण में दो परस्पर विरुद्ध बातें कही प्रतीत होती हैं। पहले कहा है कि क्रोष्टु शब्द गौरादि (४।१।४१) गण में पढ़ा है। अगले वाक्य में कहा कि कोई भी तुन्नन्त गौरादि में नहीं पढ़ा। जहाँ पर इस प्रकार का विरोध होता है, उसके समाधान का मार्ग स्वयं भाष्यकार ने ऋलृक् सूत्र के भाष्य में दर्शाया है—

पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति। १।१। प्रत्या० सूत्र २।

अर्थात्—जहाँ विरोध की प्रतीति हो, वहाँ पक्षान्तर मानकर समाधान करना चाहिए।

इसी नियम से यहाँ भी प्रतीयमान विरोध के परिहार का मार्ग यही है कि गणपाठ के जिस पाठ में गौरादि में क्रोष्टु शब्द का पाठ था, उसे मानकर पूर्व समाधान दिया और जिस पाठ में गौरादि में क्रोष्टु शब्द का पाठ नहीं था उसे मान कर कहा कि गौरादि में कोई तुन्नन्त शब्द नहीं पढ़ा। यदि पक्षान्तर से परिहार न माना जाए तो भाष्यकार का उक्त कथन परस्परविरुद्ध होने से प्रमत्तगीत होगा।

महाभाष्य के इस स्थल की व्याख्या करते हुए कैयट ने स्पष्ट लिखा है—

गौरादिपाठादिति—'पृथिवी क्रोष्टुपिप्पल्यादयश्च' इति छेदाध्यायिनः पठन्ति। नहि किञ्चिदिति—संहिताध्यायिनो न पठन्ति।

अर्थात्—गौरादि गण में पृथिवी क्रोष्टु पिप्पल्यादयश्च ऐसा पाठ छेदाध्यायी पढ़ते हैं। संहिताध्यायी [उक्त पाठ] नहीं पढ़ते।

हमारे विचार में यहाँ छेदाध्यायी से गणपाठ के वृद्धपाठ के अध्येता अभिप्रेत हैं और संहिताध्यायी से लघुपाठ के अध्येता। वृद्धपाठ में पिप्पल्यादयश्च गणसूत्र के उदाहरणरूप पृथिवी, क्रोष्टु आदि शब्द भी पढ़े गये थे और लघुपाठ में गणसूत्र ही पठित था, उदाहरणभूत शब्दों का निर्देश नहीं था।

नागेश की भूल—नागेशभट्ट ने कैयट के इस स्थल की व्याख्या में लिखा है—

आचार्याणां मतभेदेन क्रोष्टुशब्दपाठापाठावुक्तौ।

अर्थात्—आचार्यों के मतभेद से गौरादि गण में क्रोष्टु शब्द का पाठ अथवा पाठाभाव कहा है।

इससे ऐसा ध्वनित होता है कि नागेश पाणिनि से भिन्न आचार्यों द्वारा पठित गणपाठ में क्रोष्टु शब्द के पाठ अथवा पाठाभाव मानता है।

उभयपाठों का पाणिनीयत्व—गणपाठ के वृद्ध और लघु दोनों पाठ पाणिनि-प्रोक्त हैं। यह अष्टाध्यायी और धातुपाठ के वृद्ध और लघुपाठ की तुलना से स्पष्ट है।

कई विद्वानों का कहना है कि गौरादि गण में पिप्पल्यादयश्च गणसूत्र सर्वथा प्रक्षिप्त है। क्योंकि पाणिनि ने कहीं पर भी पिप्पल्यादि शब्द नहीं पढ़े, जिनके आधार पर गणसूत्र की रचना हो सके।[1]

वस्तुतः यह कथन चिन्त्य है पाणिनीय गणपाठ में अन्यत्र भी अवान्तर गणसूचक गणसूत्र विद्यमान हैं, यथा गहादि (४।२।१३८) गण में वेणुकादिभ्यश्छण् गणसूत्र। ऐसे सभी गण अथवा गणसूत्र उन प्राचीन गणपाठों से आए हुए हैं, जिनमें ये गण स्वतन्त्र रूप से अन्यत्र पढ़े गये थे। गहादि गण में पठित वेणुकादिभ्यश्छण् गणसूत्र इस बात की स्पष्ट घोषणा कर रहा है कि इस गणसूत्र को पाणिनि ने किसी पूर्वाचार्य के गणपाठ से लिया है, क्योंकि गहादियों से 'छ' प्रत्यय तो प्राप्त ही है, केवल उसके णित्व का विधान ही इष्ट है। यदि इस सूत्र को पाणिनि पूर्वसूत्र के रूप में ही स्वीकार न करते तो वेणुकादिभ्यो णित् आनुपूर्वी रखनी चाहिए थी।

---

१. द्रष्टव्य—प्राध्यापक कपिल देव साहित्याचार्य एम. ए. पी. एच. डी. का 'संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि' नामक निबन्ध, अ० २। यह ग्रन्थ छप रहा है।

गणपाठ का अनेकधा प्रवचन—पाणिनि ने अष्टाध्यायी और धातुपाठ का जैसे अनेकधा प्रवचन किया, उसी प्रकार गणपाठ का भी अनेकधा प्रवचन किया था। उसी प्रवचनभेद से गणपाठ के न्यूनातिन्यून दो प्रकार के पाठ उपपन्न हुए। नद्यादि गण (४।२।९७) में पठित पूर्वनगरी पद की व्याख्या करते हुए काशिकाकार ने लिखा है—

पौर्वनगरेयम्। केचित्तु पूर्वनगिरीति पठन्ति विच्छिद्य च प्रत्ययं कुर्वन्ति पौरेयम्, वानेयम्, गैरेयम्। तदुभयमपि दर्शनं प्रमाणम्।

अर्थात्—[पूर्वनगरी से] पौर्वनगरेय। कई लोग 'पूर्वनगिरि' पढ़ते हैं और उससे 'पूर्-वन-गिरि' ऐसा विच्छेद करके प्रत्यय करते हैं और रूप बताते हैं पौरेयम्, वानेयम्, गैरेयम्। ये दोनों ही दर्शन प्रमाण हैं।

हरदत्त द्वारा स्पष्टीकरण—काशिका के उक्त मत का स्पष्टीकरण करते हुए हरदत्त ने लिखा है—

उभयथाप्याचार्येण शिष्याणां प्रतिपादनात्

अर्थात् आचार्य द्वारा दोनों प्रकार [पूर्वनगरी—पूर्-वन-गिरि] का प्रतिपादन होने से दोनों पाठ प्रमाण हैं।

ऐसा ही न्यासकार ने भी लिखा है। (भाग पृष्ठ ९५९)।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि आचार्य पाणिनि ने गणपाठ का अनेकधा प्रवचन किया था।

गणपाठ के अध्ययनाध्यापन का उच्छेद

हम इसी ग्रन्थ के अठारहवें अध्याय (भाग २, पृष्ठ ३) पर लिख चुके हैं कि शब्दानुशासन से गणपाठ आदि के पृथक्करण से एक महती हानि हुई। अध्येता लोगों ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का अध्ययन छोड़ दिया। उसका फल यह हुआ कि गणपाठ के पाठ में बहुत गड़बड़ी हो गई, शुद्धपाठ लुप्त हो गया। उसकी यह दीन अवस्था देखकर काशिकाकार ने महान् परिश्रम से गणपाठ के पाठ का शोधन किया। अतएव उसने काशिका के आरम्भ में एक विशेषण रखा—शुद्धगणा। इसकी व्याख्या में हरदत्त लिखता है—

तथा शुद्धगणा—वक्ष्यति 'लोहितडाज्भ्यः क्यष्वचनं भृशादिष्वितराणि' इति, 'कण्वात्तु शकलः पूर्वः कतादुत्तर इष्यते' इति च। सैषा गणस्य शुद्धिः। वृत्त्यन्तरेषु तु गणपाठ एव नास्ति, प्रागेव शुद्धिः। भाग १, पृष्ठ ४।

अर्थात्—कहेगा [काशिकाकार] लोहित और डाजन्तों से क्यष् करना चाहिये, शेष लोहितादि पदों को भृशादि में पढ़ देना चाहिये। तथा शकल शब्द का पाठ कण्व से पूर्व और कत से उत्तर इष्ट है। यह है गण की शुद्धि। अन्य वृत्तियों में गणपाठ नहीं है, उनमें पहिले ही गण साफ हैं।

काशिकाकार के गणपाठ की शुद्धि का प्रयत्न अनेक स्थानों पर स्पष्टतया उपलब्ध होता है। गोपवनादि गण के सम्बन्ध में लिखता है—

एतावत एवाष्टौ गोपवनादयः। परिशिष्टानां हरितादीनां प्रमादपाठः। काशिका २।४।६७॥

अर्थात्—इतने ही पाठ गोपवनादि शब्द हैं। अवशिष्ट हरितादि का पाठ प्रमादजन्य है।

गणपाठ का आदर्श संस्करण—काशिकाकार के इतना महान् प्रयत्न करने पर भी गणपाठ उत्तर काल में भ्रष्ट, भ्रष्टतर और भ्रष्टतम होता गया।

आज गणपाठ की यह स्थिति है कि कोई भी दो हस्तलेखों के पाठ परस्पर समान नहीं हैं। काशिका के हस्तलेखों में भी गणपाठ में महद् अन्तर उपलब्ध होता है। ऐसी भयानक स्थिति में जहाँ गणपाठ के परिशोधन का कार्य बहुत महत्त्व रखता है, वहाँ यह अत्यधिक परिश्रम भी चाहता है। हमारे मित्र प्रो० कपिलदेवजी साहित्याचार्य एम. ए ने पी. एच. डी के लिए मेरे कहने से 'पाणिनीय गणपाठ का सम्पादन और तुलनात्मक अध्ययन' कार्य हाथ में लिया। और उन्होंने अनेकों हस्तलेखों और विभिन्न व्याकरणों के गणपाठों के साहाय्य से कई वर्ष प्रयत्न करके पाणिनीय गणपाठ का आदर्श संस्करण तैयार किया। उन्हें इस कार्य पर पी. एच. डी. की उपाधि भी प्राप्त हो गई। गणपाठों का तुलनात्मक अध्ययन अंश 'संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि' के नाम से छप रहा है।[1] गणपाठ का आदर्श संस्करण भी इसके पश्चात् शीघ्र ही प्रकाशित किया जायगा।

गणों के दो भेद

गणपाठ में जितने गण हैं, उन्हें हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। एक वे गण हैं जिनमें शब्द नियमित हैं अर्थात् उस गण में जितने शब्द पढ़े हैं, उतने शब्दों से ही उस गण का कार्य होगा। यथा सर्वादि गण। दूसरे गण वे

---

१. इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने तक उक्त ग्रन्थ भी छप जायगा। यह ग्रन्थ भी भारतीय प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान अजमेर से प्रकाशित हो रहा है।

हैं, जिनमें शब्दों की नियत संख्या अभिप्रेत नहीं है। अन्य शब्दों से भी उक्त गण का कार्य हो जाता है। इस प्रकार के गण वैयाकरणों की परिभाषा में आकृतिगण कहाते हैं। जिन गणों में शब्दों का संकलन सीमित होता है, उनके अन्त में शब्दसंकलन की परिसमाप्ति के द्योतन के लिए समाप्त्यर्थक वृत् शब्द पढ़ा जाता है। और जो आकृतिगण होते हैं उनके अन्त में वृत् शब्द का पाठ नहीं होता। यथा—

अवृत्करणाद् आकृतिगणोऽयम्। काशिका २।१।४८॥

काशिका में यहाँ पाठ छपा है अव्यक्तत्वाच्चाकृतिगणोऽयम्। यहाँ अपपाठ है। पूर्वनिर्दिष्ट पाठ जो कि शुद्ध है, टिप्पणी में रखा है (यह संपादक के अज्ञान का द्योतक है)।

कहीं कहीं नियतरूप से पठित गण को भी च शब्द के पाठ से आकृति गण माना जाता है। यथा—

१—आकृतिगणश्च प्रवृद्धादिर्द्रष्टव्य इति। कुत एतत्? आकृतिगणतां तस्य सूचयितुमनुक्त समुच्चयार्थस्य चकारस्येह करणात्। न्यास ६।२।१४७॥

२—चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। स चाकृतिगणतां सुषामादेर्बोधयतीत्यत आह—अविहितलक्षण इत्यादि। न्यास ८।३।१०॥

गणपाठ के व्याख्याता

पाणिनीय गणपाठ पर अनेक वैयाकरणों ने व्याख्याएँ लिखी होंगी, परन्तु इस समय पाणिनीय गणपाठ पर कोई भी प्राचीन व्याख्या उपलब्ध नहीं होती। यज्ञेश्वर भट्ट की गणरत्नावली एक व्याख्या मिलती है, परन्तु यह बहुत अर्वाचीन है। उसका मुख्य आधार भी वर्धमान की गणरत्नमहोदधि है। प्राचीन वाङ्मय के अवगाहन से गणपाठ पर अनेक व्याख्याग्रन्थों का परिचय मिलता है। हमें गणपाठ के जिन जिन व्याख्याताओं अथवा व्याख्याओं का बोध है, वे इस प्रकार हैं—

१—पाणिनि

पाणिनि ने अपने सूत्रपाठ की और धातुपाठ की वृत्तियों का स्वयं प्रवचन किया था और वह भी अनेकधा, यह हम पूर्व यथास्थान लिख चुके हैं। हमारा विचार है कि पाणिनि ने सूत्रपाठ और धातुपाठ की वृत्तियों के समान गणपाठ की किसी वृत्ति का भी प्रवचन किसी न किसी रूप में अवश्य किया था। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१—काशिकाकार नद्यादि (४।२।९७) गण में पठित पूर्वनगरी पद की व्याख्या करके लिखता है—

केचित्तु पूर्वनगिरि इति पठन्ति विच्छिद्य च प्रत्ययं कुर्वन्ति, पौरेयम्, वानेयम्, गैरेयम् इति तदुभयमपि दर्शनं प्रमाणम्।

अर्थात् कई [व्याख्याता पूर्वनगरी पद के स्थान में] पूर्वनगिरि पढ़ते हैं और विच्छेद करके प्रत्यय करते हैं—पूर्-पौरेय, वन-वानेय, गिरि-गैरेय। ये दोनों दर्शन ही प्रमाण हैं।

इसकी व्याख्या करते हुए न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि ने लिखा है—

उभयथाप्याचार्येण शिष्याणां प्रतिपादनात्। भाग १, पृष्ठ ९५९।

अर्थात्—दोनों प्रकार [पूर्वनगरी-पूर्वनगिरि] से आचार्य द्वारा शिष्यों को प्रतिपादन करने से (पढ़ाने से) दोनों ही पाठ प्रमाण हैं।

ऐसा ही उल्लेख हरदत्त ने भी इसी सूत्र पर किया है।

२—न्यासकार स्थूलादि (५।४।३) गण में पठित स्थूलाणुमाषेषु की तीन प्रकार की तथा पाद्यकालावदात्ताः सुरायाम् सूत्र की दो प्रकार की प्राचीन व्याख्याएँ उद्धृत करता है। ये विभिन्न व्याख्याएँ सम्भवतः पाणिनि द्वारा ही अनेक प्रवचन काल में की गई होंगी। अन्यथा सभी व्याख्याओं का प्रामाण्य नहीं माना जा सकता।

३—वर्धमान सूरि गणरत्नमहोदधि में क्रोड्यान्तर्गत चैतयत पद पर लिखता है—

पाणिनिस्तु चित संवेदने इत्यस्य चैतयत इत्याह। पृष्ठ ३७।

पाणिनि ने चैतयत पद की वर्धमाननिर्दिशत व्युत्पत्ति गणपाठ की वृत्ति में प्रदर्शित की होगी। काशिका में 'चैतयत' के स्थान में चैटयत पाठ मिलता है, वह चिन्त्य है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि पाणिनि ने अपने गणपाठ के प्रवचन के साथ-साथ उसकी किसी वृत्ति का भी प्रवचन किया था और वह गणपाठ और वृत्ति का प्रवचन अनेकविध था। उसी वैविध्य के कारण पाणिनीय सम्प्रदाय में भी गणपाठ के व्याख्याकारों में अनेक मत प्रचलित हो गए।

२—नामपारायणकार (सं० ७०० से पूर्व)

काशिकाकार ने ग्रन्थ के आरम्भ में लिखा है—

वृत्तौ भाष्ये तथा धातुनामपारायणादिषु।

यहाँ पारायण शब्द का दोनों के साथ संबद्ध होकर नामपारायण और धातुपारायण नाम के ग्रन्थों का संकेत करता है। धातुपारायण नाम के धातुपाठ के व्याख्यान ग्रन्थ कई एक प्रसिद्ध हैं। उनका निर्देश धातुपाठ के प्रकरण में यथास्थान कर दिया है। धातुपारायण के सादृश्य से नामपारायण गणशब्दों का व्याख्यान ग्रन्थ होना चाहिए। हरदत्त ने उक्त श्लोक की व्याख्या में यही तात्पर्य प्रकट किया है। यथा—

यत्र धातुप्रक्रिया तद् धातुपारायणम्, यत्र गणशब्दानां निर्वचनं तन्नामपारायणम्। पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ४।

हरदत्त ने तौल्वल्यादि गण (२।४।६१) के कतिपय शब्दों का निर्वचन करके लिखा है—

परिशिष्टाः पारायणे द्रष्टव्याः। भाग १, पृष्ठ ४८७।

यह नामपारायण ग्रन्थ पाणिनीय धातुपाठ रहा होगा। परन्तु नामपारायण के दो उद्धरण ऐसे भी उपलब्ध होते हैं, जिन से आशंका होती है कि यह नामपारायण किसी अन्य तन्त्र से संबद्ध रहा हो। वे उद्धरण इस प्रकार हैं—

१—काशिकाकार ने ८।३।४८ में लिखा है—

सर्पिष्कुण्डिका, धनुष्कपालम्, बर्हिष्पूलम्, यजुष्पात्रम् इत्येषां पाठ उत्तरपदस्थस्यापि षत्वं यथा स्यादिति······पारायणिका आहुः।

यतः यह पाठ कस्कादि गण से संबन्ध रखता है, अतः यहाँ पारायणिकाः पद से नामपारायण के अध्येता ही इष्ट हैं।

काशिकाकार ने पारायणिकों के उक्त मत का भाष्य तथा वृत्ति ग्रन्थ से विरुद्ध होने के कारण प्रत्याख्यान कर दिया है।

२—निदाघ शब्द की व्युत्पत्ति दर्शाते हुए सायण ने लिखा है—

निदह्यतेऽनेनेति कृत्वा निदाघशब्दः साधुरिति पारायणिकाः इति सुधाकरस्तदपाणिनीयम्। धातुवृत्ति पृष्ठ ३२२।

यहाँ भी सुधाकर के नाम से उद्धृत नामपारायणिकों के मत को अपाणिनीय कहा है।

३—क्षीरस्वामी (सं० १११५–११६५)

क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी और अमरकोश की व्याख्या के आरम्भ में समान रूप से एक श्लोक पढ़ा है। उसका चतुर्थ चरण है—

न्याय्ये वर्त्मनि वर्तनाय भवतां षड् वृत्तयः कल्पिताः।

इस पद्यांश में क्षीरस्वामी ने ६ वृत्तियाँ लिखने का संकेत किया है। इन छ वृत्तियों में गणपाठ से सम्बन्ध रखनेवाली दो वृत्तियाँ हैं। एक निपाताव्ययोपसर्गवृत्ति, दूसरी गणवृत्ति।

निपाताव्ययोपसर्गवृत्ति

क्षीरस्वामी ने इस वृत्ति में निपात, अव्यय और उपसर्गों के अर्थ आदि पर विचार किया है। इनका सम्बन्ध गणपाठ के चादि (१।४।५७), स्वरादि (१।१।३७) तथा प्रादि (१।४।५८) गणों के साथ है।

निपाताव्ययोपसर्ग की व्याख्या—क्षीरस्वामी के उक्त वृत्ति ग्रन्थ पर तिलक नाम के किसी विद्वान् ने व्याख्या लिखी है। इस सव्याख्या निपातोपसर्गवृत्ति का एक हस्तलेख अडियार (मद्रास) के हस्तलेख संग्रह में सुरक्षित है। द्र० व्याकरणविभागीय सूचीपत्र, पुस्तक संख्या ४८७। इसके अन्त में निम्न पाठ है—

इति भट्टक्षीरस्वाम्युत्प्रेक्षितनिपाताव्ययोपसर्गीये तिलककृता वृत्तिः संपूर्णेति। भद्रं पश्येम प्रचरेम भद्रम् ओमिति शिवम्।

गणवृत्ति

क्षीरस्वामी ने एक गणवृत्ति ग्रन्थ लिखा था। इसमें गणपाठ की व्याख्या रही होगी, यह इसके नाम से ही स्पष्ट है। क्षीरस्वामी की गणवृत्ति इस समय अनुपलब्ध है। इसके उद्धरण भी हमें देखने को नहीं मिले।

गणवृत्ति नाम से उद्धृत कतिपय उद्धरण

सायण ने माधवीया धातुवृत्ति के नाम-धातु-प्रकरण में गणवृत्ति के निम्न उद्धरण लिखे हैं—

क—अत्र गणवृत्तौ—

लोहितश्यामदुःखानि हर्षगर्वसुखानि च।
मूर्च्छा निद्रा कृपा धूमा करुणा नित्यवर्मणि ॥पृष्ठ ४१७॥

ख—रेहःशब्दो रहसि निर्घृणत्वे भिक्षाभिलाषस्य च निवृत्तौ वर्तत इति गणवृत्तौ। पृष्ठ ४१६ ॥

ग—गणवृत्तौ तु बृहच्छब्दो न दृश्यते भद्रशब्दस्तु पठ्यते। तथा च कन्धरशब्दश्च त्वचोऽभ्यन्तरे स्थूलत्वाभा असंयुक्ता स्नायुः कन्धरा तद्वान् कन्धरः। मत्वर्थे अर्शआदिभ्योऽश् इति व्याख्यातं च। पृष्ठ ४१६॥

घ—अन्धरो मूर्खोऽपुष्करश्चेति गणवृत्तौ । पृष्ठ ४१६ ।

ङ—रेहस् रोष इति गणवृत्तौ । पृष्ठ ४१६ ।

इन में से प्रथम उद्धरण नामनिर्देश के बिना सिद्धान्तकौमुदी (भाग ३, पृष्ठ ५२६) में लोहितादिडाज्भ्यः क्यष् सूत्र के व्याख्यान में उद्धृत है । वहाँ तृतीय चतुर्थ चरण का पाठ मूर्च्छानिद्राकृपाधूमाः करुणा नित्यचर्मणी है । सायण द्वारा गणवृत्ति के नाम से उद्धृत उद्धरण वस्तुतः वर्धमान विरचित गणरत्नमहोदधि के हैं । उसमें उत्तरार्ध का पाठ है—

मूर्च्छानिद्राकृपाधूमाः करुणा जिह्मचर्मणी । पृष्ठ २४५ ।

माधवीया धातुवृत्ति का पाठ अशुद्ध है, नित्यवर्मणि का कोई अर्थ ही नहीं बनता है । सिद्धान्तकौमुदी का नित्यचर्मणी पाठ भी भ्रष्ट है । वहाँ भी जिह्मचर्मणी पाठ ही होना चाहिए ।

सायण का दूसरा उद्धरण भी गणरत्नमहोदधि से अर्थतः उद्धृत प्रतीत होता है । गणरत्नमहोदधि का पाठ है—

रेहत् नैर्घृण्यधर्मवृत्तिर्भिक्षाभिलाषधर्मवृत्ति वा, रहसि वर्तत इत्यन्ये । पृष्ठ २४४ ।

धातुवृत्ति ग्रन्थ अत्यन्त अशुद्ध छपा है, अतः उसके मुद्रित पाठ पर कोई विश्वास नहीं किया जा सकता ।

सायण का जो तीसरा उद्धरण हमने उद्धृत किया है, उसके दो भाग हैं । प्रथम पठ्यते पर्यन्त गणवृत्ति का है तथा उत्तर भाग उसकी किसी व्याख्या का है । गणरत्नमहोदधि में भृशादि गण में बृहच्छब्द का पाठ नहीं है, 'भद्र' शब्द का पाठ श्लोक ४४१ के पूर्वार्ध में उपलब्ध होता है ।

चतुर्थ उद्धरण का पाठ अशुद्ध है । गणरत्नमहोदधि में इसका शुद्ध पाठ इस प्रकार है— आण्डरो मूर्खो मुष्करो वा । (पृष्ठ २४४)

पञ्चम उद्धरण का भी गणरत्नमहोदधि में शुद्ध पाठ इस प्रकार है—रेफत् सदोष इत्यर्थः । पृष्ठ २४५ ।

उपर्युक्त पाठों की गणरत्न महोदधि के साथ साम्यता होने से यही सम्भावना है कि सायण द्वारा स्मृत गणवृत्ति वर्धमान सूरिकृत गणरत्नमहोदधि ग्रन्थ ही है । सायण के मुद्रित पाठ सभी अशुद्ध हैं ।

गणव्याख्यान नाम से उद्धृत उद्धरण

मल्लिनाथ ने किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा रघुवंश आदि में गण-व्याख्यान नाम से कई उद्धरण उद्धृत किये हैं । यथा—

१—कृतमिति निवारणनिषेधयोः इति गणव्याख्याने ।
किरात २।१७॥

२—सहसेत्याकस्मिकाविमर्शयोः इति गणव्याख्याने ।
किरात २।३०॥

३—अस्मीत्यस्मदर्थानुवादेऽहमर्थेऽपि इति गणव्याख्याने ।
किरात ३।६॥

४—प्रत्युतेत्युक्तवैपरीत्ये इति गणव्याख्यानात् । शिशुपाल० १।३९॥

इसी प्रकार रघुवंश में भी तीन स्थानों पर गणव्याख्यान का उल्लेख मिलता है। यह गणव्याख्यान वर्धमानकृत गणरत्नमहोदधि ही है, अन्य नहीं। ये चारों उद्धरण क्रमशः गणरत्नमहोदधि के पृष्ठ ६, १८, १७ तथा ६ पर अक्षरशः उपलब्ध होते हैं।

४—पुरुषोत्तम देव (सं० १२००)

भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तम देव ने कोई गणवृत्ति ग्रन्थ लिखा था, ऐसी सूचना भाषावृत्ति के सम्पादक श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती ने भूमिका के पृष्ठ १ पर दी है।

५—यज्ञेश्वर भट्ट

यज्ञेश्वर भट्ट नाम के आधुनिक वैयाकरण ने पाणिनीय गणपाठ पर गण-रत्नावली नाम की व्याख्या लिखी है। इस में ग्रन्थकार ने गणरत्नमहोदधि का अनुकरण करते हुए पहले गणशब्दों को श्लोकबद्ध किया है, तत्पश्चात् उनकी व्याख्या की है।

परिचय तथा काल—यज्ञेश्वर भट्ट ने आर्यविद्या सुधाकर ग्रन्थ में अपने पिता का नाम चिमणा जी[1] और गुरु का नाम महाशंकर लिखा है।[2] यह दाक्षिणात्य तैत्तिरीय शाखाध्येता ब्राह्मण था। यज्ञेश्वर भट्ट ने आर्यविद्यासुधा-कर ग्रन्थ की रचना शकाब्द १७८८ (=विक्रमाब्द १९२३) में की है।[3] गणरत्नावली का आरम्भ विक्रम सं० १९३० में किया था, यह उसने स्वयं लिखा है—

---

१. चिमणाजीतनूजेन दाक्षिणात्यद्विजन्मना । आर्यविद्यासुधाकर के अन्त में।

२. महाशंकरशर्माणं गुरुं नत्वा विदां वरम् । आर्यविद्यासुधाकर के आरम्भ में, श्लोक ७।

३. द्र० आर्यविद्या सुधाकर के अन्त में।

संवत् श्रीविक्रमादित्यकालात् खत्र्यङ्कभू (१९३०) मिते ।
अतीते गणरत्ननामवलीयं विनिर्मिता ॥ पृष्ठ ३९ (हमारा हस्तलेख)।

गणरत्नावली की समाप्ति शकाब्द १७९६ (=वि. सं. १९३०) आषाढ़ मास में हुई । इसका निर्देश ग्रन्थकार ने स्वयं किया है—

भट्टयज्ञेश्वरकृतो ग्रन्थोऽयं पूर्णतां गतः ।
शाके रसाङ्कमुनि भू (१७३९) मिते मासि तपोऽभिधे ।

ग्रन्थ के अन्त में ।

यज्ञेश्वर भट्ट की गणरत्नावली का मुख्य आधार ग्रन्थ गणरत्नमहोदधि है, यह उसने स्वयं मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है । वह ग्रन्थ के अन्त में लिखता है—

अस्य ग्रन्थस्य निर्माणे गणरत्नमहोदधिः ।
अभवन् मुख्यः सहायोऽन्ये ग्रन्था इत्युपकारकाः ।

पाणिनीय सम्प्रदाय में गणपाठ पर एकमात्र गणरत्नावली ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है । यह ग्रन्थ बहुत पूर्व शिलाक्षरों पर छप चुका है, सम्प्रति अति दुर्लभ है । हमने इसकी उपयोगिता को देख के आज से २८ वर्ष पूर्व छात्रावस्था में इस ग्रन्थ की अपने लिए प्रतिलिपि की थी और प्रकाशनार्थ कुछ भाग की प्रेसकापी भी तैयार की थी ।

श्लोकगणकार (वि० सं० १४०० से पूर्व)

पाणिनीय व्याकरण ग्रन्थों में श्लोक गणपाठ तथा श्लोक गणकार के अनेक वचन उद्धृत मिलते हैं । यथा—

१—सायण धातुवृत्ति पृष्ठ ४१६ पर लिखता है—

अत्रामी भृशादयोऽस्माभिः श्लोकगणपाठानुरोधेन पठिताः ।

यहां श्लोकगणपाठ शब्द से गणरत्नमहोदधि अन्तर्गत श्लोकबद्ध गणपाठ अभिप्रेत है अथवा अन्य, यह कहना कठिन है । क्योंकि इस प्रकरण में गणवृत्तौ के नाम से उद्धृत समस्त पाठ गणरत्नमहोदधि के हैं, यह हम पूर्व लिख चुके हैं ।

२—सायण पुनः पृष्ठ ४१८ पर लिखता है—

अत्र श्लोकगणकारः—

सुखदुःखगहनकृच्छ्राद्यपकप्रतीपकरुणाश्च ।
कृपणः सोढ इतीमे तृपादयो दशगणे पठिताः ॥ इति ।

यहाँ पर सायण श्लोकगणकार का उक्त श्लोक उद्धृत करके लिखता है—

अत्र गणरत्नमहोदधौ आस्यशब्दोऽपि पठ्यते, यदाह आस्यमेवास्यम् इति । तृप्रं दुःखम्, सोढं सहनम् अभिभवो वा ।

इस स्थल पर श्लोकगणकार से गणरत्नमहोदधिकार का मत-भेद दर्शाने से स्पष्ट है कि यहाँ श्लोकगणकार वर्धमान नहीं है। पृष्ठ ४१७ पर सायण गणरत्नमहोदधि के लोहितश्याम आदि श्लोकगण को गणवृत्ति के नाम से उद्धृत करता है। इससे भी इसी बात की पुष्टि होती है कि गणवृत्ति के नाम से उद्धृत उद्धरण वर्धमान के गणरत्नमहोदधि के हैं और श्लोकगणपाठ अथवा श्लोकगणकार के नाम से उद्धृत उद्धरण किसी अन्य वैयाकरण के हैं।

गणपाठकारिकाकार

मद्रास विश्वविद्यालय के अन्तर्गत हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र भाग ५, खण्ड १ B. पृष्ठ ६४२१, पुस्तक संख्या ४३७ B. पर गणपाठकारिका ग्रन्थ का एक हस्तलेख निर्दिष्ट है। इसके कर्त्ता का नाम अज्ञात है। यह कारिका ग्रन्थ पाणिनीय धातुपाठ पर है। हस्तलेख अपूर्ण है।

गणकारिकाव्याख्याता रासिकर

रासिकर नाम के किसी शैवाचार्य ने गणकारिका नाम के ग्रन्थ पर एक भाष्य लिखा था। इसका उल्लेख जर्नल आफ दी आन्ध्रा हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी भाग १३, खण्ड ३, ४ पृष्ठ १७६ पर मिलता है। गणकारिका के कर्त्ता आदि का नाम अज्ञात है।

गण-संग्रहकार गोवर्धन

अष्टाध्यायी के प्रत्येक गणनिर्देशक आदि पदसंबद्ध सूत्र के लिए इस ग्रन्थ में कुछ शब्दों का संग्रह कर दिया है, चाहे वे गणपाठ से संबद्ध हों अथवा न हों। व्यवस्थित (पठित) गणों में कहीं-कहीं वृत्करण भी किया है। इसका संग्राहक कोई गोवर्धननामा वैयाकरण है। इस ग्रन्थ का एक अधूरा हस्तलेख काशी के सरस्वती भवन में विद्यमान है।

गणपाठकार-रामकृष्ण

काशी के सरस्वती भवन के हस्तलेखसंग्रह में गणपाठ का एक हस्तलेख और है। उसके अन्त में निम्न पाठ है—

इति श्रीगणपाठे श्रीगोवर्धनदीक्षितसूनु रामकृष्णविरचितोऽष्टमोऽध्यायः।

इस लेख से प्रतीत होता है कि इस गणपाठ का संग्राहक कोई रामकृष्णनामा वैयाकरण था। इसके पिता का नाम गोवर्धन दीक्षित था। पूर्वनिर्दिष्ट गोवर्धन यह गोवर्धन दोनों एक हैं अथवा भिन्न-भिन्न व्यक्ति, यह अज्ञात है।

पाणिनीय गणपाठ से संबद्ध जितने ग्रन्थकारों का हमें ज्ञान है, उनका वर्णन करके पाणिनि से औत्तरकालिक गणपाठप्रवक्ताओं का वर्णन करते हैं।

५—कातन्त्रकार (१५०० वि० पू०)

कातन्त्र व्याकरण के प्रवक्ता ने स्वतन्त्र-संबद्ध गणपाठ का भी प्रवचन किया था। कातन्त्र गणपाठ के जो हस्तलेख मिलते हैं, उनमें कातन्त्र व्याकरण के प्रायः सभी गणों का उल्लेख है। कातन्त्र व्याकरण के तीन भाग हैं—

१—आख्यातान्त	मूल ग्रन्थकार द्वारा प्रोक्त
२—कृदन्त भाग	वररुचि कात्यायन कृत
३—छन्दः प्रक्रिया	परिशिष्टकार

इन तीनों के गणों की सूची इस प्रकार है—

आख्यातान्त भाग में—

१—सर्वादि	६—कुञ्जादि
२—त्यदादि (अवान्तरगण)	७—बाह्वादि
३—गर्गादि	८—गवादि
४—यस्कादि	९—शरत् प्रभृति
५—विदादि	

विशेष—कातन्त्र के सर्वादि गण में 'किम्' शब्द का पाठ 'एक द्वि' से पूर्व किया है। अतः अद्व्यादेः सर्वनाम्नः (३।२।२४) सूत्र में पाणिनि के समान 'किम्' के पाठ की आवश्यकता नहीं रही।[1]

कृदन्त भाग में—

१—पचादि	५—भीमादि
२—नन्द्यादि	६—न्यङ्क्वादि
३—ग्रहादि	७—गम्यादि
४—भिदादि	

१. द्रष्टव्य—'किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः' (५।३।२) पाणिनीय सूत्र पर न्यासकार ने लिखा है—'सर्वनामत्वं किमः सर्वादिषु पाठात्। किमो ग्रहणमित्यादि। किंशब्दोऽयं द्व्यादिषु पठ्यते इति, तस्य अद्व्यादिभ्य इति पर्युदासः क्रियते। तस्मात् सर्वनाम्नोऽपि स्वशब्देनोपादानम्। यद्येवं द्वि-शब्दात् पूर्वं किंशब्दः पठितव्यः एवं हि तस्य पृथग्ग्रहणं न कर्तव्यमेव भवति। सत्यमेतत्'…………………।' न्यास भाग २, पृष्ठ १०९।

छन्दःप्रक्रिया में

१—केवलादि	केवल मामक आदि सूत्र के लिए
२—कद्र्वादि	कद्रुकमण्डल्वोश्छन्दसि सूत्र के लिए
३—छन्दोगादि	छन्दोगौक्थिक आदि सूत्र के लिए
४—सोमादि	सोमाश्वेन्द्रिय आदि सूत्र के लिए

कातन्त्र व्याकरण के संबंध में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ३९७-४१४ (प्र० सं०) तक विस्तार से लिख चुके हैं।

कातन्त्र व्याकरण के गणपाठ पर किसी वैयाकरण ने कोई व्याख्या लिखी अथवा नहीं, इस विषय में हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है।

६—चन्द्रगोमी (१००० वि० पू०)

आचार्य चन्दगोमी ने स्वशब्दानुशासन से संबद्ध गणपाठ का भी प्रवचन किया था। चन्द्रगोमी तथा उसके व्याकरण के सम्बन्ध में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ४१४—४२१ (प्र० सं०) तक विस्तार से लिख चुके हैं।

चन्द्रगोमी का गणपाठ उसकी स्वोपज्ञ वृत्ति में उपलब्ध होता है।

चान्द्र गणपाठ की विशिष्टता

चद्रगोमी ने गणपाठ के प्रवचन में पाणिनि का ही विशेष अनुसरण नहीं किया। उसने अपने प्रवचन में पाणिनि और पाणिनि से पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती उपलब्ध सभी सामग्री का उपयोग किया है। अतः उसके गणपाठ में पाणिनि से कुछ विशिष्ट भिन्नताएँ हैं। यथा—

१—कात्यायन आदि वार्त्तिककारों द्वारा निर्दिष्ट शब्दों को भी गण का रूप दे दिया है। यथा—

क—व्यासादि (२।४।२१)	ख—कम्बोजादि (२।४।१०४)
ग—क्षीरपुत्रादि (३।१।२४)	घ—देवासुरादि (४।१।१३३)
ङ—स्वर्गादि (४।१।१३३)	च—पुण्याहवाचनादि (४।१।१३४)
छ—ज्योत्स्नादि (४।२।१०७)	ज—नवयज्ञादि (४।२।१२४)

२—कई स्थानों में पाणिनीय सूत्रों और वार्तिकों को मिलाकर नए गण बनाए। यथा—

क—ऊषादि (४।२।१२७) गण पाणिनि के ऊषशुषिमुष्कमधो रः (५।२।१०७) सूत्र तथा रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम् (५।२।१०७) को मिला कर बनाया।

ख—कृष्यादि (४।२।११६) गण पाणिनि के रजःकृष्यासुति० (५।२।११२) इत्यादि, दन्तशिखात् संज्ञायाम् (५।२।११३) सूत्रों तथा वलच्-प्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यते (५।२।११२) वार्तिक को मिलाकर बनाया।

ग—केशादि (४।२।११९) गण पाणिनि के केशाद्वोऽन्यतरस्याम् (५।२।१०९) सूत्र तथा वप्रकरणे अन्येभ्योऽपि दृश्यते (५।२।१०९) आदि वार्तिक को मिलाकर बनाया।

इसी प्रकार कुछ अन्य गण भी सूत्र और वार्तिकों के योग से बनाए।

३—कुछ नए गण बनाए। यथा—

क—ऋत्वादि (४।१।१२४) ख—हिमादि (४।२।१३६)

ग—वेणुकादि (३।२।६१)

कई विद्वानों का कथन है कि चन्द्रगोमी के वेणुकादि गण (३।२।६१) के आधार पर ही काशिकाकार ने गहादि गण में वेणुकादिभ्यश्छण् (४।३।१३८) गणसूत्र पढ़ा है। द्र० S. S. G. P. 38।

४—आचार्य चन्द्र ने लाघवार्थ पाणिनि के कई गणों को मिलाकर एक गण बना दिया। यथा—

क—सिन्ध्वादि (३।३।६१) में पाणिनि के सिन्ध्वादि और तक्षशिलादि (द्र० अष्टा० ४।३।९३) गणों को मिला दिया।

ख—कथादि (३।४।१०४) में पाणिनि के कथादि और गुडादि (द्र० अष्टा० ४।४।१०२,१०३) गणों को एक कर दिया।

हमारे विचार में चन्द्राचार्य का इस प्रकार गणों का एकीकरण करके लाघव का प्रयत्न करना सर्वथा चिन्त्य है। पाणिनि ने इन गणों को पृथक् इसलिए पढ़ा था कि इनसे निष्पन्न शब्दों में स्वर भेद होने से उसे स्वर के अनुरोध से पृथक्-पृथक् अण्-अञ् और ठक्-ठञ् आदि प्रत्यय पढ़ने पड़े। अनेक व्याकरणतत्त्वपरिज्ञानरहित लेखक पाणिनि से उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा स्वर की उपेक्षा करके की गई लाघवता को अनावश्यक रूप में उनकी सूक्ष्म मनीषा का चमत्कार मानते अथवा कहते हैं। हमें ऐसे व्यक्तियों की मनीषा पर ही हंसी आती है कि कहाँ पाणिनि आदि प्राचीन आचार्यों की सूक्ष्म मनीषा जिन्होंने स्वर जैसे सूक्ष्म भेद का परिज्ञान भी बड़े कौशल और लाघव के साथ दर्शाया[1] और कहाँ उत्तरवर्ती वैयाकरण की स्थूल बुद्धि जिन्होंने

१. इसी दृष्टि से काशिकाकार ने ४।२।७४ में "स्वरे विशेषः। महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य" जैसे स्तुति शब्दों का युक्त कण्ठ से प्रयोग किया।

तथा-कथित लाघव करके शब्दों के सूक्ष्म भेद को ही नष्ट कर दिया। आचार्य चन्द्र की इस कृति पर तो हमें अत्याश्चर्य है कि उसने स्वर-भेद की रक्षा करते हुए और स्वरप्रकरण का निर्देश करते हुए[1] भी यहाँ स्वर-भेद की उपेक्षा क्यों कर की।

५—पाणिनि के कई गण छोड़ दिए। यथा—

शौण्डादि (२।१।४०) से राजदन्तादि (२।२।३१) पर्यन्त के गण। पलाशादि (४।३।१४१) रसादि (५।२।९५) तथा देवपथादि (५।३।१००) गण।

६—चन्द्राचार्य ने लाघवार्थ पाणिनि के कई गणों के अधिकाक्षर आदि पद को हटा कर लघु पद रखा अर्थात् लाघवार्थ नाम परिवर्तन किया। यथा—

क—अपूपादि (पा० ५।१।४) को यूपादि (चान्द्र ४।१।३) रूप में।

ख—इन्द्रजननादि (पा० ४।३।८९) को
शिशुक्रन्दादि (चन्द्र ४।१।३) रूप में।

ग—अनुप्रवचनादि (पा० ५।१।१११) को
उत्थापनादि (चान्द्र ४।१।१३२) रूप में।

घ—किंशुलकादि (पा० ६।३।११६) को
अञ्जनादि (चान्द्र ५।२।१३२) रूप में।

ऐसा लाघव चान्द्र गणपाठ में बहुत्र उपलब्ध होता है।

७—पाणिनि के कई गणों का परिष्कार किया। यथा अर्धर्चादिगण। इस गण के विषय में चान्द्र व्याकरण २।२।८३ की टीका भी द्रष्टव्य है।

८—पाणिनि के कई व्यवस्थित (पठित) गणों को आकृति गण बनाया। यथा—घरादि। इस विषय में चान्द्र व्याकरण ५।२।१३४ की वृत्ति द्रष्टव्य है।

आचार्य चन्द्रगोमी से उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों ने चन्द्र के सूत्रपाठ धातुपाठ गणपाठ आदि का अनुकरण किया, परन्तु उन्होंने उसके नाम का भी निर्देश नहीं किया। कहाँ आचार्य पाणिनि का अपने से पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों का सम्मानार्थ नाम स्मरण करना और कहाँ अर्वाचीन आचार्यों का अहंकार वश किसी पूर्ववर्ती आचार्य के नाम का निर्देश न करना। यह है आर्ष

---

१. चान्द्र व्याकरण में स्वरप्रकरण भी था, द्र० सं० व्या० शास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ ४१६—४१८ (प्र० सं)।

और अनार्ष ग्रन्थों के स्वरूप की भिन्नता। भला ऐसे अहंकारी कृतघ्न ग्रन्थकारों के अध्ययन से कभी किसी शास्त्र के तत्त्व का बोध हो सकता है? क्या ऐसे ग्रन्थों के पढ़ने वाले सुकुमार-मति छात्रों की बुद्धि पर इस कृतघ्नता का कुप्रभाव न होगा?

स्वामी दयानन्द सरस्वती की चेतावनी—उस युग में जब कि चारों ओर अनार्ष ग्रन्थों के पठन पाठन का ही बोलबाला था, सबसे पूर्व महामनस्वी स्वामी विरजानन्द सरस्वती की विमल मेधा में अनार्ष ग्रन्थों के अध्ययन अध्यापन से होने वाली हानियों की उपज्ञा हुई। उनसे आर्ष ज्योति पाकर इस युग के प्रवर्तक, क्रान्तदर्शी, अशेषशेमुषीसम्पन्न स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट घोषणा की—

जितना बोध इन (अष्टाध्यायी-महाभाष्य) के पढ़ने से तीन वर्षों में होता है,[1] उतना बोध कुग्रन्थ अर्थात् सारस्वत चन्द्रिका, कौमुदी, मनोरमादि के पढ़ने से पचास वर्षों में भी नहीं हो सकता। क्योंकि महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है वैसा इन क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में क्योंकर हो सकता है। महर्षि लोगों का आशय, जहाँ तक हो सके वहाँ तक सुगम और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे, इस प्रकार का होता है और क्षुद्राशय लोगों की मनसा ऐसी होती है कि जहाँ तक बने वहाँ तक कठिन रचना करनी, जिसको बड़े परिश्रम से पढ़ के अल्प लाभ उठा सकें। जैसे पहाड़ का खोदना, कौड़ी का लाभ होना और आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि एक गोता लगाना, बहुमूल्य मोतियों का पाना। सत्यार्थप्रकाश समु० ३, पठनपाठनविधि।

---

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती के उक्त मत की बहुधा परीक्षा कर ली गई है। आचार्यवर श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु तथा श्री पं० शंकरदेव जी तथा उनके शिष्य परम्परा में सम्पूर्ण महाभाष्य पर्यन्त व्याकरणशास्त्र का अध्यापन प्रायः ५ वर्ष में समाप्त हो जाता है। और कौमुदी शेखर प्रभृति-ग्रंथों के माध्यम से १२ वर्ष पर्यन्त अध्ययन करने वाले व्याकरणाचार्यों की अपेक्षा कहीं अधिक विद्वान् हो जाते हैं। दो-एक अति कुशाग्रमति परिश्रमी छात्रों ने तो तीन वर्ष में ही महाभाष्यान्त व्याकरण का अध्ययन समाप्त कर लिया।

अष्टाध्यायी के क्रम से पठन-पाठन का प्रयोग तो आर्यसमाज के क्षेत्र में

सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण के चौदहवें समुल्लास[1] के अन्त में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो एक विज्ञापन लिखा था। उसमें अनार्ष क्षुद्राशय लोगों के लिखे ग्रन्थों के विषय में यहाँ तक लिखा है कि—

जिन ग्रन्थों को दूर छोड़ने को कहा[2] कि इनको न पढ़ें न पढ़ावे, न इनको देखें। क्योंकि इनको देखने से वा सुनने से मनुष्य की बुद्धि बिगड़ जाती है। इससे इन ग्रन्थों को संसार में रहने भी न दें तो बहुत उपकार होय।[3]

संसार के कल्याण के इच्छुक सत्यनिष्ठ विद्वानों को स्वामी दयानन्द सरस्वती के उक्त लेख पर शान्त मनीषा से विचार करना चाहिए तथा युक्त मत के ग्रहण और अयुक्त मत को छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्तेन।

७—क्षपणक (वि० प्रथम शती)

क्षपणक व्याकरण के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४२०—४२१ (प्र० सं०) पर लिख चुके हैं।

अनेक स्थानों पर हो रहा है, परन्तु इस क्रम से वास्तविक रीति से पठन-पाठन (जिससे छात्र वस्तुतः अल्प काल में ही अच्छे वैयाकरण बन सकें) केवल श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु, श्री पं० शंकरदेवजी तथा उनकी शिष्य-परम्परा तक ही सीमित है।

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सं० १९३२ (सन् १८७५) में सत्यार्थप्रकाश का जो प्रथम संस्करण छपवाया था उसके लिए लिखे तो चौदह समुल्लास ही थे, परन्तु किन्हीं कारणों से अन्त के दो समुल्लास उस समय न छप सके थे। इस आद्य सत्यार्थप्रकाश की हस्तलिखित प्रति सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ के लिखवाने और छपवाने वाले राजा जयकृष्णदास के घर मुरादाबाद में अद्ययावत् सुरक्षित है। कुछ वर्ष हुए श्रीमती परोपकारिणी सभा अजमेर ने इस हस्तलेख को महान् यत्न से प्राप्त करके इसकी फोटो कापी करा कर अपने पास भी सुरक्षित कर ली है।

२. सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लासान्तर्गत पठनपाठन-विधि में।

३. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २१, द्वि० सं०। उक्त विज्ञापन स० प्र० की हस्तलिखित प्रति के पृष्ठ ४८५—४९५ तक उपलब्ध होता है।

क्षपणक के उणादि सूत्र के इति पद से संबद्ध एक उद्धरण उज्ज्वलदत्त ने अपनी उणादिसूत्रवृत्ति में उद्धृत किया है—

क्षपणकवृत्तौ अत्र 'इति' शब्द आद्यर्थे व्याख्यातः। पृष्ठ ६०।

इस उद्धरण से न केवल क्षपणक प्रोक्त उणादिसूत्रों की सत्ता का ही ज्ञान होता है, अपितु उसकी स्वोपज्ञ उणादिवृत्ति का भी परिचय मिलता है। क्षपणक प्रोक्त धातुपाठ के विषय में हम धातुपाठ के प्रकरण में (२२ वें अध्याय में) लिख चुके हैं। अतः जिस वैयाकरण ने अपने शब्दानुशासन, उसके धातुपाठ और उणादि-सूत्र तथा उसकी वृत्ति का प्रवचन किया हो, उसने अपने शब्दानुशासन से सम्बद्ध गणपाठ का प्रवचन न किया हो, यह कथमपि बुद्धिग्राह्य नहीं हो सकता। अतः क्षपणकप्रोक्त गणपाठ के विषय में साक्षात् निर्देश उपलब्ध न होने पर भी उसकी सत्ता अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है।

८—देवनन्दी (वि० सं० ५०० से पूर्व)

आचार्य देवनन्दी अपर नाम पूज्यपाद के शब्दानुशासन का वर्णन इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४२१-४२१ (प्र० स०) में कर चुके। पूज्यपाद ने स्वतन्त्र-संबद्ध गणपाठ का भी प्रवचन किया था। यह गणपाठ अभयनन्दी-विरचित महावृत्ति में संप्रविष्ट उपलब्ध होता है।[1] जैनेन्द्र गणपाठ में निम्न विभिन्नताएं हैं—

१—अनेक स्थानों पर पूर्व आचार्यप्रोक्त गणसूत्रों को गणपाठ में स्थान न देकर स्वतन्त्र सूत्र रूप में प्रतिष्ठित करना।

२—कतिपय विभिन्न गणों का एकीकरण। यथा पिच्छादि और तुन्दादि का। द्र० महावृत्ति ४।१।४३॥

३—आकृतिगणों में प्रयोगानुसार कतिपय शब्दों की वृद्धि।

४—काशिका तथा चान्द्रवृत्ति दोनों के भिन्न भिन्न पाठों का संग्रह। यथा कुर्वादिगण में काशिका का पाठ अभ्र है, चान्द्रवृत्तिका शुभ्र। जैनेन्द्र में दोनों का पाठ उपलब्ध होता है। द्र० महावृत्ति ३।१।१३८॥

---

१. जैनेन्द्र गणपाठ के अनेक पाठ वर्धमान ने अभयनन्दी के नाम से उद्धृत किए हैं। यथा—'गोभिलचक्रवाकाशोकच्छगलकुशीरकयमलसुखमन्मथशब्दान् अभयनन्दी गणेऽस्मिन् ददर्श। गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ १७२। इस प्रकार के पाठों से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि जैनेन्द्र गणपाठ का अभयनन्दी ने प्रवचन किया। अभयनन्दी तो काशिकाकारवत् अपनी वृत्ति में गणपाठ का संग्रह करने वाला है।

५—प्रायः सर्वत्र तालव्य श को दन्त्य स के रूप में पढ़ा है। यथा शंकुलाद को संकुलाद (द्र० महावृत्ति ३।२।९३), सर्वकेश को सर्वकेस (द्र० महावृत्ति ३।३।९६)।

इन विभिन्नताओं के अतिरिक्त इस गणपाठ में कोई मौलिक वैशिष्ट्य नहीं है। इस गणपाठ की किसी व्याख्या का भी हमें कोई ज्ञान नहीं है।

गुणनन्दी

गुणनन्दी ने जैनेद्र व्याकरण का परिष्कार किया था। इस का स्वतन्त्र नाम शब्दार्णव है। इस का वर्णन प्रथम भाग पृष्ठ ४२९-४३१ (प्र०सं०) में जैनेन्द्र व्याकरण के प्रसङ्ग में कर चुके हैं। गुणनन्दी ने आचार्य पूज्यपाद के गणपाठ को उसी रूप में स्वीकार किया था अथवा उसमें भी कुछ परिष्कार किया था, यह शब्दार्णव व्याकरण संबद्ध गणपाठ के अनुपलब्ध होने से अज्ञात है। हमारा अनुमान है कि जैसे गुणनन्दी ने जैनेन्द्र धातुपाठ का कुछ कुछ परिष्कार किया, उसी प्रकार गणपाठ का भी परिष्कार अवश्य किया होगा।

६—वामन (सं० ४००–६००)

वामनकृत विश्रान्तविद्याधर व्याकरण का वर्णन इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४३१–४३४ (प्र० सं०) में कर चुके हैं। वामन ने स्वशब्दानुशासन से संबद्ध गणपाठ का भी प्रवचन किया था। वामनप्रोक्त गणपाठ का निर्देश वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में बहुत्र किया है।

वामन के गणप्राठ में अनेक भिन्नताएँ हैं। कुछ एक इस प्रकार हैं—

१—नए गणों का संग्रह—वामन ने अपने गणपाठ में कई नए गणों का संग्रह किया है। यथा—केदारादि। वर्धमान लिखता है—

केदारादौ राजराजन्यवत्सा उष्ट्रोरभ्रौ वृद्धयुक्तो मनुष्यः।
उक्षा ज्ञेयो राजपुत्रस्तथेह केदारादौ वामनाचार्यदृष्टे॥

गणरत्नमहोदधि, श्लोक २५८।

इस श्लोक के चतुर्थ चरण में स्पष्ट कहा है कि केदारादिगण वामन-दृष्ट है।

२—पाठभेद से गणों के नामकरण की भिन्नता—वामन के कई एक गण ऐसे हैं जो पूर्वाचार्यों के समान होते हुए भी प्रथम शब्द के पाठ भेद के कारण नामभेद होने से भिन्नगणवत् प्रतीत होते हैं। यथा—

पाणिनि के **शण्डिकादि** (पा० ४।३।९२) का वामन के मत में **शुण्डिकादि** नाम है। वर्धमान लिखता है—

शुण्डिका ग्रामोऽभिजनोऽस्य शौण्डिक्यः। अयं वामनमताभिप्रायः, पाणिन्यादयस्तु शण्डिकस्य ग्रामजनपदवाचिनः शाण्डिक्य इत्युदाहरन्ति। गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २०४।

वामन के गणपाठ के विषय में हम उतना ही जानते हैं, जितना वर्धमान के गणरत्नमहोदधि में उद्धृत उद्धरणों से जाना जा सकता है।

१०—पाल्यकीर्ति (सं० ८१७-९२४)

आचार्य पाल्यकीर्ति ने सम्प्रति **शाकटायन** नाम से प्रसिद्ध शब्दानुशासन का प्रवचन किया है। पाल्यकीर्ति के समय और उसके शब्दानुशासन के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४३५-४३८ (प्र० सं०) तक लिख चुके हैं।

शाकटायन नाम का कारण—आचार्य पाल्यकीर्ति के लिए **शाकटायन शकटाङ्गज शकटपुत्र** आदि शब्दों का भी विभिन्न ग्रन्थों में प्रयोग देखा जाता है। हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४३५ (प्र० सं०) पर इस विषय में इस प्रकार लिखा है—

"आचार्य पाल्यकीर्तिविरचित व्याकरण का नाम केवल 'शब्दानुशासन' है। उसके साथ 'शाकटायन' नाम का संबन्ध कैसे हुआ, यह अज्ञात है। सम्भव है, जैसे कवियों में कालिदास की महती उत्कर्षता होने ये उत्तरवर्ती कई उत्कृष्ट कवि भी कालिदास नाम से व्यवहृत होने लगे, वैसे ही वैदिक वैयाकरणों में सर्वोत्कृष्ट शाकटायन का नाम उत्कर्षता के द्योतन के लिए जैन सम्प्रदाय के महावैयाकरण पाल्यकीर्ति के साथ भी युक्त कर दिया गया।"

हमारा उपर्युक्त लेख सम्भावना मात्र था। अब शाकटायन नाम का वास्तविक कारण परिज्ञात हो गया है। वह इस प्रकार है—

आचार्य पाणिनि ने **गोषदादिभ्यो वुन्** (५।२।६२) में **गोषदादि** गण का निर्देश किया है। तदनुसार **गोषद इषेत्वा** आदि शब्द जिस अनुवाक अथवा अध्याय में हों वे **गोषदक इषेत्वक** आदि नामों से व्यवहृत होते हैं। आचार्य पाल्यकीर्ति ने पाणिनि के **गोषदादिभ्यो वुन्** सूत्र के स्थान में **घोषदादेर्वुंच्**[1]

---

१. शाकटायन लघुवृत्ति में घोषडादेर्वुंच् पाठ छपा है। हमारे विचार में

(३।३।१७८) सूत्र बनाकर घोषदादि गण का निर्देश किया है। यदि यह परिवर्तन पाल्यकीर्ति ने किसी प्राचीन शब्दानुशासन के अनुकरण पर न किया हो तो यह बड़े महत्त्व का परिवर्तन है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पाल्यकीर्ति तैत्तिरीय शाखाध्यायी शाकटायन गोत्रज ब्राह्मण कुल का था। जैन सम्प्रदाय के अनेक प्रसिद्ध आचार्य ऐसे हैं जो ब्राह्मण कुल के थे और उन्होंने उत्तर काल में वैदिक धर्म का परित्याग करके जैन मत को ग्रहण किया।

काठक संहिता १।२ और मैत्रायणी संहिता १।२ में मन्त्र का पाठ है— **गोषदसि प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टारातिः।** तदनुसार दोनों संहिताओं का यह अनुवाक **गोषद्क** नाम से व्यवहृत होता है। तैत्तिरीय संहिता में इस मन्त्र का पाठ है—**यज्ञस्य घोषदसि प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः।** इस पाठ में **गोषद** के स्थान में घोषद शब्द का प्रयोग है। तदनुसार यह अनुवाक **घोषद्क** नाम से व्यवहृत होता है। इस तुलना से स्पष्ट है कि आचार्य पाल्यकीर्ति ने स्वशाखा के पाठ के अनुसार गोषद शब्द के स्थान में घोषद शब्द का पाठ किया है।

पाल्यकीर्ति ने स्व-तन्त्र संबद्ध गणपाठ का भी प्रवचन किया था। यह स्वतन्त्र रूप से भी लघुवृत्ति के अन्त में छपा उपलब्ध होता है। इस गणपाठ में पुराने गणपाठों से अनेक भिन्नताएँ उपलब्ध होती हैं। यथा—

१—नामकरण की लघुता—पाल्यकीर्ति ने अनेक गणों के पुराने बड़े नामों के स्थान में लघु नामों का निर्देश किया है। यथा—

(क) **आहिताग्न्यादि** के स्थान में **भार्योढादि** (२।१।११५)।
(ख) **लोहितादि** ,, ,, ,, **निद्रादि** (४।१।२७)।
(ग) **अश्वपत्यादि** ,, ,, ,, **धनादि** (२।४।१७४)।
(घ) **सन्धिवेलादि** ,, ,, ,, **सन्ध्यादि** (३।१।१७६)।
(ङ) **ऋगयनादि** ,, ,, ,, **शिक्षादि** (३।१।१३६। इत्यादि

यह प्रमाद पाठ है। वैदिक वाङ्मय से संबद्ध अनेक सूत्रों में ऐसे प्रमाद उपलब्ध होते हैं। इसी सूत्र की वृत्ति में 'इ्येत्वकः' के स्थान में 'इ्वेत्वकः' छपा है। अन्त में मुद्रित गणपाठ में 'देवीरापः' के स्थान में 'देवीरायः' पाठ है। हेमचन्द्राचार्य ने गणनिर्देश में प्रायः शाकटायन का अनुसरण किया है। हेमचन्द्र ने 'घोषदादेरकः (७।२।७४)' सूत्र में 'घोषद' शब्द का ही निर्देश किया है। इससे भी स्पष्ट है कि लघुवृत्ति के सूत्रपाठ तथा वृत्ति ग्रन्थ में मुद्रित 'घोषड' पाठ अशुद्ध है।

आचार्य हेमचन्द्र ने गणनिर्देश में शाकटायन का अनुसरण किया है। केवल पाणिनीय पक्षादि के स्थान पर पाल्यकीर्ति द्वारा निर्दिष्ट पथ्यादि (२।४।२०) के स्थान पर पन्थ्यादि (६।२।८९) का परिवर्तन उपलब्ध होता है।

२—गणों का न्यूनीकरण—जिन पाणिनीय गणों में दो चार ही शब्द थे उन्हें पाल्यकीर्ति ने सूत्र में पढ़ कर गणपाठ से उन्हें हटा दिया।

३—नये गणों का निर्माण—पाणिनि के जिन सूत्रों में अनेक पद हैं उन्हें सूत्र से हटाकर नये गणों के रूप में परिवर्तित कर दिया। यथा—

(क) देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यः(५।४।५६) के स्थान में देवादिगण (३।४।६३)।

(ख) द्वितीयाश्रितातीत (२।१।२४) इत्यादि के स्थान में श्रितादिगण (२।३।३३)।

समानस्य छन्दस्य० (६।३।८४) के योगविभाग से सिद्ध होने वाले सपक्ष सधर्म तथा ज्योतिर्जनपद (६।३।८५) आदि के लिए धर्मादि गण (२।२।११९)।

पाल्यकर्ति ने कई स्थानों पर सर्वथा ऐसे नए गणों का भी प्रयोग किया है जो पाणिनीय शास्त्र में गण रूप से निर्दिष्ट नहीं हैं। यथा—

(क) पाणिनि के तेन प्रोक्तम् (४।३।१०१) सूत्र से यथाविहित प्रत्यय होकर सिद्ध होने वाले मौदाः पैप्पलादाः आदि प्रयोगों के लिए पाल्यकीर्ति ने मोदादिभ्यः (३।१।१७०) सूत्र में मोदादि गण का निर्देश किया है।

(ख) पाणिनि ने समासाच्च तद्विषयात् (५।३।१०६) सूत्र से सिद्ध होने वाले काकतालीय अजाकृपाणीय प्रयोगों के लिए काकतालीयादयः (३।३।४२) सूत्र में काकतालीयादि गण का पाठ किया है।

४—सन्देहनिवारण—पाणिनि के तन्त्र में जहाँ एक नाम वाले दो गण थे, उनमें सन्देह की निवृत्ति के लिए विभिन्न नामों का उपयोग किया है। यथा—

पाणिनि ने ४।२।८० में दो कुमुदादि गण पढ़े हैं। पाल्यकीर्ति ने पहले कुमुदादि को कुमुदादि ही रखा और द्वितीय कुमुदादि को अश्वत्थादि नाम से स्मरण किया (द्रष्टव्य सूत्र २।४।२०२)।

५—गणों का एकीकरण—पाल्यकीर्ति ने पाणिनि के अनेक गणों को परस्पर मिला कर लाघव करने का प्रयास किया है। यथा—

(क) पाणिनि के भिक्षादि (४।२।३८) और खण्डिकादि (४।२।४५) को पाल्यकीर्ति ने मिलाकर एक भिक्षादि गण (२।४।१२८) ही स्वीकार है।

(ख) पाणिनि के कथादि (४।४।१०२) और गुडादि (४।४।१०३) दो गणों को भी पल्यकीर्ति ने कथादि (३।२।२०२) के रूप में एक बना दिया है।

(ग) पाणिनि के ब्राह्मणादि (५।१।१२४) और पुरोहितादि (५।१।१२८) दोनों गणों का पाल्यकीर्ति ने ब्राह्मणादि (३।३।१०) में अन्तर्भाव कर दिया है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी यह एकीकरण देखा जाता है।

गणों के एकीकरण से हानि—पाल्यकीर्ति आदि ने पाणिनि के विभिन्न गणों का लाघव की दृष्टि से जहाँ जहाँ एकीकरण किया है, वहाँ सर्वत्र एक महान् दोष उपस्थित हो जाता है। पाणिनि आदि पुराने आचार्यों ने शब्दों के स्वर-भेद के परिज्ञापन के लिए जो महान् प्रयत्न किया था, वह उत्तरवर्ती आचार्यों के लाघव के नाम पर किए गए ऐसे प्रयत्नों से सदा के लिए विलुप्त हो गया।

६—गणसूत्रों का गणपाठ से पृथक्करण—पाणिनि आदि ने गणपाठ में जो अनेक गणसूत्र पढ़े थे, उन्हें पाल्यकीर्ति ने गणपाठ से निकाल कर शब्दानुशासन में स्वतन्त्र सूत्र रूप में पढ़ा है। यथा—

(क) पाणिनि के स्थूलादि गण (५।४।३) में पठित कृष्ण तिलेषु, यव ब्रीहिषु आदि गणसूत्रों को पाल्यकीर्ति ने कृष्णयवजीर्ण (३।३।१८१) आदि स्वतन्त्र सूत्र का रूप दे दिया।

(ख) पाणिनि के प्रज्ञादि गण (५।४।३८) में पठित कृष्ण मृगे, श्रोत्र शरीरे गणसूत्रों को पाल्यकीर्ति ने पाणिनि के ओषधेरजातौ (५।३।३७) सूत्र के साथ मिलाकर कृष्णौषधिश्रोत्रान्मृगभेषजशरीरे (३।४।१३३) के रूप में पढ़ा है।

७—चान्द्र नामों का परिवर्तन—पाल्यकीर्तिने गणनामों में चान्द्र शब्दानुशासन का अनुकरण करते हुए भी कई स्थानों पर चान्द्र नामों का परित्याग करके नए गणनाम दिए हैं। यथा—

क—चन्द्राचार्य के हिमादिभ्यः (४।२।१३६) सूत्र में निर्दिष्ट हिमादि गण का नाम पाल्यकीर्ति ने गुणादि (३।३।१५८) रखा है।

ख—चन्द्राचार्य द्वारा निर्धारित कलाप्यादि गण (५।३।१४०) का नाम पाल्यकीर्ति ने मौदादि (३।१।७०) रखा है।

पाल्यकीर्ति प्रोक्त गणपाठ उस की स्वोपज्ञ अमोघा वृत्ति में पढ़ा है। यह यक्षवर्मविरचित चिन्तामणि अपर नाम लघु-वृत्ति के अन्त में भी छपा हुआ मिलता है।

११—महाराज भोजदेव (सं० १०७५—१११०)

पूर्वाचार्यों द्वारा गणपाठ को शब्दानुशासन से पृथक् खिलपाठ के रूप में पढ़ने से इसके पठन पाठन में जो उपेक्षा हुई और उसका जो भयङ्कर परिणाम हुआ, उसका निर्देश हम पूर्व (भा० २ पृष्ठ ३) कर चुके हैं। महाराज भोजदेव ने पूर्व वैयाकरणों द्वारा की गई उपेक्षा और उसके दुष्परिणामों को देख कर उसे पुनः शब्दानुशासन (सूत्रपाठ) में पढ़ने का साहस किया (पूर्व पृष्ठ ४)।

भोजीय गणपाठ का वैशिष्ट्य

भोज के गणपाठ का प्रधान वैशिष्ट्य उसका सूत्रपाठ में समाविष्ट होना है। इसके साथ ही इसमें निम्न वैशिष्ट्य भी उपलब्ध होते हैं—

१—**आकृति-गणों का पाठ**—पाणिनि आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा आकृतिगण रूप से निर्दिष्ट गणों को भोज ने उन उन गणों में समाविष्ट होने वाले शब्दों का यथासम्भव पाठ करके अन्तिम शब्द के साथ **आदि** पद का निर्देश किया है।

२—**वार्तिकगणों का पाठ**—आचार्य चन्द्र ने जिस प्रकार कात्यायनीय वार्तिकों में निर्दिष्ट गणों को अपने सूत्रपाठ में स्थान दिया, उसी प्रकार आचार्य भोज ने भी उन्हें सूत्रपाठ में पढ़ा है।

३—**नवीन गणों का निर्देश**—भोज ने पूर्व वैयाकरणों द्वारा अपठित कतिपय नवीन गणों का भी पाठ किया है। यथा—

किंशुकादि (३।२।९८) वृन्दारकादि (३।२।८६)
मतल्लिकादि (३।२।८८) खसूच्यादि (३।२।८३)
जपादि (७।३।६२)

इनमें से प्रथम चार गणों का निर्देश करते हुए वर्धमान ने स्पष्ट शब्दों में इन्हें भोज द्वारा अभिप्रेत लिखा है। यथा—

किंशुकादि—अयं च गणः श्रीभोजदेवाभिप्रायेण। गणरत्नमहोदधि पृष्ठ ८३।

वृन्दारकादि—मतल्लिकादि—खसूच्यादि—एतच्च गणत्रयं भोजदेवाभिप्रायेण द्रष्टव्यम्। अन्यवैयाकरणमतेन सूत्राण्येतानि। गणरत्न-महोदधि, पृष्ठ ८६।

जपादि—भोज के जपादि गण का तथा तन्निर्देशक जपादीनां पो वः सूत्र का अनुकरण आचार्य हेमचन्द्र ने २।३।१०५ में किया है। क्षीरस्वामी ने भी अपने अमरकोशोद्घाटन में भोजीय जपादि गण का असकृत् निर्देश किया है। यथा—

कं शिरः पाटयति प्रविशतां कवाटो द्वारपट्टः, जपादित्वाद वत्वम्। २।२।१७॥

पा (प) रापतस्यायं पारावतः, जपादित्वाद् वत्वम्। २।५।१५॥

इसी प्रकार अनेकत्र जपादि का निर्देश अमरकोशोद्घाटन में उपलब्ध होता है।

४ गणों के नामान्तर—भोज ने आचार्य चन्द्र के अनुकरण पर पाणिनीय अपूपादि का यूपादि (४।४।१८८) तथा बह्वादि का शोणादि (३।४।७५) नाम से निर्देश किया है।

५—क्वचित् चान्द्र अनुकरण का अभाव—यद्यपि भोज ने आचार्य चन्द्र का अत्यधिक अनुकरण किया है, पुनरपि कहीं कहीं उसने चन्द्र का अनुकरण न करके स्वतन्त्र मार्ग भी अपनाया है। यथा—

पाणिनि के व्रीह्यादि गण का आचार्य चन्द्र ने कात्यायन के अनुकरण पर त्रिधा विभाग किया है व्रीह्यादि, शिखादि और यवखदापि। परन्तु भोज ने व्रीह्यादि गण में पठित शिखा आदि शब्दों को पुष्करादि गण (५।२।१९०—१९२) और कर्म तथा चर्म शब्द को बलादि गण (५।२।१९३-१९४) में पढ़ कर अपनी स्वतन्त्र मनीषा का परिचय दिया है।

६ पाठान्तरों का निर्देश—भोज ने प्राचीन विभिन्न आचार्यों द्वारा स्वीकृत एक शब्द के विभिन्न पाठान्तरों को भी कहीं कहीं स्वतन्त्र शब्दों के रूप में स्वीकार किया है। यथा—

कुर्वादि—गण में काशिका का पाठ मुर है। चन्द्र ने इसके स्थान में पुर

पाठ स्वीकार किया है। भोज ने इस गण में (४।४।१४४–१५३) में दोनों शब्दों का पाठ किया है।

व्याख्याकार

भोजीय सरस्वतीकण्ठाभरण के व्याख्याता दण्डनाथ ने शब्दानुशासन की व्याख्या में गणसूत्रों की व्याख्या भी की है। परन्तु गणपाठ के शब्दों की जैसी व्याख्या होनी चाहिए वैसी व्याख्या उसकी टीका में स्वरादि चादि प्रादि आदि कतिपय गणों की ही उपलब्ध होती है।

१२—भद्रेश्वर सूरि (सं० १२०० से पूर्व)

भद्रेश्वर सूरि विरचित दीपक व्याकरण का वर्णन हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४४७-४४८ (प्र० सं) में कर चुके। उसी प्रकरण में हमने वर्धमान की गणरत्नमहोदधि का एक उद्धरण दिया है। जिससे विदित होता है कि भद्रेश्वर सूरि ने स्व-शब्दानुशासन से संबद्ध किसी गणपाठ का भी प्रवचन किया था। वह अवतरण इस प्रकार है—

भद्रेश्वराचार्यस्तु

किंच स्वा दुर्भगा कान्ता रक्षान्ता निचिता समा।
सचिवा चपला भक्तिर्बाल्येति स्वादयो दश॥
इति स्वादौ वेत्यनेन विकल्पेन पुंवद्भावं मन्यते।

गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ ९८।

इस उद्धरण में भद्रेश्वर सूरि प्रोक्त गणपाठ के स्वादि गण का उल्लेख है। यदि उक्त उद्धरण में निर्दिष्ट श्लोक भद्रेश्वर सूरि का ही हो (जिसकी अधिक सम्भावना है) तो इससे यह भी जाना जाता है कि उक्त गणपाठ श्लोक-बद्ध था।

नामपरिवर्तन—भद्रेश्वर सूरि ने भी पूर्वाचार्यों की पद्धति पर चलते हुए पाणिनिनिर्दिष्ट कतिपय गणनामों का परिवर्तन किया था। उक्त उद्धरण में निर्दिष्ट स्वादि नाम पाणिनि-प्रोक्त प्रियादि (६।३।३३) गण का है।

इससे अधिक हम इस आचार्य के गणपाठ के विषय में कुछ नहीं जानते।

१३—हेमचन्द्र सूरि (सं० ११४५–१२२९)

आचार्य हेमचन्द्र का गणपाठ उसकी स्वोपज्ञ–बृहद्वृत्ति में उपलब्ध होता है।

पाल्यकीर्ति का अनुकरण

हेमचन्द्र ने पाल्यकीर्ति के शब्दानुशासन और उसकी आमोघा वृत्ति का अत्यधिक अनुकरण किया है। डा० वेल्वेल्कार ने इस सम्बन्ध में लिखा है—

विशेषतः शाकटायन के शब्दानुशासन तथा अमोघा वृत्ति के संबन्ध में उसका (=हेमचन्द का) आश्रित होना इतना निकट का है कि वह सर्वथा अन्धानुकरण की स्थिति तक जा पहुँचता है।[1]

निस्सन्देह आचार्य हेमचन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती पाल्यकीर्ति का अत्यधिक अनुकरण किया है, परन्तु उसके सम्बन्ध में हम डा० वेल्वेल्कार की सम्मति से सहमत नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र ने यद्यपि अपने सभी ग्रंथों में तत्तद् विषय के प्राचीन ग्रन्थकारों तथा उनके ग्रंथों का अनुकरण किया है, तथापि उनमें आचार्य के अपने अनेक मौलिक अंश भी हैं। अन्धानुकरण का दोष तभी दिया जा सकता है, जबकि किसी ग्रंथकार के ग्रंथ में उसका मौलिक अंश किञ्चिन्मात्र भी न हो। इतना नहीं, वाङ्मय के क्षेत्र में ऐसा कौन-सा लेखक है जो अपने पूर्व लेखकों की सामग्री का उपयोग न करके सब कुछ स्वमनीषा से उद्भासित वस्तु अथवा तत्त्व का ही निर्देश करता है।

जहाँ तक हेमचन्द्र के गणपाठ का संबंध है, वह प्रायः पाल्यकीर्ति के गणपाठ का अनुकरण करता है, पुनरपि उसमें कतिपय स्थानों में स्वोपज्ञ अंश भी है। यथा—

१—नये गणों का निर्धारण—प्राचीन वैयाकरणों की शब्दानुशासन के लाघव के लिए नए-नए गणों की उद्भावना पद्धति पर चलते हुए हेमचन्द्र ने कतिपय नए गणों की उद्भावना की है। यथा—

क—पाणिनि के **सायंचिरं** (४।३।२३) सूत्रपठित शब्दों के लिए **सायाह्नादि** (३।१।५३) गण की कल्पना की।

ख—पाणिनि के **अनन्तावसथ** (५।४।२३) सूत्र पठित शब्दों के लिए **भेषजादि** (७।२।१६४) गण का निर्धारण।

२—नामपरिवर्तन—कहीं-कहीं पर हेमचन्द्र ने पाल्यकीर्ति आदि पूर्वाचार्यों द्वारा निर्धारित गणनामों में भी परिवर्तन किया है। यथा—

---

१. सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ७६।

पाणिनि के **चतुर्थी तदर्थार्थ**-(२ । १ । ३६) सूत्र के लिए पाल्यकीर्ति द्वारा निर्धारित **अर्थादि** (शाक० २ । १ । ३९) गण के स्थान में हेमचन्द्र ने उसका नाम **हितादि** (३ । १ । ७१) रक्खा है।

३—एक गण के दो गण—एक गण के दो विभाग अथवा दो गण बनाने की दिशा में भी हेमचन्द्र ने कुछ नया प्रयास किया है। यथा—

क—पाणिनि के **पुष्करादि** (५ । २ । १३५) गण को **पुष्करादि** (७ । २ । ७०) तथा **अब्जादि** (७ । २ । ६७) दो गणों में विभक्त किया है।

ख—पाणिनि के **कस्कादि** (८।३।४८) गण को एक ही सूत्र में **भ्रातुष्पुत्रादि** (२।३।१४) तथा **कस्कादि** (२।३।१४) दो गणों में बांटा है।

४—संगृहीत विगृहीत पाठ—हेमचन्द्र ने कतिपय स्थानों पर समान शब्दों को संग्रहीत (समस्त) तथा विग्रहीत (=विभक्त) दोनों रूपों में पढ़ा है। यथा—

क—**उत्करादि** (६ । २ । ९१) गण में **इडाजिर** संगृहीत रूप में, तथा **इडा अजिर** विग्रहित रूप में।

ख—**तिकादि** (६ । १ । १३१) गण में **तिककितव** संग्रहित रूप में, तथा **तिक कितव** विग्रहीत रूप में।

५—पाठान्तरों का संग्रह—गणपाठ के तत्तत् गणों में पूर्वाचार्य स्वीकृत प्रायः सभी पाठान्तरों का हेमचन्द्र ने अपने गणपाठ में संग्रह कर दिया है। हेमचन्द्र की यह प्रवृत्ति उसके स्वभाव के अनुरूप है। हेमचन्द्राचार्य के प्रायः सभी ग्रन्थों में यह संग्रहात्मक प्रवृत्ति देखी जाती है।

व्याख्या

हेमचन्द्र के गणपाठ पर कोई स्वतन्त्र व्याख्या उपलब्ध नहीं होती, तथापि उसके कतिपय गणों के शब्दों की व्याख्या उसके बृहन्न्यास में उपलब्ध होती है।

१४—क्रमदीश्वर (सं १३०० से पूर्व)

क्रमदीश्वर प्रोक्त संक्षिप्तसार अपर नाम जौमर व्याकरण से संबद्ध जो गणपाठ है, उसका प्रवचन क्रमदीश्वर ने ही किया, अथवा संक्षिप्तसार के परिष्कर्ता अथवा व्याख्याता जुमरन्दी ने किया, यह अज्ञात है। इस गणपाठ में अनेक प्रधानभूत गणों का ही संकलन है।

व्याख्याता—न्यायपञ्चानन

जौमर गणपाठ पर न्यायपञ्चानन नाम के विद्वान् ने गणप्रकाश नाम्नी एक व्याख्या लिखी है।

इस न्यायपञ्चानन ने जौमर व्याकरण पर गोयीचन्द्र विरचित टीका पर टीका लिखी है। इसका वर्णन हमने इसी ग्रंथ के प्रथम भाग पृष्ठ ४५३ (प्र० सं०) में किया है।

१५—सारस्वत व्याकरणकार (सं० १३०० के लगभग)

सारस्वत सूत्रों के रचयिता नरेन्द्राचार्य (अथवा अनुभूति स्वरूपाचार्य) ने अपने सूत्रों में अनेक गणों का निर्देश किया है। इस गणपाठ में भी प्राचीन गणपाठों के समान कुछ वैचित्र्य उपलब्ध होता है। यथा—

१—पाणिनीय **स्वरादि** और **चादि** गणों का एक में समावेश।

२—कात्यायन द्वारा उपसंख्यात **श्रत्** और **अन्तर्** शब्द का प्रादिगण में समावेश तथा **संभस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलात्** आदि वार्तिक के उदाहरणों का **अजादि** में समावेश द्रष्टव्य है।

३—पाणिनीय गणनामों का कहीं-कहीं परिवर्तन भी देखा जाता है। यथा—

गौरादि गण का **नदादि**, **बाह्वादि** का **पद्धत्यादि**, **सपत्न्यादि** का **पत्न्यादि**, **शुभ्रादि** का **अत्र्यादि** आदि नामकरण उपलब्ध होते हैं।

४—कहीं कहीं पाणिनि के विस्तृत सूत्र निर्दिष्ट शब्दों के लिए भी गणों का निर्धारण देखा जाता है। यथा—

इन्द्रवरुणभवशर्व—की दृष्टि से **इन्द्रादि**, **जानपदकुण्डगोण** की दृष्टि से **जानपदादि** गण। (ये अन्य व्याकरणों में भी मिलते हैं)।

पाणिनि के **पूतक्रतोरै च**, **वृषाकप्यग्नि** तथा **मनोरौ वा** सूत्रों की दृष्टि से **मन्वादि** आकृति गण तथा **पितृष्वसुश्छण्** और **मातृष्वसुश्च** सूत्रों की दृष्टि से **पितृष्वस्रादि** गण की कल्पना सारस्वतकार की अपनी उपज्ञा है।

५—कहीं कही पूर्वाचार्यों दारा निर्धारित गणों की उपेक्षा भी की है। यथा—

आचार्य चन्द्रगोमी ने पाणिनि के **ऊषशुषिमुष्कमधो रः** तथा इसी सूत्र पर रचे गए कात्यायन के **रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्यः उपसंख्यानम्** वार्तिक

के लिए ऊषादि गण की कल्पना की थी। परन्तु सारस्वतकार ने यहाँ इस लाघव को स्वीकार न करके पाणिनि के सूत्र तथा कात्यायन के वार्तिक का सम्मिश्रण करके **ऊषशुषिमुष्कमधुखमुखकुञ्जनगपांशुपाण्डुभ्यः** जैसे बड़े सूत्र की रचना की है। सारस्वत-गणपाठ इसकी चन्द्रिका टीका में उपलब्ध होता है।

१६—बोपदेव (सं० १३००–१३५०)

बोपदेव ने मुग्धबोध व्याकरण से संबद्ध गणपाठ का प्रवचन भी किया था। इसमें अनेक पणिनीय गण अपरिवर्तित रूप में मिलते हैं, कुछ गणों के नामों में परिवर्तन किया है, **कल्याण्यादि शरत्प्रभृति** तथा **द्वारादि** जैसे कतिपय गणों के शब्दों का सूत्रों में ही पाठ किया है। मुग्धबोधकार द्वारा इदंप्रथमतया निर्धारित एक तन्वादि गण ही ऐसा है, जिसे इसका मौलिक गण कहा जा सकता है।

मुग्धबोध के टीकाकार दुर्गादास और रामतर्क वागीश ने अपनी व्याख्याओं में पाणिनि के प्रायः सभी गणों का विस्तार से निर्देश किया है। मुग्धबोध के सर्वादि गण में **पूर्वादि** शब्दों का निर्देश द्वि शब्द के पीछे उपलब्ध होता है। यही क्रम सम्भवतः आपिशलि के गणपाठ में भी था।

१७—पद्मनाभदत्त (सं० १४००)

डा० बेल्वेल्कार का मत है कि सौपद्म सम्प्रदाय के गणपाठ का निर्धारण काशीश्वर नाम के विद्वान् ने किया था और रमाकान्त नाम के वैयाकरण ने इस गणपाठ पर एक वृत्ति लिखि थी।[1] गणेश्वर के पुत्र पद्मनाभदत्त ने **पृषोदरादि** वृत्ति नामक एक विशिष्ट ग्रन्थ की रचना सं० १४३० (सन् १३७५) में की थी।[1]

अज्ञात व्याकरण संबद्ध गण-प्रवक्ता और व्याख्याता

वैयाकरण वाङ्मय में गणपाठ से सम्बन्ध रखनेवाले कतिपय ऐसे वैयाकरणों के नाम तथा कृतियाँ मिलती हैं, जिनका किसी व्याकरण विशेष से सम्बन्ध हमें ज्ञात नहीं है। ऐसे गणप्रवक्ता और व्याख्याताओं का हम नीचे निर्देश करते हैं।

---

१. सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ १११।

१८—वर्धमान (सं०११६०–१२१०)

अज्ञात व्याकरण-संबद्ध गणकारों में वर्धमान का नाम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। सम्पूर्ण गणपाठ के वाङ्मय में वर्धमान के स्वीय गणपाठ की स्वोपज्ञ **गणरत्नमहोदधि** व्याख्या ही एक मात्र ऐसा ग्रन्थ है, जिसके साहाय्य से गणपाठ के सम्बन्ध में हम कुछ जान सकते हैं।

वर्धमान ने किसी अज्ञात व्याकरण से सम्बन्ध रखनेवाले किसी गणपाठ का श्लोकबद्ध संकलन एवं उसकी विस्तृत व्याख्या लिखी है। वर्धमान ने इस व्याख्या के अन्त में गणरत्नमहोदधि के रचना-काल का निर्देश इस प्रकार किया है—

> सप्तनवत्यधिकेष्वेकादशसु शतेष्वतीतेषु।
> वर्षाणां विक्रमतो गणरत्नमहोदधिर्विहितः॥

अर्थात् विक्रम से ११९७ वर्षों के व्यतीत होने पर गणरत्नमहोदधि ग्रन्थ लिखा गया।

वर्धमान ने अपनी व्याख्या में अपने से प्राचीन सभी वैयाकरणों के गणपाठस्थ तत्तत् शब्द विषयक सभी पाठभेदों और मतों का विस्तार से निर्देश किया है। इसमें **एके केचित् अपरे** आदि सामान्य निर्देशों के अतिरिक्त जिन वैयाकरणों को नाम निर्देशपूर्वक स्मरण किया है, वे ये हैं—

१—अभयनन्दी	९—भोज (श्रीभोज)
२—अरुणदत्त	१०—रत्नमति
३—चन्द्रगोमी	११—वसुक्र
४—जिनेन्द्रबुद्धि	१२—वामन
५—द्रमि (वि) ड़ वैयाकरण	१३—वृद्ध वैयाकरण
६—पाणिनि	१४—शकटाङ्गज (पाल्यकीर्ति)
७—पारायणिक	१५—सुधाकर
८—भद्रेश्वर	१६—हेमचन्द्र

इस ग्रन्थ में उपर्युक्त आचार्यों के द्वारा प्रस्तुत विभिन्न पाठभेदों अथवा मतों का तो उल्लेख किया ही गया है, अनेक स्थानों पर उनके गणपाठ में पढ़े जाने के प्रयोजन, गणसूत्रों की व्याख्या, तथा विशिष्ट शब्दों के प्रयोग निदर्शन के लिए स्वविरचित और प्राचीन कवियों के पद्यों को उद्धृत किया है।

वर्धमान ने पाणिनीय गणपाठ के स्वर वैदिक प्रकरणातिरिक्त प्रायः सभी गणों का समावेश अपने ग्रन्थ में किया है, किन्हीं का सर्वथा अभिन्न रूप में और किन्हीं का नाम परिवर्तन करके। इसी प्रकार कात्यायन के वार्तिक गणों को भी इसमें समाविष्ट कर लिया गया है। पाणिनि के कतिपय दीर्घकाय सूत्रों और एक प्रकरण के दो चार सह पठित सूत्रों के आधार पर कतिपय नए गण भी निर्धारित किए हैं। इसी प्रकार कतिपय वार्तिकों के आधार पर भी नए गणों की रचना की है। कहीं-कहीं पाणिनि के अनेक गणों का एक गण में भी समावेश देखा जाता है।

आचार्य चन्द्र, पाल्यकीर्ति और हेमचन्द्र द्वारा निर्धारित गणों को प्रायः उसी रूप में स्वीकार कर लिया है। हाँ, किन्हीं गणों के नाम परिवर्तित अवश्य किए गए हैं। वामन और भोज द्वारा निर्धारित गणों को भी इसमें स्थान दिया गया है। अरुणदत्त के मतानुसार अर्धर्चादि गण के शब्दों की एक विस्तृत सूची उपस्थित की है।

इन सब विशेषताओं के कारण वर्धमान की गणरत्नमहोदधि ग्रन्थ अपने विषय का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ बन गया है। सम्प्रति गणपाठ के शब्दों के अर्थ पाठभेद और प्रयोग ज्ञान के लिए एकमात्र साहाय्य ग्रन्थ है। भट्ट यज्ञेश्वर विरचित गणरत्नावली का भी यही एक मात्र आधार ग्रन्थ है।

गङ्गाधर

महामहोपाध्याय गङ्गाधर ने वर्धमान की गणरत्नमहोदधि पर एक टीका लिखी थी। इसका एक हस्तलेख इण्डिया आफिस लायब्रेरी लन्दन के सूचीपत्र भाग २ खण्ड १ में निर्दिष्ट है।

गोवर्धन

आफ्रेक्ट ने अपने हस्तलेख सूचीपत्र में गङ्गाधर के साथ गोवर्धन का भी गणरत्नमहोदधि के टीकाकार के रूप में उल्लेख किया है।

१६—बालकृष्ण शास्त्री

वर्धमान विरचित गणपाठ के श्लोकों की गणरत्न नाम की एक संक्षिप्त व्याख्या किसी बालकृष्ण शास्त्री ने लिखी है। इसमें कहीं कहीं वर्धमान कृत व्याख्या = गणरत्नमहोदधि की आलोचना भी की है। यथा सर्वादि गण में वर्धमान द्वारा पठित अन्योन्य परस्पर इतरेतर शब्दों के विषय में लिखा है—

अन्योन्यपरस्परेतरेतराणां पाठोऽप्रामाणिकः।

२०—अरुणदत्त (सं० ११९० से पूर्ववर्ती)

वर्धमान ने अरुणदत्त के मतानुसार अर्धर्चादि गण के शब्दों की एक विस्तृत सूची उपस्थित करके लिखा है—

अरुणदत्ताभिप्रायेणैते दर्शिताः। पृष्ठ ६४।

एक अरुणदत्त अष्टाङ्ग हृदय का व्याख्याता है। उससे यह अभिन्न है अथवा भिन्न, इस विषय में हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते।

२१—द्रविड वैयाकरण

इस आचार्य के धातुपाठ तथा गणपाठ संबंधी अनेक मत क्षीरतरङ्गिणी, माधवीया धातुवृत्ति तथा गणरत्नमहोदधि में उपलब्ध होते हैं, परन्तु हम इसके विषय में कुछ नहीं जानते।

२२—पारायणिक

पारायण नाम के दो ग्रंथ हैं—धातुपरायण और नामपारायण। इन ग्रंथों के अध्ययन करने वाले वैयाकरण पारायणिक कहाते हैं। नामपरायण का साक्षात् निर्देश काशिका के आद्य श्लोक में उपलब्ध होता है और नामपारायण से संबद्ध पारायणिकों का निर्देश काशिका ८।३।४८ में मिलता है। पदमञ्जरी (२।४।६१) भाग १ पृष्ठ ४८७ पर लिखा है—परिशिष्टाः पारायणे द्रष्टव्याः।

२३—रत्नमति

रत्नमति का गणपाठ संबंधी मत वर्धमान की गणरत्नमहोदधि में मिलता है। यथा—

१—रत्नमतिस्तु कालशब्दस्य संज्ञावाचिनो ङी। पृष्ठ ४९।

२—रत्नमतिना तु हरितादयो गणसमाप्तिं यावत् व्याख्यातम्। तन्मतानुसारिणा मयाप्येते किल निबद्धाः। पृष्ठ १५२।

इन उदाहरणों से रत्नमति का गणपाठ-व्याख्यातृत्व स्पष्ट है।

रत्नमति के धातुपाठ विषयक कतिपय मत माधवीया धातुवृत्ति आदि में उपलब्ध होते हैं।

रत्नमति का उल्लेख हैम बृहन्न्यास १।४ ३६; २।१।६६ प्रभृति में भी मिलता है।

२४—वसुक्र

वर्धमान ने अहरादिपत्यादि गणस्थ उषर्बुध शब्द का व्याख्यान करते हुए लिखा है—

उषर्भुद् इत्यपि श्रीवसुक्रः । पृष्ठ २६ ।

इससे वसुक्र का गणपाठ-व्याख्यातृत्व द्योतित होता है। इसके विषय में इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

२५—वृद्ध वैयाकरण

वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में शरदादि गण के व्याख्यान में किसी वृद्ध वैयाकरण का मत उद्धृत किया है। ब्राह्मणादि के व्याख्यान में 'वृद्धाः' पद से सम्भवतः उसे ही स्मरण किया है।

१—ऋक्पूरब्धूःपथात् इत्यनेनैव समासान्तस्य सिद्धत्वादस्य पाठो न संगतः प्रतिभाति, परं वृद्धवैयाकरणमतानुरोधेन पठितः । पृष्ठ ९५ ।

२—गडुलदायादविशस्तिविशम्पुरशब्देभ्यस्त्वतलौ न भवत इति वृद्धाः । पृष्ठ २२५ ।

वर्धमान की भूल

वर्धमान ने प्रथम उद्धरण में प्रतिपथम् अनुपथम् शब्दों का शरदादि गण में पाठ असंगत बताया है, परन्तु यह उसकी भूल है। ऋक्पूरब्धू० सूत्र से अ प्रत्यय होता है। उस अवस्था में प्रत्यय स्वर होकर पूर्वपदप्रकृति स्वर प्राप्त होता है। परन्तु शरदादि में पाठ होने से टच् प्रत्यय होता है। उस अवस्था में प्रकृति स्वर की प्राप्ति को टच् के चित्करणसामर्थ्य से बाधकर अन्तोदात्तत्व होता है। इतना ही नहीं, अप्रत्यय होने पर स्त्रीलिङ्ग में टाप् की प्राप्ति होती है। टच् प्रत्यय होने पर टित्वात् ङीप् होता है। इन विशेषताओं के होने पर भी उक्त पदों का शरदादि में पाठ असंगत बताना उसका स्वरशास्त्र से अज्ञान प्रकट करता है।

२६—सुधाकर

वर्धमान ने अव्यय शब्दों से उत्पन्न होने वाली नाम विभक्तियों के संबन्ध में विचार करते हुए सुधाकर का एक मत इस प्रकार उद्धृत किया है—

सुधाकरस्त्वाह—अव्ययेभ्यस्तु निस्संख्येभ्योऽव्ययादाप्सुप इति ज्ञापकाद् विभक्त्युत्पत्तिः । गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २३ ।

सुधाकर ने यह वचन स्वरादि गण के व्याख्यान में लिखा अथवा अष्टाध्यायी की व्याख्या में, यह कहना कठिन है।

सुधाकर के धातुविषयक मत कृष्णलीलाशुक विरचित दैव-व्याख्यान में बहुधा उद्धृत हैं।

इससे अधिक सुधाकर के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

गणपाठों के तुलनात्मक अध्ययन और विशेष परिज्ञान के लिए हमारे मित्र प्रा० कपिलदेवजी साहित्याचार्य एम. ए. पीएच. डी. का **संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि** ग्रन्थ देखना चाहिए।[1]

इस प्रकार इस अध्याय में हमने गणपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता आचार्यों का यथाज्ञान वर्णन करने का प्रयत्न किया है। अगले अध्याय में उणादिसूत्रों के प्रवक्ता और व्याख्याता वैयाकरणों का वर्णन किया जायगा।

---

१. यह ग्रन्थ हमारे "भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान" संस्थान की ओर से प्रकाशित हुआ है। इन्हीं प्राध्यापक महोदय का 'पाणिनीय गणपाठ का आदर्श संस्करण और आलोचनात्मक टिप्पण' ग्रन्थ भी छप रहा है।

चौबीसवाँ अध्याय

उणादि-सूत्रों के प्रवक्ता और व्याख्याता

अति पुराकाल में जब संस्कृत भाषा के सम्पूर्ण नाम (जाति-द्रव्य-गुण-शब्द) और अव्यय (स्वरादि-निपात) शब्द एक स्वर से यौगिक माने जाते थे, उस समय उणादिसूत्र शब्दानुशासन के कृदन्त प्रकरण के अन्तर्गत ही थे, परन्तु उत्तरकाल में मनुष्यों की धारणाशक्ति और मेधा के ह्रास के कारण जब यौगिक शब्दों के धातु-प्रत्यय संबद्ध यौगिकार्थ की अप्रतीति होने लगी तब यौगिकार्थ की अप्रतीति तथा स्वरवर्णानुपूर्वी-विशिष्ट समुदाय से अर्थ विशेष की प्रतीति होने के कारण संस्कृत भाषा के सहस्रों शब्द वैयाकरणों द्वारा रूढ मान लिए गए। इस अवस्था में भी वैयाकरणों में शाकटायन तथा नैरुक्तों में गार्ग्य भिन्न सभी आचार्य तथाकथित रूढ शब्दों को भी यौगिक ही मानते रहे। यास्कीय निरुक्त के प्रथमाध्याय के १२–१३–१४ वें खण्डों में इस विषय की गम्भीर विवेचना की गई है और अन्त में तथाकथित रूढ शब्दों के यौगिकत्व पक्ष की स्थापना की है।

शाकटायन अतिरिक्त प्रायः सभी वैयाकरणों द्वारा सहस्रों शब्दों को रूढ मान लेने पर भी उन्होंने यौगिकत्व रूपी प्राचीन पक्ष की रक्षा तथा नैरुक्त आचार्यों के सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए रूढ शब्दों के धातु-प्रत्यय-निदर्शन के लिए उणादिसूत्र रूपी कृदन्त भाग को शब्दानुशासन से पृथक् करके उसे शब्दानुशासन के खिलपाठ अथवा परिशिष्ट का रूप दिया।[1]

इस प्रकार उणादिसूत्रों को शब्दानुशासन का परिशिष्ट बना देने पर वैयाकरणों की दृष्टि में चाहे इनका मूल्य कुछ स्वल्प हो गया हो, परन्तु नैरुक्त आचार्यों के मतानुसार सम्पूर्ण शब्दों को यौगिक मानने वाले वैदिक विद्वानों की दृष्टि में इनका मूल्य शब्दानुशासन के कृदन्त भाग की अपेक्षा किसी प्रकार अल्प नहीं है।

---

१. द्रष्टव्य—उन्नीसवाँ अध्याय, भाग २, पृष्ठ ९–१३।

उणादिसूत्रों की निदर्शनार्थता

कोई भी शब्दानुशान चाहे कितना ही विशाल क्यों न हो, वह अनन्त-शब्द राशि के सम्पूर्ण शब्दों का संग्राहक नहीं हो सकता। इसलिए समस्त शब्दानुशासन चाहे वे कितने ही विस्तृत क्यों न हो, निदर्शकमात्र ही होते हैं, पुनरपि उणादिसूत्र अत्यन्त स्वल्पकाय होने के कारण विशेष रूप से तथा-कथित रूढ शब्दों के प्रकृति-प्रत्यय-विभाग के निदर्शकमात्र ही हैं। भगवान् पतञ्जलि ने उणादिसूत्रों के महत्त्व और निदर्शनत्व के विषय में लिखा है—

बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायः समुच्चयनादपि तेषाम्।
कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तं नैगमरूढिभवं हि सुसाधु।
नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्।
कार्याद्विद्यादनूबन्धम्............३।३।१॥

अर्थात्—उणदयो बहुलम् (३।३।१) सूत्र में बहुल पद का निर्देश इस लिए किया है कि थोड़ी सी धातुओं से उणादि प्रत्ययों का विधान देखा जाता है, प्रत्ययों का भी प्रायः करके समुच्चय किया है, सब का समुच्चय (पाठ) नहीं किया। प्रकृति प्रत्यय के कार्य भी शेष रखे हैं, सूत्रों के द्वारा सब कार्यों का विधान नहीं किया। [सूत्रकार ने ऐसा क्यों किया, इसका उत्तर यह है कि] सभी निगम = वेद में पठित तथा रूढ शब्दों का साधुत्व परिज्ञात हो जाए। निरुक्त में सभी नाम शब्दों को धातुज = यौगिक कहा है और व्याकरण में शकट के पुत्र = शाकटायन का भी यही मत है। इसलिए जिन शब्दों का प्रकृति प्रत्यय आदि विशिष्ट स्वरूप लक्षणों से समुत्थ = ज्ञात नहीं है, उनमें प्रकृति को देख कर प्रत्यय की ऊहा करनी चाहिये और प्रत्यय को देख कर प्रकृति की। इसी प्रकार धातु-प्रत्यय-गत कार्य विशेष को देखकर अनुबन्धों का ज्ञान करना चाहिए।

उणादिपाठ के नामान्तर

प्राचीन ग्रन्थकारों ने उणादिपाठ के लिए उणादिकोश तथा उणादिगण शब्दों का भी व्यवहार किया है।

उणादिकोश (ष)—पञ्चपादी उणादिपाठ के व्याख्याकार महादेव वेदान्ती तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रभृति वैयाकरणों ने उणादिपाठ के लिए उणादिकोश (कोष) शब्द का प्रयोग किया। यथा—

क—इत्युणादिकोशे निजविनोदाभिधेये वेदान्तिमहादेवविरचिते पञ्चमः पादः सम्पूर्णः ।

ख—इति श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीकृतोणादिव्याख्यायां वैदिकलौकिककोषे पञ्चमः पादः समाप्तः ।

ग—......पानीविषिभ्यः पः इति पः पानीयम् इत्युणादिकोषः । शब्दकल्पद्रुम, पृष्ठ ५०६ ।

घ—शिवराम तथा रामशर्मा ने भी उणादिपाठ का 'उणादिकोश' नाम से व्यवहार किया हैं । द्र० पञ्चपादी वृत्तिकार, सं० १५,१६ ।

उणादि-निघण्टु—निघण्टु शब्द कोश का पर्यायववाची है । अतः वेङ्कटेश्वर नाम के वृत्तिकार ने उणादिपाठ का उणादि-निघण्टु शब्द से भी व्यवहार किया है । द्र० पञ्चपादी वृत्तिकार, संख्या १३ ।

उणादिगण—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उणादिसूत्रों के लिए उणादिगण शब्द का भी व्यवहार किया है । यथा—

क—इस उणादिगण की एक वृत्ति भी छपी है । उणादिकोष, भूमिका पृष्ठ ४ ।

ख—भूयात् सोऽयमुणादिरुत्तमगणोऽध्येतुर्यशोवृद्धये । उणादिकोष व्याख्या के अन्त में ।

इसी प्रकार संस्कारविधि तथा पत्रों और विज्ञापनों में भी उणादिगण शब्द का व्यवहार देखा जाता है ।

घ—हैमोणादिवृत्ति के हस्तलेख में—हैमोणादिवृत्ति के सम्पादक जोहन किर्स्टे ने अपनी भूमिका (पृष्ठ १) में एक हस्तलेख का अन्तिम पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है—

इत्याचार्यहेमचन्द्रकृतं स्वोपज्ञोणादिगणसूत्रविवरणं समाप्तम् ।

उपलभ्यमान प्राचीन उणादिसूत्र

इस समय जितने उणादिसूत्र उपलब्ध हैं, उनमें पञ्चपादी और दशपादी उणादिसूत्र प्राचीन हैं । इनमें भी पञ्चपादी उणादिसूत्र प्राचीनतर हैं, यह हम आगे यथा स्थान लिखेंगे ।

पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा पञ्चपादी और दशपादी दोनों प्रकार के ही उणादिसूत्र समादृत हैं । सिद्धान्तकौमुदी के रचयिता भट्टोजि दीक्षित ने पञ्चपादी

उणादिसूत्रों को अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है। प्रक्रियाकौमुदी के व्याख्याता विट्ठल ने अपनी व्याख्या में दशपादी उणादिसूत्रों की व्याख्या की है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक पाणिनीय वैयाकरणों ने दोनों प्रकार के उणादिसूत्रों पर वृत्ति ग्रन्थ लिखे हैं। इन दोनो में से कौन सा पाठ पाणिनीय हैं, इसकी विवेचना आगे पाणिनीय उणादिपाठ के प्रकरण में विस्तार से की जाएगी।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि प्रत्येक शब्दानुशासन के प्रवक्ता को धातुपाठ गणपाठ उणादिसूत्र और लिङ्गानुसान रूपी खिल पाठों का प्रवचन करना होता है। इस लिए प्रत्येक शब्दानुशासन के प्रवक्ता ने उणादिसूत्रों का खिल रूप से प्रवचन किया होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु सम्प्रति न तो पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरणों के उणादिपाठ ही उपलब्ध हैं और न उनके सम्बन्ध में कोई सूचना ही प्राप्त होती है। इसलिए जिन प्राचीन वैयाकरणों के उणादि-प्रवक्तृत्व में कुछ भी संकेत उपलब्ध होते हैं अथवा जिनके उणादिपाठ सम्प्रति उपलब्ध हैं, उनके विषय में आगे लिखा जाता है—

१—काशकृत्स्न (३१०० वि० पू०)

काशकृत्स्नप्रोक्त उणादिसूत्र उपलब्ध नहीं हैं। काशकृत्स्नप्रोक्त धातुपाठ की जो चन्नवीर कवि की टीका प्रकाश में आई है, उसके सम्पादक ने अपनी भूमिका में लिखा है कि चन्नवीर ने **पुरुषसूक्त** की भी कन्नड टीका लिखी है। उसके कतिपय पाठों को उद्धृत करते हुए पुरुषसूक्त व्याख्या के पृष्ठ १८ पर ब्राह्मये पद के साधुत्व प्रतिपादन के लिए निर्दिष्ट **बृहो ममन्मणिश्च** सूत्र उद्धृत किया है और अन्त में लिखा है कि यह बात काशकृत्स्न के **दशपादी** उणादि में कही गई है।

सम्पादक द्वारा उद्धृत सूत्र का पाठ कुछ भ्रष्ट है। चन्नवीर ने धातुपाठ की टीका में **बृहेर्न्ङ् रो मनि** सूत्र उद्धृत किया है (द्र० पृष्ठ ६७)। सम्भवतः यह पाठ भी मूल सूत्र का पाठ न होकर उसका एकदेश अथवा अर्थानुवाद हो।

सम्पादक महोदय ने काशकृत्स्न के जिस दशपादी उणादि का उल्लेख किया है उसका सङ्केत उन्हें कहां से प्राप्त हुआ, इसका उन्होंने कुछ भी संकेत नहीं किया। सम्प्रति उपलभ्यमान दशपादी उणादिसूत्र पञ्चपादी सूत्रों से उत्तरकालीन हैं, यह हम आगे लिखेंगे। अतः यदि काशकृत्स्न का उणादिपाठ दशपादी हो तब भी वह वर्तमान में उपलभ्यमान दशपादी पाठ नहीं है, इतना निश्चित है।

हमने धातुपाठ के प्रकरण में पृष्ठ २९ पर लिखा है कि आचार्य चन्द्र ने धातुपाठ के प्रवचन में काशकृत्स्न के धातुपाठ का अनुकरण किया है। यदि

चन्द्रगोमी ने अपने उणादिसूत्रों के प्रवचन में भी काशकृत्स्न उणादिसूत्रों का अनुकरण किया हो तो चान्द्र उणादिपाठ में तीन पादों का दर्शन होने से यह अनुमान किया जा सकता है कि काशकृत्स्न उणादिपाठ में भी तीन पाद ही रहे होंगे। वर्तमान में उपलभ्यमान पञ्चपादी उणादिसूत्रों के प्रवचन का मूल आधार कोई प्राचीन त्रिपादी उणादिसूत्र थे, यह हम आगे पञ्चपादी के प्रकरण में लिखेंगे।

काशकृत्स्न के उणादिपाठ के सम्बन्ध में हम केवल काशकृत्स्न धातुपाठ के सम्पादक डा० ए० एन० नरसिंहिया के निर्देश पर ही आश्रित हैं। इस सम्बन्ध में हमें कहीं अन्यत्र से कोई सूचना प्राप्त नहीं हुई।

२—शन्तनु (२९०० वि० पू०)

आफ्रेक्ट ने अपनी बृहद् हस्तलेखसूची में डा० कीलहार्न सम्पादित मध्य-प्रदेश-हस्तलेख-सूची (नागपुर) के आधार पर आचार्य शन्तनु के उणादिसूत्र के हस्तलेख का संकेत किया है।

शन्तनुप्रोक्त उणादिसूत्र की सूचना अन्य किसी भी स्थान से प्राप्त नहीं होती। सम्प्रति उपलभ्यमान शान्तनव फिट् सूत्र शान्तनव शब्दानुशासन का एक अंश है।[1] इसलिए शन्तनु ने अपने शब्दानुशासन से संबद्ध किसी उणादि-पाठ का प्रवचन भी किया हो, इस में सन्देह करने की कोई स्थिति नहीं।

३—आपिशलि (२९०० वि० पू०)

आचार्य आपिशलि ने अपने शब्दानुशासन के खिलरूप धातुपाठ और गणपाठ का प्रवचन किया था, यह हम अनेक प्रमाणों द्वारा तत्तत् प्रकरण में लिख चुके। आचार्य ने स्वव्याकरण से संबद्ध किसी उणादिपाठ का भी अवश्य प्रवचन किया होगा, इसमें सन्देह का कोई अवसर नहीं, पुनरपि आपिशल उणादिपाठ सम्बन्धी कोई साक्षात् वचन अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।

पञ्चपादी उणादिसूत्रों में धातु प्रत्यय तथा तत्सम्बन्धी जो अनुबन्ध उपलब्ध होते हैं उन से भी इस विषय में कोई प्रकाश नहीं पड़ता कि पञ्चपादी उणादि का संबन्ध किस शब्दानुशासन के साथ है, क्योंकि आपिशल धातु, प्रत्यय और तत्सम्बद्ध अनुबन्ध सभी प्रायः पाणिनीय धातु प्रत्यय और अनुबन्धों के साथ

---

१. इसके लिए देखिए इसी ग्रन्थ का 'फिट्सूत्र और उसके व्याख्याता' अध्याय।

समानता रखते हैं। हां, उणादिसूत्रों में एक ञमन्ताड्डः[1] सूत्र ऐसा है जिसके आधार पर कुछ अनुमान किया जा सकता है।

पाणिनीय प्रत्याहार सूत्र ञ म ङ ण नम् में जो वर्णानुपूर्वी है, उसे यदि ङ ञ ण न मम् इस वर्णक्रम से रखा जाए तब भी पाणिनीय शब्दानुशासन में इस क्रम परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसके साथ ही यदि आपिशलि के ञमङणनाः स्वस्थाना नासिकास्थानाश्च शिक्षासूत्र (१।२४) और पाणिनि के ङञणनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः शिक्षासूत्र (१।२४) के अनुनासिक वर्णों के पाठक्रम पर ध्यान दिया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्याहार सूत्र का ञ म ङ ण न वर्णक्रम आपिशल अभिप्रेत है और इसी कारण उसने अपनी शिक्षा में भी उसी क्रम को अपनाया हैं। इससे स्पष्ट है कि पाणिनीय प्रत्याहार सूत्र में आपिशल वर्ण क्रम को ही स्वीकार किया है, यह क्रम उसका अपना नहीं है।

आपिशलि ने प्रत्याहार सूत्र में वर्णक्रम का परित्याग कर करके ञ म ङ ण नम् यह क्रम क्यों अपनाया यदि इस पर विचार किया जाए तो मानना होगा कि उसे कहीं पर ञम् प्रत्याहार बनाना इष्ट रहा होगा। वह ञम् प्रत्याहार उणादि पाठ के ञमन्ताड्डः सूत्र में उपलब्ध होता है। यद्यपि ञमन्ताड्डः[1] सूत्र पञ्चपादी और दशपादी दोनों पाठों में समानरूप से पठित है, पुनरपि दशपादी पाठ का प्रवचन पञ्चपादी पाठ के आधार पर हुआ है (इसकी विस्तृत मीमांसा आगे की जाएगी) इसलिए पञ्चपादी पाठ मूल होने से प्राचीन है। हां, कई वैयाकरण पञ्चपादी उणादिपाठ को आचार्य पाणिनि का प्रवचन मानते हैं, परन्तु ञमङणनम् प्रत्याहारसूत्र ञमङणनाः स्वस्थाना० आपिशल शिक्षासूत्र और ञमन्ताड्डः उणादिसूत्र की तुलना से यही प्रतीत होता है। कि दशपादी पाठ का मूल आधार पञ्चपादी पाठ आचार्य आपिशलि द्वारा प्रोक्त है और दशपादी पाठ सम्भवतः आचार्य पाणिनि द्वारा परिष्कृत है।

यह हमारा अनुमान मात्र है, इसलिए यदि पञ्चपादी सूत्र आपिशलिप्रोक्त नहीं हों, तो निश्चय ही ये पाणिनि-प्रोक्त होंगे। अतः पञ्चपादी उणादिसूत्रों के वृत्तिकारों का वर्णन हम पाणिनि के प्रकरण में करेंगे।

४—पाणिनि (२८०० वि पू०)

आचार्य पाणिनि ने अपने पञ्चाङ्ग व्याकरण की पूर्ति के लिए तथा उणादयो बहुलम् (अष्टा० ३।३।१) सूत्र संकेतित उणादि प्रत्ययों के निदर्शन के लिए किसी उणादिपाठ का प्रवचन किया था, यह निश्चित है।

---

१. पञ्चपादी १।१०७॥ दशपादी ५॥ ७॥

हम पूर्व लिख चुके हैं कि पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा पञ्चपादी और दशपादी दोनों प्रकार के उणादिसूत्र समादृत हैं। इनमें से पाणिनि प्रोक्त कौन-सा है, इस की विवेचना करते हैं।

पञ्चपादी का प्रवक्ता

पञ्चपादी उणादिसूत्रों का प्रवक्ता कौन है, इस विषय में प्राचीन ग्रन्थों में दो मत उपलब्ध होते हैं। कतिपय अर्वाचीन वैयाकरण पूर्वनिर्दिष्ट महाभाष्य के **व्याकरणे शकटस्य च तोकम्** वचन के आधार पर पञ्चपादी उणादि-पाठ को शाकटायनप्रोक्त मानते हैं। यथा—

१. **उणादय इत्येव सूत्रमुणादीनां शास्त्रान्तरपठितानां साधुत्वज्ञापनार्थमस्त्विति भावः।** कैयट, प्रदीप ३।३।१॥

२—पञ्चपादी का वृत्तिकार श्वेतवनवासी लिखता है—

येयं शाकटायनादिभिः पञ्चपादी रचिता। पृष्ठ १,२।

३—नागेश भट्ट लिखता है—

एवं च कृवापेति उणादिसूत्राणि शाकटायनस्येति सूचितम्। प्रदीपोद्योत ३।३।१॥

४—वासुदेव दीक्षित सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या में लिखता है—

तानि चेमानि सूत्राणि शाकटायनमुनिप्रणीतानि, न तु पाणिनिना प्रणीतानि। बालमनोरमा भाग ४, पृष्ठ १३८ (लाहोर सं०)।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि उपर्युक्त ग्रन्थकार पञ्चपादी उणादि सूत्रों को शाकटायन प्रोक्त मानते हैं।

कतिपय प्राचीन ग्रन्थकार ऐसे भी हैं, जो पञ्चपादी उणादिसूत्रों को पाणिनीय मानते हैं। यथा—

१—प्रक्रियासर्वस्वकार नारायण भट्ट उणादि प्रकरण में लिखता है—

अकारं मुकुरस्यादौ उकारं दर्दुरस्य च।
बभाण पाणिनिस्तौ तु व्यत्ययेनाह भोजराट्॥

अर्थात्—पाणिनि 'मुकुर' शब्द के आदि में अकार (=मकुर) और 'दर्दुर' शब्द के आदि में उकार (=दुर्दुर) कहता है और भोजराट् इससे उलटा (=मुकुर-दर्दुर) मानता है।

नारायण भट्ट ने यह पंक्ति पञ्चपादी के **मकुरदुर्दुरौ** (१।४०; पृष्ठ १०) सूत्र की व्याख्या में लिखी है। इससे स्पष्ट है कि नारायण इस पाठ को पाणिनीय मानता है।

२—शिशुपालवध का रचयिता माघ कवि लिखता है—

निपातितसुहृत्स्वामिपितृव्यभ्रातृमातुलम्।
पाणिनीयमिवालोचि धीरैस्तत्समराजिरम्॥ १९।७५॥

इस श्लोक में सुहृत् स्वामी पितृव्य भ्रातृ मातुल शब्द पाणिनि द्वारा निपातित हैं, ऐसा संकेत किया है। इन शब्दों में 'भ्रातृ' शब्द उणादिसूत्रों में निपातित है। इससे स्पष्ट है कि माघ कवि किसी उणादिपाठ को पाणिनि-प्रोक्त मानता है। शिशुपालवध के प्राचीन टीकाकार वल्लभदेव ने जो उणादि-सूत्र उद्धृत किया है वह पञ्चपादी सूत्रों के कतिपय पाठों के अनुकूल है। वल्लभदेव की टीका का जो पाठ काशी से छपा है, वह पर्याप्त भ्रष्ट है। इस श्लोक की व्याख्या में 'भ्रातृ' शब्द के निपातन को बताने के लिए जो उणादि-सूत्र उद्धृत है उसमें 'भ्रातृ' शब्द का ही अभाव है।

३—पञ्चपादी उणादिसूत्रों के व्याख्याता स्वामी दयानन्द सरस्वती इन्हें पाणिनीय मानते हैं। यथा—

क—वह अष्टाध्यायी, धातुपाठ आदिगण (? उणादिगण) शिक्षा और प्रातिपदिकगण यह पाँच पुस्तक पाणिनि मुनिकृत.........।[1]

ख—पाणिनि मुनि रचित उणादि गणसूत्र प्रमाण—हनिकुषिनी-रमि.........।[2]

ग—पाणिनि बड़े विद्वान् वैयाकरण को गये।......इन महामुनि ने पांच पुस्तकें बनाईं—१ शिक्षा, २ उणादिगण, ३ धातुपाठ, ४ प्रातिपदिकगण, ५ अष्टाध्यायी।[3]

शाकटायन-प्रोक्त मानने में भ्रान्ति का कारण

कैयट, श्वेतवनवासी, नागेश भट्ट और वासुदेव प्रभृति वैयाकरणों का पञ्च-पादी उणादिसूत्रों को शाकटायन-प्रोक्त मानना भ्रान्तिमूलक है। इस भ्रान्ति का कारण महाभाष्य ३।३।१ का व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। वैया-करणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति वचन है।

१. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २० (द्वि० संस्क०)।
२. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २६ (द्वि० संस्क०)।
३. उपदेशमञ्जरी (पूना व्याख्यान) दसवां व्याख्यान, पृष्ठ १२०।

इस वचन में पतञ्जलि ने केवल इतना ही संकेत किया है कि वैयाकरणों में शाकटायन सम्पूर्ण नाम शब्दों को धातुज मानता है। इस संकेत से यह कैसे सूचित हो गया कि कृवापा आदि पञ्चपादी उणादिसूत्र शाकटायन प्रोक्त हैं, यह हमारी समझ में नहीं आता। भाष्यकार द्वारा संकेतित शाकटायन मत 'सम्पूर्ण नाम धातुज हैं' यास्कीय निरुक्त (१।१२) में भी स्मृत है।

दशपादी पाठ का प्रवक्ता

दशपादी पाठ का प्रवक्ता कौन है, यह अभी तक निश्चित रूप से अज्ञात है। प्रक्रियाकौमुदी के व्याख्याता विट्ठल ने उणादि प्रकरण में दशपादी उणादि-पाठ की व्याख्या की है, यह हम पूर्व लिख चुके। पाणिनीय व्याकरण का आश्रयण करने वाले कतिपय वैयाकरणों ने इस पर वृत्तियां भी लिखी हैं।[1] इसके अतिरिक्त इस के पाणिनीयत्व में निम्न हेतु भी उपस्थित किए जा सकते हैं—

१—महाभाष्यकार पञ्जलि ने हयवरट् प्रत्याहार सूत्र के भाष्य में एक प्राचीन सूत्र उद्धृत किया है—

जीवेरदानुक्[2]—जीरदानुः।

महाभाष्यकार द्वारा उद्धृत 'जीवेरदानुक्' सूत्र दशपादी पाठ में (१।१६३) ही उपलब्ध होता है, पञ्चपादी पाठ में नहीं है। इस सूत्र को काशिकाकार ने भी ६।१।६६ की वृत्ति में उद्धृत किया है।

२—पाणिनीय व्याकरण के अनेक व्याख्याताओं ने दशपादी सूत्रों को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। यथा—

क—वामन ने काशिकावृत्ति ६।२।४३ में यूप शब्द के लिए कुसुयुभ्यश्च

---

१. दशपादी पाठ की एक अज्ञात कर्तृक प्राचीन वृत्ति का हमने सम्पादन किया है। यह वृत्ति राजकीय संस्कृत महाविद्यालय (सं० वि० वि०) वाराणसी की सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला में छपी है। इसकी दूसरी वृत्ति हमारे पास हस्तलिखित रूप में विद्यमान है।

२. कहीं कहीं "जीवेरदानुः" पाठान्तर भी है। परन्तु महाभाष्य ६।१। ६६ के पाठ से विदित होता है कि 'जीवेरदानुक्' पाठ ही प्रामाणिक है। वहां 'जीव' धातु को 'ऊठ्' की प्राप्ति दर्शाई है। वह प्राप्ति प्रत्यय के कित् होने पर ही सम्भव है।

सूत्र उद्धृत किया है। यह पाठ दशपादी ७।५ में ही उपलब्ध होता है।[1] पञ्च-पादी में पाठभेद है।

ख—हरदत्त मिश्र ने काशिका ७।४।४८ में वर्तिक के **उषस्** शब्द की सिद्धि के लिए **वसेः कित्** सूत्र उद्धृत किया है।[2] यह पाठ दशपादी ९।९४ में ही मिलता है। पञ्चपादी में **उषः कित्** (४।२३९) पाठ है।

३. पाणिनीय धातुपाठ के व्याख्याता क्षीरस्वामी ने अपनी क्षीरतरङ्गिणी में जों उणादिसूत्र उद्धृत किए हैं, उनकी पञ्चपादी और दशपादी के पाठों की तुलना करने से विदित होता है कि क्षीरस्वामी उणादिसूत्रों के दशपादी पाठ को स्वीकार करता है। उसके दशपादी के पाठ भी हमारे द्वारा सम्पादित दशपादी के क-हस्तलेख के अनुकूल हैं।

४. पाणिनीय व्याकरण का आश्रयण करने वाले अनेक ग्रन्थकारों ने कतिपय ऐसे सूत्र उद्धृत किए हैं जो दशपादी में ही मिलते हैं यथा—

क. देवराज यज्वा ने 'शाखा' पद के निर्वचन प्रसङ्ग में निम्न सूत्र उद्धृत किया है—

वृक्षावयवाच्च। निघण्टुटीका २।५।१९, पृष्ठ १९८।

यह पाठ दशपादी के **वृक्षावयव आ च** (३।५६) का ही लेखकप्रमाद-जन्य पाठ है। अन्यत्र यह सूत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता।

ख—'नहुष' पद के व्याख्यान में देवराज लिखता है—

अकारान्तमिदं नाम केषुचित् कोशेषु, तदा 'ऋहनिभ्यामुषन्' इत्युषन् प्रत्ययः। निघण्टुटीका २।३।९, पृष्ठ १८०।

उणादिसूत्र का यह पाठ दशपादी ९।१३ में ही उपलब्ध होता है। पञ्च-पादी ४।७८ में **पृकलिभ्यामुषन्** पाठ है।

ग—अमरकोष के व्याख्याकार क्षीरस्वामी, सर्वानन्द, भानुजिदीक्षित प्रभृति ने 'अनड्वान्' पद के निर्वचन (अमर २।९।६०) में जो सूत्र उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है—

---

१. तुलना करो—दशपाद्यां तु 'कुसुयुभ्यश्च' इति पाठः। प्रौढमनोरमा पृष्ठ ७७५।

२. तुलना करो—दशपाद्यां तु 'वसेः कित्' इति पाठः। प्रौढमनोरमा पृष्ठ ८०५

अनसि वहेः क्विबनसो डश्च ।

यह सूत्र केवल दशपादी पाठ में ही उपलब्ध होता है । वहाँ इसका पाठ **वहेः क्विबनसो डश्च** (९।१०७) है । न्यास (भाग २, पृष्ठ २९८) तथा पदमञ्जरी (भाग २, पृष्ठ ५०३) में भी यह सूत्र उद्धृत है । वहाँ इसका पाठ **अनसि वहेः क्विब् डश्चानसः** है । अमरकोष की टीकाओं, न्यास तथा पदञ्जरी में उद्धृत पाठ सम्भव है अर्थानुवाद रूप हों । परन्तु इन पाठों का मूल दशपादी उणादिसूत्र ही है यह स्पष्ट है, क्योंकि यह सूत्र पञ्चपादी में किसी रूप में भी उपलब्ध नहीं होता ।

५. दशपादी पाठ में इकारान्त से औकारान्त पर्यन्त शब्दों के साधक सूत्रों का पाठ करके अकार विशिष्ट कान्त से लेकर हान्त शब्दों के साधक सूत्रों का पाठ मिलता है । यह अन्त्यवर्णानुसारी संकलन प्रकार पाणिनीय लिङ्गा-शासन में भी **कोपधः** (सूत्र ६०) **टोपधः** (सूत्र ६३) **णोपधः** (सूत्र ६६) **योपधः** (सूत्र ६९) आदि में उपलब्ध होता है ।

६—पाणिनि अष्टाध्यायी में जिन प्रत्ययों का धातुमात्र से विधान मानता है, वहां 'सर्वधातु' शब्द का निर्देश न करके केवल प्रत्ययमात्र का निर्देश करता है, यथा—

ण्वुल्तृचौ ।३।१।१३३।। **तृन्** ।३।२।१३५।।
लुङ् ।३।२।११०।। **वर्तमाने लट्** ।३।२।१२३।।

इसी प्रकार दशपादी उणादिपाठ में भी जो प्रत्यय धातुमात्र से इष्ट हैं उनमें केवल प्रत्यय मात्र का निर्देश मिलता है । यथा—

इन् ।१।४६।। **ष्ट्रन्** ।८।७९।।
असुन् ।९।४९।। **मनिन्** ।६।७३।।

पञ्चपादी के उज्ज्वलदत्त, भट्टोजि दीक्षित प्रभृति वैयाकरणों द्वारा समादृत पाठ में इन प्रत्ययों के प्रसङ्ग में सर्वत्र 'सर्वधातु' शब्द का निर्देश उपलब्ध होता है । यथा—

सर्वधातुभ्य इन् ।४।११७।।[1] **सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्** ।४।१५८।।[1]
सर्वधातुभ्योऽसुन् ।४।१८८।।[1] **सर्वधातुभ्यो मनिन्** ।४।१४४।।[1]

भट्टोजि दीक्षित ने उपर्युक्त पञ्चपादी सूत्रों की व्याख्या करते हुए सर्व-धातुभ्यः पद को प्रक्षिप्त तथा व्यर्थ कहा है ।[2]

---

१. यह सूत्र संख्या उज्ज्वलदत्तीय वृत्ति के कलकत्ता संस्करण के अनुसार है ।

२. द्रष्टव्य—प्रौढमनोरमा, पृष्ठ ७९६,८०० ।

उपर्युक्त प्रमाणों से प्रतीत होता है कि उपरि निर्दिष्ट ग्रन्थकार दशपादी पाठ को पाणिनीय मानते हैं।

दशपादी पाठ को पाणिनीय न मानने में एक युक्ति दी जा सकती है, वह यह है कि पाणिनि ने **उणादयो बहुलं** (३।३।१) सूत्र में उण् प्रत्यय के साथ आदि पद का संयोग किया है। दशपादी में **अनि** प्रत्यय प्रारम्भ में है, उण् प्रत्यय का निर्देश प्रथम पाद के अस्सीवें सूत्र में मिलता है। पञ्चपादी में उण् प्रत्यय प्रथम सूत्र में ही पठित है।

इस कथन का यह समाधान हो सकता है कि पाणिनि ने अपने कई सूत्रों में आदि पद को प्रकारवाची माना है। भगवान् पतञ्जलि ने भी **भूवादयो धातवः** (१।३।१) सूत्र में पक्षान्तर में **वा** पद के साथ संयोजित आदि पद को प्रकारवाची कहा है। ऐसी अवस्था में पूर्व आचार्यों के निर्देशानुसार **उणादयो बहुलम्** सूत्र पढ़ते हुए आदि पद को प्रकारवाची माना जा सकता है।

हमारा विचार

पञ्चपादी उणादिसूत्र पाणिनीय हैं, अथवा दशपादी उणादिसूत्र इस विषय में हमारा विचार इस प्रकार है—

हमने आपिशलि के प्रकरण में पञ्चपादी उणादिसूत्रों के आपिशलिप्रोक्त होने की सम्भावना में जो युक्ति उपस्थित की है, उसके अनुसार हमारा विचार है कि पञ्चपादी उणादिसूत्र आपिशलि-प्रोक्त हैं और दशपादी उणादिसूत्र पाणिनि-प्रोक्त।

वास्तविकता यह है कि पञ्चपादी और दशपादी दोनों उणादिपाठों के प्रवक्ता अनिर्ज्ञात हैं। पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा दोनों पाठों का आश्रयण करने से दोनों पाठों के अवान्तर पाठों तथा वृत्तिकारों का वर्णन हम यहीं करना उचित समझते हैं।

पञ्चपादी—उणादिपाठ

पञ्चपादी का मूल त्रिपादी—वर्तमान पञ्चपादी उणादिसूत्रों में दो शैली उपलब्ध होती है। एक शैली तो यह है कि पूर्व पाद के अन्त का और उत्तर पाद का आदि प्रत्यय भिन्न-भिन्न हैं। यथा—प्रथम पाद के अन्त में **कनिन्** प्रत्यय और द्वितीय पाद के आरम्भ में **ऐणु** प्रत्यय। इसी प्रकार चतुर्थ पाद के अन्त में **कनसि** प्रत्यय और पञ्चम पाद के आरम्भ में **डुतच्** प्रत्यय। दूसरी शैली

यह है कि पूर्वपाद के अन्त में वर्तमान प्रत्यय का ही उत्तर पाद के प्रथम सूत्र में संबन्ध रहता है। यथा—द्वितीय पाद के अन्त में श्रूयमाण ष्वरच् प्रत्यय का ही तृतीय पाद के प्रथम सूत्र में, तथा तृतीय पाद के अन्त में श्रूयमाण ई प्रत्यय का ही चतुर्थ पाद के प्रथम सूत्र में संबन्ध है।

प्राचीन ग्रन्थों में द्वितीय शैली ही देखी जाती है। निरुक्त में एक पाद के अन्तर्गत खण्ड विभागों में देखा जाता है कि उत्तर खण्ड में जिस बात का प्रतिपादन करना होता है उसका आरम्भ पूर्व खण्ड में ही कर दिया जाता है। यथा निरुक्त अ० १ खण्ड १ का अन्तिम पाठ है—

इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः।

द्वितीय खण्ड में इसी विषय में विवेचना की है। उसका आरम्भ होता है—

तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते युगपदुत्पन्नानाम् आदि वाक्य से।

यही शैली शतपथ में भी है। वहाँ भी एक ब्राह्मण अन्तर्गत कण्डिकाएँ पूर्व कण्डिका के अन्तिम और उत्तर कण्डिका के आदि पाठ से सुसंबद्ध हैं।

इस प्राचीन शैली के अनुसार यदि पञ्चपादी उणादिपाठ के पाद विभागों पर विचार किया जाए तो प्रतीत होगा कि इस पाठ के मूल पाठ में तीन ही पाद थे। पहला पाद वर्तमान द्वितीय पाद पर समाप्त होता था और द्वितीय पाद वर्तमान तृतीय पाद पर अर्थात् पूर्वपाठ के प्रथम पाद में वर्तमान के प्रथम-द्वितीय पाद थे, द्वितीय पाद में वर्तमान तृतीय पाद और तृतीय पाद में वर्तमान चतुर्थ-पञ्चम पाद।

पञ्चपादी के अवान्तर पाठ—पञ्चपादी उणादि की जितनी भी वृत्तियाँ सम्प्रति उपलब्ध हैं, उनके सूत्रपाठ में अनेक प्रकार की विषमताएँ हैं। किसी भी वृत्ति का सूत्रपाठ किसी भी दूसरी वृत्ति के सूत्रपाठ के साथ पूर्णतया नहीं मिलता। सूत्रों में न्यूनाधिकता और सूत्रगत पाठभेदों का बाहुल्य देखने में आता है। उनकी सूक्ष्मता से विवेचना करने पर ज्ञात होता है कि पञ्चपादि के मूलभूत कई पाठ हैं।

तीन प्रकार के मूल पाठ—हमारे विचार में अष्टाध्यायी तथा धातुपाठ के समान पञ्चपादी उणादिपाठ के भी तीन पाठ हैं—प्राच्य, औदीच्य और दाक्षिणात्य।

प्राच्य पाठ—उज्ज्वलदत्त, भट्टोजि दीक्षित, स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रभृति ने जिस पाठ पर अपनी वृत्तियाँ रची हैं, वह मूलतः प्राच्य पाठ है।

उणादि का यह पाठ अष्टाध्यायी और धातुपाठ के समान बृहत् पाठ है। धातु-मात्र से प्रत्यय विधायक सूत्र में **सर्वधातुभ्यः** अंश इसी पाठ में मिलता है।[1]

औदीच्य पाठ—किसी औदीच्य देशवासी वैयाकरण की पञ्चपादी पाठ पर वृत्ति उपलब्ध न होने से उसके वास्तविक स्वरूप का निर्धारण करना कठिन है। कश्मीर देशवासी क्षीरस्वामी ने अमरकोश की टीका और क्षीरतरङ्गिणी में जिन उणादिसूत्रों को उद्धृत किया है यदि वे दशपादी के न हों तो उनके आधार पर पञ्चपादी के औदीच्य पाठ की कल्पना की जा सकती है। धातुपाठ और अष्टाध्यायी के औदीच्य और दाक्षिणात्य पाठ की तुलना से इतना अवश्य जाना जाता है कि इन पाठों में स्वल्प ही अन्तर रहता है।

दाक्षिणात्य पाठ—श्वेतवनवासी तथा नारायण भट्ट प्रभृति ने जिस पञ्चपादी पाठ पर अपनी वृत्तियाँ लिखी हैं, वह दक्षिणात्य पाठ है, क्योंकि ये दोनों वैयाकरण दाक्षिणात्य थे। दाक्षिणात्य पाठ में औदीच्य पाठ में दर्शाया हुआ **सर्वधातुभ्यः** अंश उपलब्ध नहीं होता।

हाँ, इन् प्रत्यय विधायक सूत्र (४। १२६ श्वे०, १२८ ना०) में सर्वधातुभ्यः पद मिलता है। परन्तु इस में भी प्राच्य पाठ से कुछ वैलक्षण्य है। प्राच्य पाठ में **सर्वधातुभ्य इन्** पाठ है और दाक्षिणात्य में **इन् सर्वधातुभ्यः**। इस प्रकरण में एक बात और विवेचनीय है, वह है दोनों वृत्तियों में इन् सर्वधातुभ्यः सूत्र से आगे समानरूप से पठित **पचिपठिकाशिवाशिनन्दिभ्य इन्** सूत्र में पुनः **इन्** प्रत्यय का निर्देश। इस से प्रतीत होता है कि दाक्षिणात्य पाठ में इस प्रकरण में कुछ पाठ भ्रंश अवश्य हुआ है।

अब हम कालक्रमानुसार पञ्चपादी उणादिपाठ के व्याख्याकारों का वर्णन करते हैं—

पञ्चपादी के व्याख्याकार

१—भाष्यकार (अज्ञात काल)

उज्ज्वलदत्त ने अपनी उणादिवृत्ति में किसी अज्ञातनाम वैयाकरण द्वारा पञ्च-

---

१. वामन ने भी काशिका ७।२।९ में 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' पाठ उद्धृत किया है। काशिका वृत्ति अष्टाध्यायी के प्राच्य पाठ पर है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। अतः उसके द्वारा उणादि के प्राच्य पाठ का उद्धृत होना स्वाभाविक है।

पादी पाठ पर लिखे गये भाष्य नामक व्याख्या ग्रन्थ का दो स्थानों पर निर्देश किया है। यथा—

१—इगुपधात् किरिति प्रमादपाठः। स्वरे विशेषादिति भाष्यम्। ४।११९, पृष्ठ १७५।

२—इह इक इति वक्तव्ये 'अचः' इति वचनं सन्ध्यक्षरादप्याचार-क्विबन्ताद् यथा स्यादिति भाष्यम्। ४।१३८, पृष्ठ १८१।

इस ग्रन्थ वा ग्रन्थकार के विषय में हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

२—गोवर्धन (सं० १२०० से पूर्व)

गोवर्धन नाम के वैयाकरण ने उणादिसूत्रों पर एक वृत्ति लिखी थी। इस वृत्ति के उद्धरण सर्वानन्द कृत अमरटीकासर्वस्व, उज्ज्वलदत्त रचित उणादिवृत्ति, भट्टोजि दीक्षित लिखित प्रौढमनोरमा आदि अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं।

परिचय—गोवर्धन ने आर्यासप्तशती में अपना कुछ वर्णन किया है। तदनुसार इसके पिता का नाम नीलाम्बर अथवा संकर्षण था। इस के सहोदर का नाम बलभद्र और शिष्य का नाम उदयन था। यह वङ्गाल के राजा लक्ष्मण-सेन का सभ्य था।

गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणसेनस्य।

काल—आर्यासप्तशती तथा पूर्वनिर्दिष्ट श्लोक से स्पष्ट है कि गोवर्धन महाराज लक्ष्मणसेन का समकालिक है। लक्ष्मणसेन के काल के विषय में ऐतिहासिकों में मतभेद है। श्री पं० भगवद्दत्त जी ने वैदिक वाङ्मय के इतिहास के वेदों के भाष्यकार नामक भाग के पृष्ठ १०५ पर लक्ष्मणसेन का राज्यकाल वि० सं० १२२७—१२५७ माना है। कीथ के संस्कृत साहित्य के इतिहास (हिन्दी अनुवाद) के पृष्ठ २३० के टिप्पण में ई० सन् ११७५–१२०० अर्थात् वि० सं० १२३२–१२५७ लिखा है।

'संसार के संवत्' ग्रन्थ के लेखक जगनलाल गुप्त ने सेन संवत् के आरम्भ होने का जो विवरण प्रस्तुत किया है, तदनुसार

कोलब्रुक	के	मत	में	ई०	सन् ११०४,	वि० सं०	११६१
राजेन्द्रलाल	"	"	"	"	११०८,	"	११६५
कनिंघम	"	"	"	"	"	"	"

बुकानन के	मत	में	ई०	सन्	११०९	वि० सं०	११६६
कीलहार्न	"	"	"	"	११०९	"	११६६

विभिन्न लेखकों ने विभिन्न काल सेन-संवत् प्रारम्भ होने के माने हैं। इस लिए इस आधार पर गोवर्धन का काल निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। स्थूल रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि गोवर्धन का काल वि० सं० ११६१ से लेकर १२५७ के मध्य है।

ग्रन्थकारों का साक्ष्य—सर्वानन्द ने अमरकोष पर टीकासर्वस्व का प्रणयन वि० सं० १२१६ (शक १०८१) में किया था।[1] सर्वानन्द ने इस में पुरुषोत्तम-देव को नाम निर्देशपूर्वक उद्धृत किया है।[2] पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति में गोवर्धन को तात्कालिक वैयाकरणों में श्रेष्ठ कहा है।[3] इस से स्पष्ट है कि गोवर्धन पुरुषोत्तमदेव का समकालिक अथवा कुछ पूर्ववर्ती है। इस उद्धरण परम्परा से इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गोवर्धन ने उणादि-वृत्ति वि० सं० १२०० के लगभग अथवा उससे कुछ पूर्व लिखी होगी।

गोवर्धन का वैदुष्य—गोवर्धन का लक्ष्मणसेन के सभारत्नों में उल्लेख होना ही उसके विशिष्ट पाण्डित्य का द्योतक है। पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति १।४।८७ में **उपगोवर्धनं वैयाकरणाः** द्वारा गोवर्धन को तात्कालिक वैयाकरणों में श्रेष्ठ बताया हैं। सुभूतिचन्द्र ने (?) अमरटीका में गोवर्धन को **पारायण-परायण** कहा है।[4]

यतः गोवर्धन वंग प्रान्तीय है, अतः उसकी टीका पञ्चपादी के प्राच्य पाठ पर थी, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। यह वृत्ति सम्प्रति अनुपलब्ध है।

३—दामोदर (१२०० वि पू०)

वैयाकरण दामोदर ने उणादिपाठ पर कोई वृत्ति ग्रन्थ लिखा था। यह सुभूतिचन्द्र[5] (?) की अमरटीका के निम्न उद्धरण से व्यक्त होता है—

---

१. अमरटीकासर्वस्व १।४।२१॥

२. अमरटीकासर्वस्व, भाग २, पृष्ठ २७७।

३. उपगोवर्धनं वैयाकरणाः।

४. तत्रैव पारायणपरायणैर्गोवर्धन-दामोदर-पुरुषोत्तमादिभिः......... । हस्तलेख पृष्ठ १८। पूरा उद्धरण आगे दामोदर के प्रकरण में देखिए।

५. हमने अपनी कापी में आगे उद्ध्रियमाण उद्धरण के साथ 'सुभूति-

यत्तु दिद्याशीलः असिविधौ 'दिविभुजिभ्यां विश्वे' (तु० ४।२३७) इति पठित्वा 'विश्वे' इति सप्तम्या अलुकि दीव्यतेरसि विश्वेदेवाः इति सान्तमुदाजहार स तस्य विपर्यस्तदृशोर्दोषेण हस्तामर्णं, तत्रैव पारायण-परायणैर्गोवर्धन-दामोदर-पुरुषोत्तमादिभिः विदिभुजिभ्यां विश्वे इति वृत्तिं पठित्वा विश्वं वेत्ति विश्ववेदाः इति, 'आशुप्रुषीति' (१।१५१) कन्विधौ विश्वं जगत् विश्वेदेवा इत्युदाहृत्वात् । हस्तलेख पृष्ठ १८।[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि दामोदर ने उणादिपाठ पर कोई वृत्ति ग्रन्थ अवश्य रचा था।

दामोदर नाम के अनेक व्यक्ति संस्कृत वाङ्मय में प्रसिद्ध हैं। भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधराचार्य ने ५।१।१०० की व्याख्या में लिखा है—

तथा च इह मूर्धन्यान्त एव दामोदरसेनस्य शाब्दिकसिंहत्वात्।[2]

इस उल्लेख से विदित होता है कि इस उणादिवृत्तिकार का पूरा नाम दामोदरसेन था।

काल—उक्त अमरटीका का काल वि० सं० १५३१ है।[3] सृष्टिधर का काल भी विक्रम की १५ वीं शती है।[4] दामोदर को उज्ज्वलदत्त ने भी उणादि-वृत्ति में स्मरण किया है।[5] उणादिवृत्ति के आरम्भ में उपाध्यायसर्वस्व का भी निर्देश किया है।[6] सर्वानन्द के निर्देशानुसार उपाध्यायसर्वस्व दामोदर विरचित है।[7] सुभूतिचन्द्र (?) ने दामोदर का निर्देश गोवर्धन और पुरुषोत्तमदेव के

चन्द्र ? की अमरटीका' ऐसा प्रश्नात्मक चिह्न दे रखा है। अतः हमें इस नाम में सन्देह है।

१. यह प्रमाण हमने किसी त्रैमासिक जर्नल से लिया था, परन्तु उसका नाम और प्रकाशन काल लिखना प्रमादवश रह गया।

२. पुरुषोत्तम विरचित परिभाषावृत्ति आदि के उपोद्घात में पृष्ठ २१ पर दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य द्वारा उद्धृत।

३. सेनानीवदनग्रहाग्निविधुभिः (१३९६) शाके मिते हायने, शुक्रे मास्य-सिते दिनाधिपतितिथौ सौरेऽह्नि मध्यन्दिने।

४. सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ३५० (प्र० सं०)।

५. तथा च वाहो विश्वभुजयोः पुमान् इति दामोदरः। पृष्ठ १४।

६. उपाध्यायस्य सर्वस्वम्...। द्वितीय श्लोक।

७. एतच्चोपाध्यायसर्वस्वे दामोदरेणोक्तम्। भाग २, पृष्ठ १९७।

मध्य में किया है। इससे स्पष्ट है कि वह इनका समकालिक है।

एक दामोदरसेन आयुर्वेद का प्रसिद्ध विद्वान् है। उसका काल विक्रम की १२ वीं शती माना जाता है। हमारे विचार में यही दामोदरसेन उपाध्याय-सर्वस्व और उणादिवृत्ति का रचयिता है। अतः दामोदर का काल निश्चय ही वि० सं० १२०० के लगभग अथवा उससे कुछ पूर्व है।

दामोदर वंगवासी है। अतः उसकी उणादिवृत्ति प्राच्य पाठ पर थी, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

४—पुरुषोत्तमदेव (सं० १२००)

पुरुषोत्तमदेव ने उणादिपाठ पर एक वृत्ति लिखी थी। उज्ज्वलदत्त ने इस वृत्ति के अनेक उद्धरण अपनी उणादिवृत्ति में देववृत्ति के नाम से उद्धृत किए हैं।[1] शरणदेव ने दुर्घटवृत्ति में स्पष्ट रूप से पुरुषोत्तमदेव के नाम से उसकी उणादिवृत्ति की ओर संकेत किया है।[2]

पुरुषोत्तमदेव के काल के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ २८७–२८८ (प्र० सं०) पर विस्तार से लिख चुके हैं। इस विषय में पाठक वहीं देखें। वाचस्पति गैरेला ने अपने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ में पृष्ठ ७८१ पर पुरुषोत्तमदेव का काल ७ वीं शती ई० लिखा है, वह सर्वथा चिन्त्य है।

५—सूतीवृत्तिकार (सं० १२००)

उज्ज्वलदत्त ने उणादिसूत्र ३।१४० की वृत्ति में लिखा है—

सूत्रमिदं सूतीवृत्तौ देववृत्तौ च न दृश्यते। पृष्ठ १३८।

अर्थात्—सूतीवृत्ति और देव (पुरुषोत्तमदेव) की वृत्ति में दीङो नुट् च सूत्र नहीं है।

यहाँ पञ्चपादी सूत्र के विषय में और वह भी पञ्चपादी वृत्तिकार पुरुषोत्तम-देव की देववृत्ति के साथ निर्दिष्ट होने से उज्ज्वलदत्त द्वारा निर्दिष्ट सूतीवृत्ति पञ्चपादी पाठ पर ही थी, यह निश्चित है।

---

१. पृष्ठ १२८, १३२, १३८, २१७; कलकत्ता संस्क०।

२. पुरुषोत्तमदेवस्तु 'ग्लाज्याहाभ्यः' (तु० उ० ४।५१) इत्यत्र म्लैधातु-मपि पठति।

इस वृत्ति और इसके लेखक के विषय में इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

६—उज्ज्वलदत्त (१३ वीं शती का आरम्भ)

उज्ज्वलदत्त ने पञ्चपादी उणादिपाठ पर एक विस्तृत वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति सम्प्रति उपलब्ध है। थोडेर आफ्रेक्ट ने इस वृत्ति का प्रथमतः सम्पादन किया था।

परिचय—उज्ज्वलदत्त ने अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया। अतः उसका वंश, देश, काल आदि सब अज्ञात है। हाँ, वृत्ति के प्रत्येक पाद के अन्त में जो पाठ उपलब्ध होता है, उससे विदित होता है कि उज्ज्वलदत्त का अपर नाम जाजलि था।[1]

देश—यद्यपि उज्ज्वलदत्त ने अपने निवास स्थान का उल्लेख नहीं किया, तथापि उसकी उणादिवृत्ति के एक पाठ से ज्ञात होता है कि वह बंगाल का निवासी था। वह इस प्रकार है—

उज्ज्वल ने **वलेर्गुक् च** (१।२०) सूत्र की व्याख्या में वकारादि वल्गु शब्द को बकारादि समझकर **वल संवरणे** धातु के स्थान पर बकारादि बल प्राणने धातु का निर्देश करके **बकारादि बल्गु** शब्द की निष्पत्ति दर्शाई है। यह भूल[2] वकार बकार के समान उच्चारण के कारण हुई है। बकार वकार का समान-उच्चारण-दोष बंगवासियों में चिरकाल से चला आरहा है।

काल—उज्ज्वल का काल अत्यन्त सन्दिग्ध है। साम्प्रतिक ऐतिहासिक विद्वान् इसका काल प्रायः ईसा की १३ वीं १४ वीं शती मानते हैं।[3] हमारे विचार में उज्ज्वल का काल विक्रम की १३ वीं शती के पूर्वार्ध से उत्तरवर्ती किसी प्रकार नहीं है। अतः हम उज्ज्वल के काल-निर्णायक सभी प्रमाण नीचे संगृहीत करते हैं—

---

१. इति महामहोपाध्यायजाजलीत्यपरनामधेयश्रीमदुज्ज्वलदत्तविरचितायामुणादिवृत्तौ प्रथमः पादः।

२. यत्तु उज्ज्वलदत्तेन सूत्रे पवर्गादिं पठित्वा बल प्राणन इत्युपन्यस्तं तल्लक्ष्यविरोधादुपेक्ष्यम्। अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे (ऋ० १०।६२।४) इत्यादौ दन्तोष्ठ्यपाठस्य निर्विवादत्वात्। प्रौढमनोरमा, पृष्ठ ७४९।

३. पुरुषोत्तमदेव भाषावृत्ति, भूमिका, पृष्ठ २० में दिनेशचन्द्र।

१—सायण ने माधवीया धातुवृत्ति में उज्ज्वलदत्त का नामनिर्देश पूर्वक उल्लेख किया है।[1] सायण का काल वि० सं०१३७२–१४४४ निश्चित है।

२—उज्ज्वलदत्त ने उणादिवृत्ति १।१०१ में मेदिनी कोष के रचयिता मेदिनीकर का नामोल्लेख पूर्वक निर्देश किया है। मेदिनी कोष का काल विक्रम की १४ वीं शती माना जाता है।[2] अतः उससे यह उत्तरवर्त्ती है।

मेदिनी कोष का काल—वस्तुतः उज्ज्वलदत्त का काल मेदिनी कोष के काल पर प्रधान रूप से अवलम्बित है, अतः हम उसके काल का निर्णय करते हैं।

क—सं० १४०० के समीपवर्ती पद्मनाभदत्त ने भूरिप्रयोग कोष में मेदिनी कोष का उल्लेख किया है।[3]

ख—मल्लिनाथ ने माघ काव्य के २।६५ की टीका में इनः पत्यौ नृपार्कयोः इति मेदिनी' पाठ उद्धृत किया है। ऐतिहासिक मल्लिनाथ का काल विक्रम की चौदहवीं शती मानते हैं।[4] यह चिन्त्य है। हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि में पृष्ठ १५४ पर मल्लिनाथ कृत तन्त्रोद्योत अपर नाम न्यासोद्योत को उद्धृत किया है।[5] हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि का लेखन काल वि० सं० १२६४ है।[6] अतः मल्लिनाथ का काल सं० १२५० के लगभग होगा और मेदिनी कोष का काल उससे भी पूर्व मानना पड़ेगा।

ग—कल्पद्रुम कोष की भूमिका में मंख की टीका में मेदिनी के उल्लेख का निर्देश है।[7] मंख का काल विक्रम की १२ वीं शती का उत्तरार्ध है। 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' के लेखक पं० सीताराम जयराम जोशी ने लिखा है कि कल्पद्रुम कोष को भूमिका में निर्दिष्ट—

---

१. ऋज्रेन्द्राग्र (उ० २।२८) इति सूत्रे वर्णशब्दस्य पाठोऽनार्षः 'कृवृजृसिद्रुपन्यमिस्वपिभ्यो नित्' (उ० ३।१०) इति नप्रत्ययेन सिद्धत्वादित्युज्ज्वलदत्तः। धातुवृत्ति, पृष्ठ ३१६। द्रष्टव्य उज्ज्वलदत्तीय उणादिवृत्ति २।२८, पृष्ठ ७३।

२. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ ५५१–५५२ (ई० १४ वीं शतक पूर्व)

३. वही, पृष्ठ ५५२। ४. वही, पृष्ठ ५५२ (ई० १३५०)।

५. तन्त्रोद्योतस्तु शतहायनशब्दस्य कालवाचकत्वाभावे......।

६. संवत् १२६४ वर्षे श्रावण शुदि ३ रवौ श्रीजयानन्दसूरिशिष्येणाऽमरचन्द्रेणाऽऽत्मयोग्याऽवचूर्णिकायाः प्रथम पुस्तिका लिखिता। पृष्ठ २०७।

७. सं० सा० का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ ५५२।

कमिति प्रकृत्य मस्तके च सुखेऽपि चेति अव्ययप्रकरणे मेदिनिः। वचन मेदिनी कोष में उपलब्ध नहीं होता।[1] अतः प्रमाण सन्दिग्ध है। हमारे विचार में पं० सीताराम का कथन युक्त नहीं है। उक्त उद्धरण में **अव्यय-प्रकरणे** स्पष्ट लिखा है। मेदिनी कोष में अव्यय प्रकरण है ही नहीं। अतः मंख ने उक्त उद्धरण मेदिनीकर के किसी अन्य ग्रन्थ से लिया है, यह स्पष्ट है।

इस प्रकार मेदिनीकर का काल विक्रम की १२ वीं शती के उत्तरार्ध से पूर्व निर्धारित होता है। इसलिए मेदिनी का निर्देश होने मात्र से उज्ज्वल का काल १४ वीं शती अथवा उससे पश्चात् नहीं माना जा सकता।

३—उज्ज्वलदत्त उणादिवृत्ति में दो स्थानों पर **दुर्घटे रक्षितः** (१।५७; ३।१६०) लिख कर दुर्घटवृत्ति का निर्देश करता है। शरणदेव ने दुर्घटवृत्ति सं० १२२९ में लिखी थी। अतः उज्ज्वल का समय सं० १२२९ से उत्तरवर्ती होना चाहिए।

वस्तुतः यह हेतु भी अशुद्ध है। उज्ज्वलदत्त द्वारा उद्धृत दोनों दुर्घट-पाठ शरणदेव रचित तथा सर्वरक्षित द्वारा संस्कृत दुर्घटवृत्ति में उपलब्ध नहीं होते। उज्ज्वलदत्त ने अपनी टीका में बहुत मैत्रेयरक्षित के पाठ **रक्षित** नाम से उद्धृत किए हैं। अतः **दुर्घटे रक्षितः** वाले पाठ भी मैत्रेयरक्षित के हैं, शरणदेव विरचित दुर्घटवृत्ति के संस्कर्ता सर्वरक्षित के नहीं हैं। इसलिए इन उद्धरणों के आधार पर उज्ज्वल को सं० १२२९ से उत्तरवर्ती नहीं माना जा सकता।

हमारे विचार में उज्ज्वलदत्त का काल वि० सं० १२०० से उत्तरवर्ती नहीं हो सकता। इसमें एक हेतु यह भी है कि सर्वानन्द द्वारा वि० सं० १२१६ में विरचित अमरटीकासर्वस्व में विना नाम निर्देश के उज्ज्वलदत्तीय उणादिवृत्ति स्मृत है। दोनों के पाठ इस प्रकार हैं—

टीकासर्वस्व—प्रज्ञाद्यणि चाण्डाल इत्युणादिवृत्तिः। २।१०।१९॥
उज्ज्वल-उणादिवृत्ति—प्रज्ञादित्वादणि चाण्डाल इत्यपि। १।११६॥

वस्तुतः उज्ज्वलदत्त की उणादिवृत्ति में पुरुषोत्तमदेव से अर्वाक्कालिक कोई भी ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकार उद्धृत नहीं है। इसलिए उज्ज्वलदत्त ने उणादिवृत्ति का प्रणयन पुरुषोत्तमदेव के ग्रन्थप्रणयन और टीकासर्वस्व लेखन के मध्य किया है। इसलिए उज्ज्वलदत्त की उणादिवृत्ति का काल सामान्यतया वि० सं० १२०० के आस-पास ही मानना युक्त है।

---

१. सं० सा० का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ ५५२।

७—दिद्याशील (वि० सं० १२५० के लगभग)

हमने दामोदर विरचित उणादिवृत्ति के प्रसङ्ग में अमरटीका का जो पाठ उद्धृत किया है, उसके

यत्तु दिद्याशीलः असिविधौ 'दिविभुजिभ्यां विश्वे' इति पठित्वा विश्वे इति सप्तम्या अलुकि दीव्यतेरसि विश्वेदेवाः इति सान्तमुदाजहार......।

पाठ से प्रतीत होता है कि किसी दिद्याशील नाम के वैयाकरण ने उणादि-सूत्रों पर कोई वृत्तिग्रन्थ लिखा था।

काल—जिस अमरटीका में यह पाठ उद्धृत है, उसका काल वि० सं० १५३१ है, यह हम पूर्व कह चुके। इसलिए दिद्याशील वि० सं १५०० से पूर्ववर्ती है इतना निश्चित है। परन्तु हमारा विचार है कि दिद्याशील का काल वि० सं० १२५० के लगभग होगा।

८—श्वेतवनवासी (वि० १३ वीं शती)

श्वेतवनवासी नाम के वैयाकरण ने पञ्चपादी उणादिपाठ पर एक उत्कृष्ट वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति मद्रासविश्वविद्यालय संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुकी है।

परिचय—श्वेतवनवासी के पिता का नाम आर्यभट्ट था। यह धर्मशास्त्र में पारङ्गत था और गार्ग्य गोत्र का था। श्वेतवनवासी इन्दुग्राम समीपवर्ती अग्रहार (=ब्राह्मण-वसति)[1] का निवासी था। इस के पूर्वज उत्तर मेरु में रहते थे। इन सब बातों का संकेत श्वेतवनवासी ने स्वयं किया है। वह लिखता है—

इतीन्दुग्रामसमीपवर्त्यग्रहारवास्तव्येन उत्तरमेर्वभिजनेन[2] धर्मशास्त्र-पारगार्यभट्टसूनुना गार्ग्येण श्वेतवनवासिना विरचितायामुणादिवृत्तौ प्रथमः पादः।

इन्दु ग्राम की स्थिति अज्ञात है। इस वृत्ति के सम्पादक टी० आर० चिन्तामणिने उत्तर मेरु नामक ग्राम की स्थिति मद्रास प्रान्त के चंगलपट

---

१. मद्रास प्रान्त में 'अग्रहार' शब्द ब्राह्मण-वसति के लिए प्रयुक्त होता है।

२. अभिजन उस स्थान को कहते हैं जहां पूर्वजों ने निवास किया हो। अभिजनो नाम यत्र पूर्वैरुषितम्। महा० ४।३।९०॥

नामक जिले में बताई है।[१] इस वृत्ति के हस्तलेख मलावार प्रान्त से उपलब्ध हुए हैं। सम्भव है इन्दु ग्राम मलावर प्रान्त में रहा हो।[१]

काल— श्वेतवनवासी का काल अज्ञात है। इस वृत्ति के सम्पादक ने श्वेतवनवासी का काल विक्रम की ११ वीं शती से लेकर १७ वीं शती के मध्य सामान्य रूप से माना है।[२] हम इस के काल पर विशेष रूप से विचार करते है—

१—सं० १६१७ से १७३३ तक विद्यमान नारायणभट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व के उणादि प्रकरण में श्वेतवनवासी की उणादिवृत्ति को नाम निर्देश के विना बहुधा उद्धृत किया है। इस से स्पष्ट है कि श्वेतवनवासी विक्रम की १७ वीं शती से पूर्ववर्ती है। यह श्वेतवनवासी की उत्तर सीमा है।

२—श्वेतवनवासी ने अपनी व्याख्या में जिन ग्रन्थकारों को उद्धृत किया है, उन में कैयट और भट्ट हलायुध का नाम भी है। भट्ट हलायुध ने अभिधान-रत्नमाला कोष लिखा था। इसी के उद्धरण श्वेतवनवासी ने पृष्ठ १२७ तथा २१४ दिए हैं। भट्ट हलायुध का काल ईसा की १० वीं शती माना जाता है। कीथ ने अभिधानरत्नमाला का काल सन् ९५० माना है।[३] तदनुसार विक्रम सं० १००० से आस-पास हलायुध का काल है। श्वेतवनवासी ने कैयट का निर्देश पृष्ठ ६९, १९८ तथा २०४ पर किया है। कैयट का काल सामान्यतया वि० सं० ११०० से पूर्व है। यह श्वेतवनवासी की पूर्व सीमा है।

३. सायण ने धातुवृत्ति में एक पाठ उद्धृत किया है—

कुटादित्वात् ङित्त्वादेव कित्त्वफले सिद्धे किद्वचनं तस्यानित्यत्व-ज्ञापनार्थम्, तेन धुवतेरित्रप्रत्यये धवित्रमिति गुणो भवतीत्याहुः। पृष्ठ ३३४।

यह पाठ श्वेतवनवासी के निम्न पाठ से मिलता है—

कुटादित्वान्ङित्त्वेनैव गुणाभावे सिद्धे तस्यानित्यत्वज्ञापनार्थं पुनः कित्त्वविधानम्, तेन धवित्रमित्यत्र गुणो भवति। पृष्ठ १५७।

इन पाठों की तुलना से विदित होता है कि सायण श्वेतवनवासी के उणादि-

---

१. श्वे० उ० वृत्ति भूमिका, पृष्ठ १०।
२. श्वे० उ० वृत्ति भूमिका, पृष्ठ ११।
३. कीथ कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ४९०।

वृत्ति के पाठ को ही नाम का निर्देश न करते हुए स्वल्प परिवर्तन से उद्धृत कर रहा है। इस लिए श्वेतवनवासी धातुवृत्ति के रचना काल (सं० १४१५ —१४२०) से पूर्ववर्ती है।

४— सर्वानन्द ने अमरटीकासर्वस्व में लिखा है—

केचित्तु आतिदेशिकङित्त्वस्यानित्यत्वाद् गुण एव, नोवङ इति मन्यन्ते। भाग ३, पृष्ठ २०।

सर्वानन्द की इस पंक्ति का भाव श्वेतवनवासी की पूर्व उद्धृत पंक्ति से सर्वथा अभिन्न है। इसलिए यदि सर्वानन्द ने यह पंक्ति श्वेतवनवासी की उणादि-वृत्ति के आधार पर लिखी हो तो श्वेतवनवासी को वि० सं० १२१६ से पूर्ववर्ती मानना होगा।

६—श्वेतवनवासी जहाँ भी डुधाञ् धातु के अर्थ का निर्देश करता है वहां प्रायः दानधारणयोः पाठ लिखता है। क्षीरस्वामी देवराज यज्वा स्कन्द-स्वामी दशपादीवृत्तिकार आदि प्राचीन ग्रन्थकार डुधाञ् का दानधारणयोः अर्थ ही पढ़ते हैं।[1] निरुक्तकारने भी रत्नधातमम् पद का अर्थ रमणीयानां धनानां दातृतमम् ही किया है।[2] (सायण ने धारणपोषणयोः अर्थ लिखा है) इस प्रकार प्राचीन अर्थ का निर्देश करने वाले व्यक्ति को भी १३०० शती से प्राचीन ही मानना युक्त है।

इन सब हेतुओं के आधार पर हमारा विचार है कि श्वेतवनवासी का काल विक्रम की बारहवीं शताब्दी है। परन्तु १३ वीं शती से अर्वाचीन तो उसे किसी प्रकार नहीं मान सकते, यह स्पष्ट है।

श्वेतवनवासी की वृत्ति उणादिसूत्र के दाक्षिणात्य पाठ पर है।

९—भट्टोजि दीक्षित (सं० १५१९–१५७१)

भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी के अन्तर्गत उणादिसूत्रों की संक्षिप्त व्याख्या की है। यह व्याख्या प्राच्य पाठ पर है।

भट्टोजि दीक्षित के देश काल आदि के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ३५१-३५३ (प्र० सं०) तक विस्तार से लिख चुके हैं।

---

१. क्षीरस्वामी-क्षीरतरङ्गिणी ३।१०; देवराजयज्वा निघण्टुटीका पृष्ठ १२९; स्कन्द ऋग्भाष्य १।१।१॥ २. निरुक्त ७।१५॥

टीकाकार

यतः भट्टोजि दीक्षित की उणादिव्याख्या सिद्धान्तकौमुदी का एक देश है, इसलिए जिन विद्वानों ने सिद्धान्तकौमुदी पर टीका ग्रन्थ लिखे उन्होंने प्रसङ्ग प्राप्त उणादि-व्याख्या पर भी टीकाएँ कीं। हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में सिद्धान्तकौमुदी के निम्न टीकाकारों का उल्लेख किया है—

१—भट्टोजि दीक्षित	१२—तोप्पल दीक्षित (प्रकाश)
२—ज्ञानेन्द्र सरस्वती	१३—अज्ञात कर्तृक (लघुमनोरमा)
३—नीलकण्ठ वाजपेयी	१४— ,, ,, (शब्दसागर)
४—रामानन्द	१५— ,, ,, (शब्दरसार्णव)
५—नागेश भट्ट	१६— ,, ,, (सुधाञ्जन)
६—रामकृष्ण	१७—लक्ष्मीनृसिंह
७—रङ्गनाथ यज्वा	१८—शिवरामचन्द्र सरस्वती
८—वासुदेव वाजपेयी	१९—इन्द्रदत्तोपाध्याय
९—कृष्णमित्र	२०—सारस्वत व्यूढ़मिश्र
१०—रामचन्द्र	२१—वल्लभ
११—तिरुमल द्वादशाहयाजी	

इन सब टीकाकारों के देश-काल आदि के परिचय के लिए इस ग्रन्थ का प्रथम भाग पृष्ठ ३८६–३९१ (प्र० सं०) देखें।

इनके अतिरिक्त जिन लेखकों ने दीक्षितकृत प्रौढमनोरमा, नागेश के लघुशब्देन्दुशेखर बृहत्शब्देन्दुशेखर आदि पर टीकाग्रन्थ लिखे, उन्होंने भी प्रसंगतः उणादि भाग पर कुछ न कुछ लिखा ही है। विस्तरभिया हमने उनका निर्देश नहीं किया।

इन सभी टीकाओं का प्रधान आश्रय भट्टोजि दीक्षित विरचित प्रौढमनोरमा है। उणादिसूत्रों की व्याख्या तथा पाठ आदि के लिए प्रौढमनोरमा देखने योग्य हैं।

१०—नारायण भट्ट (सं०१६१७–१७३३के मध्य)

नारायण भट्ट ने पाणिनीय व्याकरण पर प्रक्रियाकौमुदी नाम का एक ग्रन्थ लिखा है। उस के कृदन्त प्रकरण में उणादिसूत्रों पर भी संक्षिप्त वृत्ति लिखी

है । इस वृत्ति में नारायण भट्ट ने स्थान-स्थान पर भोजदेव द्वारा विवृत औणादिक शब्दों का भी संग्रह किया है। यही इस की विशेषता है । यह वृत्ति उणादि के दक्षिणात्य पाठ पर है ।

नारायण भट्ट के देश काल आदि के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ३९२-३९३ (प्र० सं०) पर लिख चुके है ।

टीकाकार

नारायण भट्ट के प्रक्रियासर्वस्व पर जिन विद्वानों ने टीकाएँ लिखीं उन्होंने प्रसङ्ग प्राप्त उणादिवृत्ति की भी टीकाएँ कीं । प्रक्रियासर्वस्व पर लिखी गई तीन टीकाओं का निर्देश हमने इस के प्रथम भाग पृष्ठ ३९४ (प्र० सं०) पर किया है ।

११—महादेव वेदान्ती (सं० १७२०–१७७०)

सांख्य दर्शन के वृत्तिकार महादेव वेदान्ती ने उणादिसूत्रों पर एक लम्बी वृत्ति लिखी है । हमने इस का एक हस्तलेख पहले पहल सरस्वती भवन वाराणसी के संग्रह में सं० १९९० में देखा था ।[1] अब यह वृत्ति अडियार (मद्रास) से प्रकाशित हो चुकी है ।

परिचय—महादेव वेदान्ती का उल्लेख वेदान्ती महादेव, महादेव सरस्वती वेदान्ती के नाम से भी मिलता है । इस के गुरु का नाम स्वयंप्रकाश सरस्वती है ।[2] महादेव वेदान्ती ने अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ में स्वयंप्रकाशानन्द सरस्वती नाम लिखा है ।[3] तत्त्वचन्द्रिका में सच्चिदानन्द सरस्वती नाम मिलता है ।

काल—महादेव वेदान्ती के काल के सम्बन्ध में मत भेद है । रिचॅर्ड गार्बे ने अनिरुद्ध वृत्ति के उपोद्घात में महादेव वेदान्ती का काल १६०० ई० (वि० सं० १६५७) माना है । 'सांख्यदर्शन का इतिहास' के मनस्वी लेखक श्री उदयवीरजी शास्त्री ने महादेव वेदान्ती की सांख्यवृत्ति का अनिरुद्धवृत्ति और

---

१. इस का उल्लेख हमने स्वसम्पादित दशपादी वृत्ति के उपोद्घात पृष्ठ २१ पर किया है।

२. श्रीमत्स्वयंप्रकाशाङ्घ्रिलब्धवेदान्तिसत्पदः । विष्णुसहस्रनामव्याख्या ।

३. इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमत्स्वयंप्रकाशानन्दसरस्वतीमुनिवर्यचूडामणिविरचिते तत्त्वानुसंधानव्याख्याने अद्वैतचिन्ताकौस्तुभे चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तः ।

विज्ञानभिक्षु के भाष्य के साथ तुलना करके महादेव वेदान्ती को अनिरुद्ध से उत्तरवर्ती और विज्ञानभिक्षु से पूर्ववर्ती अर्थात् १३ वीं शती में माना है।[1]

महादेव वेदान्ती ने विष्णुसहस्र नाम की एक टीका लिखी है। उसमें टीका-लिखने का काल इस प्रकार उल्लिखित है—

खबाणमुनिभूमाने वत्सरे श्रीमुखाभिधे।
मार्गासिततृतीयायां नगरे ताप्यलंकृते॥

इस श्लोक के अनुसार विष्णुसहस्रनाम की व्याख्या का काल सं० १७५० है।

इस निश्चित काल के परिज्ञात हो जाने पर श्री शास्त्रीजी का लेख ठीक प्रतीत नहीं होता।

हमारे मित्र पं० रामअवध पाण्डेय (वाराणसी) का विचार है कि महादेव वेदान्ती के उणादिकोश पर पेरुसूरि के औणादिकपदार्णव का प्रभाव है। दोनों के ग्रन्थों की १०% दश प्रतिशत से अधिक पंक्तियाँ मिलती हैं। सिन (पं० उ० ३।२) शब्द के अर्थ में महादेव ने पेरुसूरि की केवल एक पंक्ति (श्लोकार्ध) को उद्धृत किया और आर्या को पूरा भी नहीं किया। इसलिए महादेव वेदान्ती पेरुसूरि से उत्तरवर्ती है।

महादेव वेदान्ती का काल उसकी विष्णुसहस्रनाम की टीका से प्रायः निश्चित है। इसी प्रकार पेरुसूरि का काल भी प्रायः निश्चित है। पेरुसूरि ने अपने गुरु का नाम वासुदेव अध्वरी लिखा है। वासुदेव अध्वरी ने तुक्कोजी के राज्य-काल में बालमनोरमा व्याख्या लिखी है। यह वासुदेव अध्वरी चोल (तंजोर) के भोसलवंशीय शाहजी, शरभजी, तुक्कोजी नामक तीन राजाओं के मन्त्री सार्वभौम आनन्दराय का अध्वर्यु था। इन तीनों का राज्यकाल सं० १७४४-१७९३ तक माना जाता है। अतः वासुदेव अध्वरी का काल सामान्यतः सं० १७५०-१८०० तक माना जा सकता है। पेरुसूरि वासुदेव अध्वरी का शिष्य है। अतः इसका काल सं० १७५० से उत्तरवर्ती होगा। ऐसी अवस्था में हमें महादेव वेदान्ती को पेरुसूरि का पूर्ववर्ती मानना अधिक उचित जंचता है, और महादेव वेदान्ती के उणादिकोश का प्रभाव पेरुसूरी के औणादिकपदार्णव पर मानना पड़ता है।

---

१. सांख्य दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ३१३–३१६।

उणादिवृत्ति का नाम—महादेव की उणादिवृत्ति का नाम निजविनोदा है। वह लिखता है—

इत्युणादिकोशे निजविनोदाभिधेये वेदान्तिमहादेवविरचिते पञ्चमः पादः सम्पूर्णः।

हमने महादेव वेदान्ती के विषय में जो कुछ लिखा है, वह अधिकांशतः श्री पं० रामअवध पाण्डेय द्वारा प्रेषित निर्देशों पर आधृत है।

उणादिकोश का सम्पादन—इस वृत्ति का जो संस्करण अडियार (मद्रास) से प्रकाशित हुआ है, उसके सम्पादक वी. राघवन हैं। इस संस्करण में बहुत्र प्रमादजन्य पाठभ्रंश उपलब्ध होते हैं। इसलिए हमारे मित्र पं० रामअवध पाण्डेय ने अन्य कई हस्तलेखों के साहाय्य से इसका अति परिशुद्ध संस्करण तैयार किया है। यह अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया।

वाचस्पति गैरोला की भूल—वाचस्पति गैरोलाने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ के कोश प्रकरण में महादेव वेदान्तिन् विरचित 'अनादिकोश' का उल्लेख किया है (द्र० पृष्ठ ७८२)। इसमें दो भूलें हैं। प्रथम—ग्रन्थ का नाम 'उणादिकोश' है, 'अनादि कोश' नहीं। द्वितीय—यह व्याकरण ग्रन्थ है, कोश ग्रन्थ नहीं। प्रतीत होता है लेखक ने इस ग्रन्थ का अवलोकन विना किए ही उक्त उल्लेख किया है। गैरोलाजी का अंग्रेजी भाषाविज्ञों के अनुकरण पर महादेव वेदान्तिन्—चन्द्रगोमिन् आदि पदों का प्रयोग करना भी चिन्त्य है।

११—रामभद्र दीक्षित (सं० १७४४ के लगभग)

रामभद्र दीक्षित ने उणादिपाठ पर एक व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या का नाम **मणिदीपिका** है।[1] इस ग्रन्थ का एक हस्तलेख तञ्जौर के पुस्तकालय में विद्यमान है।[2] आफ्रेक्ट ने अपने बृहत् सूचीपत्र में लेखक का नाम रामचन्द्र दीक्षित लिखा है।

परिचय—रामभद्र दीक्षित के पिता का नाम यज्ञराम दीक्षित था। इसके पूरे परिवार का सचित्र वर्णन हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ३०६ (प्र० सं०) पर किया है। रामभद्र दीक्षित का एक शिष्य स्वरसिद्धान्तमञ्जरी का कर्ता है। रामभद्र ने परिभाषावृत्ति की व्याख्या में अपना जो परिचय दिया है, तदनुसार वह भोसला वंश के शाहजी भूपति अर्पित शाहपुर नाम के अग्रहार (ब्राह्मण

---

१. इति श्रीरामभद्रदीक्षितस्य कृतौ उणादिमणिदीपिकायां प्रथमः पादः।
२. हस्तलेख संग्रह सूची भाग १०, पृष्ठ ४२२९, ग्रन्थाङ्क ५६७५।

वसति) का निवासी है। शाह जी भूपति ने यह अग्रहार रामभद्र अथवा उसके पिता यज्ञराम को अर्पित किया होगा।

काल—रामभद्र ने उणादिवृत्ति में लिखा है कि उसने यह उणादिवृत्ति शाहजी भूपति की प्रेरणा से लिखी है।[1] शाहजी का राज्य काल सं० १७४०-१७६९ तक माना जाता है। कतिपय ऐतिहासिक राज्य का आरम्भ सं० १७४४ से मानते हैं। अतः रामभद्र का काल भी १७४४ के लगभग मानना उचित है।

रामभद्र की अभ्यर्थना—रामभद्र ने उणादिवृत्ति के अन्त में लिखा है—

धातुप्रत्ययनियोज्य टीकासर्वस्वनियोज्य मनोरमया नियोज्य शोधनीयं मिदम्।

१३—वेङ्कटेश्वर (सं० १७६० के समीप)

वेङ्कटेश्वर नाम के लेखक ने उणादिसूत्रों की उणादिनिघण्टु नाम की एक वृत्ति लिखी है। इसका एक हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय के सूचीपत्र में क्रम संख्या ४७३२ पर निर्दिष्ट है। दूसरा हस्तलेख तञ्जौर के हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र भाग ९ पृष्ठ ३७४८ पर उल्लिखित है।

वेङ्कटेश्वर रामभद्र दीक्षित का शिष्य है। अतः वेङ्कटेश्वर का काल वि० सं० १७६० के आसपास समझना चाहिए।[2]

वेङ्कटेश्वर ने रामभद्र दीक्षित के 'पतञ्जलि-चरित' पर भी टीका लिखी है।

१४—पेरुसूरि (सं० १७६०—१८००)

पेरुसूरि नाम के वैयाकरण ने उणादिपाठ पर एक श्लोक बद्ध व्याख्या लिखी है। इसका नाम 'औणादिकपदार्णव' है।

परिचय—पेरुसूरि ने ग्रन्थ में अपना जो परिचय दिया है, उस के अनुसार माता पिता दोनों का श्रीवेङ्कटेश्वर समान नाम है।[3] यह 'श्रीधर' वंश का

---

१. भोजो राजति (?) भोसलान्वयमणिः श्रीशाह-पृथिवीपतिः। रामभद्रमखी तेन प्रेरितः करुणाब्धिना.........

२. रामचन्द्रोदय महाकाव्य का कर्त्ता वेङ्कटेश्वर भिन्न व्यक्ति प्रतीत होता है। उसने सं० १६९२ में ४० वर्ष की अवस्था में काशी में उक्त काव्य की रचना की थी। द्र० सं० साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ २१५।

३. जरत्कारू इवान्योन्यमाख्ययानन्ययौत्सुकौ श्रीवेङ्कटेश्वरौ मातापितरौ···॥ पृष्ठ १।

है[1] और इस के गुरु का नाम वासुदेव अध्वरी है।[2]

देश—पेरुसूरिने अपने को काञ्चीपुर का वास्तव्य कहा है।[3]

काल—पेरुसूरि ने अपने गुरु का नाम वासुदेव अध्वरी लिखा है। यही वासुदेव अध्वरी सिद्धान्तकौमुदी की बालमनोरमा नामक प्रसिद्ध टीका का रचयिता है। बालमनोरमाकार का काल सं० १७५०—१८०० लगभग माना जाता है।[4] अतः पेरुसूरि का काल सं० १७६०—१८०० के लगभग मानना उचित है।

वृत्ति का वैशिष्ट्य—ग्रन्थकार ने औणादिक पदों का व्याख्यान करते हुए स्थान स्थान पर उन से निष्पन्न तद्धित प्रयोगों का भी निर्देश किया है। सूत्रपाठ की शुद्धि पर ग्रन्थकार ने विशेष बल दिया है और स्थान स्थान पर अपने द्वारा साम्प्रदायिक (=गुरुपरम्परा-प्राप्त) पाठ के आश्रयण का निर्देश किया है।[5]

अक्षम्य अपराध—पेरुसूरि ने अपनी वृत्ति के लिखने में भट्टोजि दीक्षत विरचित प्रौढमनोरमा से अत्यधिक सहायता ली है[6], यह दोनों ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है। कई स्थान ऐसे भी हैं जहाँ तत्त्वबोधिनी का आश्रयण भी किया हैं।[7] परन्तु ग्रन्थकार ने इन दोनों ग्रन्थों का अथवा इनके लेखकों का कहीं भी निर्देश नहीं किया। ऐसा व्यवहार अशोभनीय है।

यह वृत्ति उणादि ४।१५६ तक ही मद्रास से प्रकाशित हुई है, क्योंकि इसका आधारभूत हस्तलेख भी यहीं तक है, उसका अगला भाग सम्भवतः खण्डित हो गया है।

---

१. इति श्रीधरवंश्येन रचिते पेरुशाखिणा। पृष्ठ १२१।

२. अवतीर्णं हरिं वन्दे वासुदेवाध्वरिच्छलात्। तच्छिष्योऽहम्‌... । पृष्ठ १।

३. पृष्ठ १, श्लोक २। ४. सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ३८९।

५. यथा—साम्प्रदायिकोऽयं पाठः। पृष्ठ १॥ तैस्तैर्वृत्तिकारैः कानिचित् सूत्राणि अधिकानि व्याख्यातानि। सूत्रक्रमभेदश्च तत्र भूयान् परिदृश्येत, पाठभेदाश्च भूयांसः, इति साम्प्रदायिक एवाश्रित इत्यलं बहुना। पृष्ठ ८०॥

६. यथा—पाद १ श्लोक २६३,२६४; पाद ३ श्लोक ७८,७९;२०५,२०६, ३०६; ३२१, ३३७ तथा सूत्रपाठ; पाद ४. श्लोक १८९—१९१; २०४,२८८ २८९; ३४३; ४३२॥ इन सूत्रों की प्रौढमनोरमा भी देखिए।

७. प्रौढमनोरमा में अनिर्णीत 'कृषेरादेश्च चः' सूत्रपाठ (पृष्ठ ११८) तत्त्वबोधिनी से लिया है।

१५—नारायण सुधी

नारायण नाम के किसी वैयाकरण ने अष्टाध्यायी की प्रदीप अपरनाम शब्द-भूषण नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसके हस्तलेख तञ्जौर के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं।

परिचय—नारायण के वंश तथा काल आदि के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं। शब्दभूषण के तृतीयाध्याय के द्वितीयपाद के अन्त में निम्न पाठ मिलता है—

इति गोविन्दपुरवास्तव्यनारायणसुधिविचरते सवार्तिकाष्टाध्यायी-प्रदीपे शब्दभूषणे तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः।

इसमें नारायण ने अपने को गोविन्दपुर का वास्तव्य लिखा है। भारत में गोविन्दपुर नाम के अनेक स्थान हैं।

नारायण नाम के अनेक वैयाकरण विभिन्न ग्रन्थों के लेखक हो चुके हैं। अतः विशेष परिचय के अभाव में इस नारायण का निश्चय करना और इसके काल का निर्धारण करना कठिन है।

काल का अनुमान—नारायण ने अष्टाध्यायी अ० ३ के द्वितीय पाद के पश्चात् उणादिपाठ की व्याख्या की है और अ० ६ के द्वितीयपाद के अन्त में फिट्सूत्रों की। यह व्याख्यानशैली भट्टोजि दीक्षित विरचित सिद्धान्तकौमुदी और शब्दकौस्तुभ में देखी जाती है। नारायण भट्ट विरचित प्रक्रियासर्वस्व में भी यही शैली है। इससे विदित होता है कि नारायण का शब्दभूषण सिद्धान्तकौमुदी तथा प्रक्रियाकौमुदी के पश्चात् लिखा गया है। सिद्धान्तकौमुदी के अत्यधिक प्रचार होने पर अष्टाध्यायी पर व्याख्या लिखने का क्रम प्रायः समाप्त हो गया था। अतः इस नारायण का काल वि० सं० १८०० के पूर्व माना जा सकता है, इससे उत्तरवर्ती तो नहीं हो सकता।

यद्यपि नारायण की व्याख्या उणादि के किस पाठ पर थी, यह निश्चित रूप से हम नहीं कह सकते, तथापि इस काल में पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा पञ्चपादी पर ही वृत्ति ग्रन्थ लिखने की परम्परा होने से यह वृत्ति भी पञ्चपादी पर ही हो सकती है, दशपादी की नहीं।

१६—शिवराम (सं० १८५० के समीप)

शिवराम नाम के विद्वान् ने उणादिपाठ पर एक वृत्ति लिखी थी। इस का उल्लेख शिवराम ने अपने काव्य लक्ष्मीविलास में किया है। वह लिखता है—

काव्यानि पञ्च नुतयोऽपि पञ्चसंख्याः
टीकाश्च सप्तदश चैक उणादिकोशः ।[1]

आफ्रेक्ट ने भी अपने बृहत् हस्तलेखसूची में इस टीका का उल्लेख किया है। साथ ही यह भी लिखा है कि यह वृत्ति सन् १८७४ में बनारस में छप चुकी है।[2] यह संस्करण हमारे देखने में नहीं आया।

परिचय—अलवर राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय के सूचीपत्र के निर्माता ने पृष्ठ ४६ ग्रन्थसंख्या १०९४ के विवरण में शिवराम के पिता का नाम कृष्णराम तथा शिवराम के ज्येष्ठ भ्राताओं के नाम गोविन्दराम, मुकुन्दराम और केशवराम लिखे हैं।

काल—अलवर के सूचीपत्र के सम्पादक ने शिवराम का काल ईसा की १८ वीं शती लिखा है।

उणादिवृत्ति का नाम—उणादिवृत्ति जिसका ग्रन्थकार ने उणादिकोश नाम से व्यवहार किया है, का नाम 'लक्ष्मीनिवासाभिधान' भी है। इसी नाम से यह काशी से प्रकाशित हुई है।

अन्य ग्रन्थ—ऊपर जो श्लोकांश उद्धृत किया है, उसमें पाँच काव्य ग्रन्थ, ५ स्तुतिग्रन्थ (स्तोत्र), १७ टीकाग्रन्थ, १ उणादिकोश का निर्देश है। उक्त श्लोक के उत्तरार्ध में भूपालभूषण, रसरत्नहार और विद्याविलास ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त काव्य लक्ष्मीविलास (जिसमें उक्त वर्णन है) तथा परिभाषेन्दुशेखर की 'लाक्षीविलास टीका' भी इसने लिखी है।[3]

१७—रामशर्मा (सं० १९४० से पूर्व)

रामशर्मा नाम के किसी व्यक्ति ने उणादिसूत्रों की एक व्याख्या लिखी है। हमारे मित्र पं० रामअवध पाण्डेय (वाराणसी) की सूचनानुसार यह वृत्ति 'उणादिकोश' नाम से काशी से प्रकाशित होने वाले 'पण्डित' पत्र के द्वितीय भाग में छप चुकी है। हमारी दृष्टि में यह संस्करण नहीं आया।

---

१. द्र० अलवर राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय का सूचीपत्र, उत्तरार्ध (आद्यन्त पाठ निर्देशक भाग) पृष्ठ ८५।

२. श्री पं० रामअवध पाण्डेय (वाराणसी) की सूचनानुसार सन् सन् १८७३ में यह वृत्ति 'षट्कोशसंग्रह' में छप चुकी है।

३. अलवर राजकीय ह० सं० सूची पृ० ४६।

इस वृत्ति के पण्डितपत्र में प्रकाशित होने से इसका रचना काल सं० १९४० से पूर्व है।

१८—स्वामी दयानन्द सरस्वती (सं० १९३१)

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उणादिपाठ पर एक व्याख्या लिखी है। यह 'उणादिकोष' के नाम से वैदिक यन्त्रालय अजमेर से प्रकाशित हुई है।

परिचय—स्वामी दयानन्द सरस्वती के वंश, देश, काल आदि के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में ३५७–३५९ (प्र० सं०) तक विस्तार से लिख चुके हैं।

वृत्तिनिर्माण काल वा स्थान—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस उणादिवृत्ति की रचना महाराणा सज्जनसिंह के राज्यकाल में मेवाड़ की राजधानी उदयपुर नगर में सं० १९३९ में की थी। इस की भूमिका के अन्त में ग्रन्थ रचना का समय सं० १९३९, माघ कृष्णा प्रतिपद् अङ्कित है।

वृत्ति का वैशिष्ट्य—यद्यपि यह वृत्ति स्वल्पाक्षरा है, पुनरपि उणादिवाङ्मय में यह सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

महत्ता का कारण—महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **उणादयो बहुलम्** (अष्टा० ३।३।१) सूत्रस्थ बहुल पद का प्रयोजन बताते हुए लिखा है—

नैगमरूढिभवं हि सुसाधु। नैगमाश्च रूढिभवाश्चौणादिकाः सुसाधवः कथं स्युः।

अर्थात्—नैगम और रूढ औणादिक शब्दों के भले प्रकार साधुत्व ज्ञापन के लिए पाणिनि ने 'बहुल' शब्द का निर्देश किया है।

इस कथन से स्पष्ट है कि भाष्यकार के मत में वेद में रूढ शब्द नहीं हैं। दूसरे शब्दों में पतञ्जलि वैदिक शब्दों को यौगिक तथा योगरूढ मानते हैं।

इसी प्रसङ्ग में पतञ्जलि ने शाकटायन के मत में सम्पूर्ण शब्दों को धातुज कहा है। नैरुक्त आचार्यों का भी यही मत है।

महाभाष्यकार के इन निर्देशों के अनुसार सभी औणादिक शब्द यौगिक अथवा योगरूढ भी है। इतना ही नहीं, उणादिपाठ में स्थान स्थान पर **संज्ञायाम्**[1] पद का निर्देश होने से अन्तःसाक्ष्य से भी यही विदित होता है कि सम्पूर्ण औणादिक पद रूढ नहीं हैं, अन्यथा स्थान स्थान पर **संज्ञायाम्** पद का निर्देश

१. उणादि कोश २।३२,८२, १११ इत्यादि।

न करके **उणादयो बहुलम्** (३।३।१) सूत्र में ही **संज्ञायाम्** पद पढ दिया जाता। इसलिए उणादिवृत्तिकार का कर्त्तव्य है कि वह दोनों पक्षों का समन्वय करता हुआ प्रत्येक औणादिक पद का यौगिक, योगरूढ तथा रूढ अर्थों का निर्देश करे। इस समय उणादिसूत्रों की जितनी भी वृत्तियां उपलब्ध हैं। उन सभी में औणादिक शब्दों को रूढ मान कर ही अर्थ निर्देश किया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का साहस—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैयाकरणों की उत्तरकालीन उक्त परम्परा का सर्वथा परित्याग करके अपनी वृत्ति में प्रत्येक औणादिक शब्द के यौगिक और रूढ दोनों प्रकार के अर्थों का निर्देश किया है। यथा—

करोतीति कारुः—कर्ता, शिल्पी वा।[1]

वाति गच्छति जानाति वेति वायुः—पवनः, परमेश्वरो वा।[1]

पाति रक्षति स पायुः—रक्षकः, गुदेन्द्रियं वा।[1]

इन उद्धरणों में प्रथम और तृतीय पाठ में **कर्ता** और **रक्षक** ये यौगिक अर्थ हैं तथा **शिल्पी** और **गुदेन्द्रिय** योगरूढ वा रूढ अर्थ हैं।

भगवान् पतञ्जलि तथा नैरुक्त आचार्यों के मतानुसार वेद में प्रयुक्त **कारु** और **पायु** शब्द के यौगिक अर्थ कर्ता और रक्षक ही सामान्य रूप से हैं, केवल शिल्पी और गुदेन्द्रिय नहीं हैं। यही अभिप्राय वृत्तिकार ने यौगिक अर्थों का निर्देश करके दर्शाया है।

द्वितीय पाठ में भी **सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः**[2] इस प्राचीन मत के अनुसार **वाति** के **जानाति** अर्थ का भी निर्देश किया है। इस अर्थ के अनुसार सर्वज्ञ भगवान् परमेश्वर का भी वायु पद से ग्रहण होता है, यह दर्शाया है।[3] इसी

---

१. उणादिकोष १।१ व्याख्या में।

२. द्र० हेमहंसगणि विरचित न्यायसंग्रह, बृहद्वृत्तिसहित, पृष्ठ ९३। स्कन्द निरुक्तटीका, भाग २, पृष्ठ ९२। तैत्तिरीय आरण्यक भट्टभास्कर भाष्य, भाग १, पृष्ठ २७६; इसी प्रकार अन्यत्र भी।

३. अग्नि वायु आदित्य प्रभृति वैदिक शब्द धात्वर्थ को निमित्त मानकर ईश्वर के भी वाचक होते हैं। इसके लिए स्वामी शंकराचार्य का 'अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति' (वेदान्तभाष्य १।२।२८) द्रष्टव्य है।

अर्थ को यजुर्वेद का

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः । ३२।१॥

मन्त्र भी व्यक्त कर रहा है। इस मन्त्र में ब्रह्म प्रजापति आदि का वायु पद से भी संकीर्तन किया है।

इतना ही नहीं, निघण्टु निरुक्त तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में वैदिक अग्नि-वायु-आदित्य आदि शब्दों के जितने अर्थ दर्शाए हैं, वे सब मूल भूत एक धात्वर्थ को स्वीकार करके ही उपपन्न हो सकते हैं। यदि उन सब अर्थों को धात्वर्थ मूलक न मान कर रूढ माना जाए तो एक शब्द की विभिन्न अर्थों में वाचक-शक्ति अथवा संकेत स्वीकार करना होगा। इस प्रकार बहुत गौरव होगा।[1]

अन्य वैशिष्ट्य—प्रतिशब्द यौगिक अर्थों के निर्देश के अतिरिक्त इस वृत्ति में एक और विशेषता है और वह है स्थान स्थान पर निरुक्त निघण्टु ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में निर्दिष्ट वैदिक अर्थों का उल्लेख करना। यथा—

वर्तते सदैवासौ वृत्रः—मेघः, शत्रुः, तमः, पर्वतः, चक्रं वा।[2]

इसीलिए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उणादिव्याख्या के प्रत्येक पाद के अन्त में उणादिव्याख्यायां वैदिकलौकिककोषे विशिष्ट पद का निर्देश किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती से पूर्ववर्ती कतिपय वृत्तिकारों ने केवल उणादि-कोश शब्द का व्यवहार किया है, परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी व्याख्या के लिए वैदिक लौकिक कोष पद का उल्लेख किया है।

इस दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती की यह स्वल्पाक्षरा वृत्ति संपूर्ण उणादि-वाङ्मय में मूर्धाभिषिक्त है।

वृत्ति का मूल सूत्रपाठ—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उणादि के जिस पाठ पर वृत्ति लिखी है वह उज्ज्वल के पाठ से बहुत भिन्नता रखता है। इस वृत्ति का आधारभूत सूत्रपाठ एक हस्तलेख पर आश्रित है। यह हस्तलेख स्वामी दयानन्द सरस्वती के हस्तलेख संग्रह में विद्यमान था। हमने इसे सं० १९९२ में श्रीमती परोपकारिणी सभा अजमेर के संग्रह में देखा था। इस हस्त-

---

१. तुलना करो—आकृतिभिश्च शब्दानां सम्बन्धो न व्यक्तिभिः, व्यक्तीनामानन्त्यात् संबन्धग्रहणानुपपत्तेः। वेदान्त शांकरभाष्य १।३।२८ यही दोष अनेक रूढ अर्थों में संकेत मानने पर उपस्थित होता है।

२. उणादिकोष १।१३ व्याख्या में।

लेख में सूत्रपाठ के साथ साथ सूत्रों के उदाहरण भी निर्दिष्ट हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो उणादिकोष छपवाया है, उसमें इस हस्तलेख के पाठ को सर्वथा उसी रूप में सुरक्षित रखा है। अर्थात् ऊपर हस्तलेखानुसार सूत्रपाठ और उदाहरण दिए है तथा नीचे अपना वृत्ति ग्रन्थ पृथक् छापा है।

इस हस्तलेख तथा उस पर आश्रित मुद्रित सूत्रपाठ में अनेक स्थानों पर सूत्रपाठ के स्थान पर किसी वृत्ति ग्रन्थ का संक्षिप्त पाठ निर्दिष्ट है। यथा—

क—उणादिकोष ३।९७ पर सूत्रपाठ है—**दधातेर्द्वित्वमित्वं षुक् च।** यह स्पष्ट किसी वृत्ति का पाठ है। वहाँ मूल सूत्रपाठ **दधिषाय्यः** होना चाहिए।

ख—उणादिकोष ४।२३७ पर सूत्र है—**सर्त्तेरप्पूर्वादसिः।** यह भी किसी वृत्ति का पाठ है। यहाँ पर मूल सूत्रपाठ **अप्सराः** होना चाहिए।

ग—इसी प्रकार उणादिकोष ४।२३८ पर सूत्रपाठ है—**विदिभुजिभ्यां-विश्वेऽसिः।** यह पाठ भी किसी वृत्ति का संक्षेप है।

सूत्र २३७ में तथा २३८ दोनों में 'असि' प्रत्यय का समान रूप से निर्देश होना इस बात का ज्ञापक है कि ये दोनों सूत्र रूप से स्वीकृत पाठ कि किसी वृत्ति के अंश हैं। इनमें सर्त्तेरप्पूर्वादसि पाठ इसी रूप में उज्ज्वलदत्त की उणादिवृत्ति ४।२३६ में उपलब्ध होता है।

वृत्ति में पाठभ्रंश—स्वामी दयानन्द की वृत्ति का जो पाठ वैदिक यन्त्रालय अजमेर का छपा मिलता हैं, उसमें पाठभ्रंश अत्यधिक हैं। कई स्थानों पर पाठ त्रुटित हैं, कई स्थानों पर पाठ आगे पीछे अस्थान में हो गए हैं। कई स्थानों में संशोधकों ने उत्तरवर्ती संस्करणों में ग्रन्थकार-सम्मत पाठ में परिवर्तन भी कर दिया है। इस प्रकार यह अत्यन्त उपयोगी और श्रेष्ठतम वृत्ति भी पाठभ्रंश आदि दोषों के कारण सर्वथा अनुपयोगी सी बनी हुई है। इसकी श्रेष्ठता और उपयोगिता को देखते हुए इसके शुद्ध संस्करण की महती आवश्यकता है।

वृत्ति का सम्पादन—हमने इस वृत्ति के वैशिष्ट्य को ध्यान में रखकर इस वृत्ति का सम्पादन किया है, परन्तु अर्थाभाव के कारण अभी तक प्रकाशित नहीं कर सके।

अज्ञातनाम वृत्तिकार

१९—अज्ञातनाम

तञ्जौर हस्तलेख पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग १० में संख्या ५६७७ पर पञ्चपादी उणादिपाठ पर एक अज्ञातनाम वैयाकरण की वृत्ति का निर्देश है।

२०—अज्ञातनाम

किसी अज्ञातनाम वैयाकरण की पञ्चपादी उणादिवृत्ति का "उणादिकोश" नाम से तञ्जौर के पुस्तकालय में एक हस्तलेख विद्यमान है। देखो सूचीपत्र भाग १० संख्या ५६७८।

२१—अज्ञातनाम

मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग ३ (सन् १९०६ का छपा) में पृष्ठ ९१६ पर एक 'उणादिसूत्रवृत्ति' का निर्देश है। इसकी संख्या १२६९ है। यह पञ्चपादी पर है और इसका लेखक कोई जैन विद्वान् है।

२२—अज्ञातनाम

मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह में एक उणादिसूत्र का हस्तलेख विद्यमान हैं। द्र० सूचीपत्र भाग १०, पृष्ठ ९१६ (सन् १९०६) संख्या ९१३। इसके अन्त में पाठ है—

इति पाणिनीये उणादिसूत्रे पञ्चमः पादः

यह मूल सूत्रपाठ है अथवा वृत्ति ग्रन्थ, यह द्रष्टव्य है।

दशपादी-उणादिपाठ

पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा आश्रित उणादिसूत्रों का दूसरा पाठ 'दशपादी उणादिपाठ' के नाम से प्रसिद्ध है।

दशपादी का आधार पञ्चपादी

दशपादी उणादिपाठ का संकलन उणादि-सिद्ध शब्दों के अन्त्यवर्ण क्रम के अनुसार किया गया है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। यह संकलन भी पञ्चपादीय पाठ पर आश्रित है अर्थात् दशपादी में तत्तद् अन्त्यवर्ण वाले शब्दों के साधक सूत्रों का संकलन करते समय पहले पञ्चपादी के प्रथम पाद के सूत्रों का संकलन किया गया है, तत्पश्चात् क्रमशः द्वितीय तृतीय चतुर्थ और पञ्चम पाद के सूत्रों का। हम इस बात को स्पष्ट करने के लिए दशपादी के प्रथम पादस्थ इवर्णान्त शब्दसाधक सूत्रों के संकलन का निर्देश करते हैं—

सूत्रसंख्या १—९ तक पञ्चपादी के द्वितीयपाद के सूत्र
" " १०—१२ " " " तृतीय " "
" " १६—७५ " " " चतुर्थ " "
" " ७७—८१ " " " पञ्चम " "

इसी प्रकार उवर्णान्त शब्दों में—

सूत्र संख्या ८६—१३२ तक पञ्चपादी के प्रथम पाद के सूत्र
" " १३३— " " द्वितीय " "
" " १३४—१५४ " " " तृतीय " "
" " १५५—१५९ " " " चतुर्थ " "
" " १६०—१६२ " " " पञ्चम " "

इसी प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में तत्तद् वर्णान्त शब्दों के साधक सूत्रों का संकलन पञ्चपादी के तत्तत् पादस्थ सूत्रों के क्रम से ही किया है। इस से स्पष्ट है कि दशपादी पाठ का मूल आधार पञ्चपादी पाठ है। इस में निम्न हेतु भी द्रष्टव्य हैं—

क—पञ्चपादी पाठ में अनेक ऐसे सूत्र हैं, जिनमें नकारान्त शब्दों के साधुत्व प्रदर्शन के साथ-साथ उन णकारान्त शब्दों का निर्देश भी है, जिनमें रेफ आदि को निमित्तमान कर अन्त्य न वर्ण ण वर्ण में परिवर्तित हो जाता है। यथा—

पञ्चपादी २।४८ में 'इनच्' प्रत्ययान्त–श्येन, स्तेन, हरिण, और अविन शब्दों का साधुत्व दर्शाया है।

पञ्चपादी २।७६ में 'युच्' प्रत्ययान्त–सवनः, यवनः, रवणः, वरणम् शब्दों का निर्देश है।

इसी प्रकार पञ्चपादी के जिन सूत्रों में णकारान्त और नकारान्त शब्दों का एक साथ निदर्शन कराया है, उन सब सूत्रों को दशपादीकार ने ढकारान्त शब्दों के अनन्तर संगृहीत किया है और इस प्रकरण के अन्त में (सूत्र-वृत्ति ५।६४) णकारो नकारसहितः कहकर उपसंहार किया है। इससे भी स्पष्ट है कि दशपादी उणादिसूत्रों का पाठ किसी अन्य पुराने पाठ पर आश्रित है। यदि दशपादी का अपना स्वतन्त्र पाठ होता तो उसका प्रवक्ता णकारान्त और नकारान्त शब्दों के साधन के लिए पृथक्-पृथक सूत्रों का ही प्रवचन करता, दोनों का सांकर्य न करता।

ख—दशपादी पाठ में नवम पाद के अन्त में हकारान्त शब्दों का संकलन पूरा हो जाता है। दशम पाद में उन सूत्रों का संकलन है, जिनमें अनेक प्रत्ययों का पाठ उपलब्ध होता है और उनसे विभिन्न वर्णान्त शब्दों का साधुत्व कहा गया है। यथा—

प्रथम सूत्र में—आल, वालज्, आलीयर् प्रत्यय।
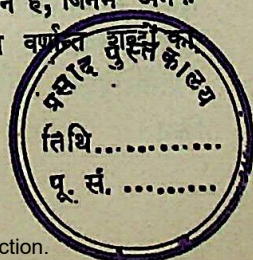
पञ्चम सूत्र में—उन, उन्त, उन्ति, उनि प्रत्यय।

इसी प्रकार अन्यत्र भी।

यदि दशपादी पाठ का स्वतन्त्र प्रवचन होता तो इसका प्रवक्ता इस पाद के सूत्रों में एक साथ कहे गये विभिन्न प्रत्ययों को तत्तत् वर्णान्त प्रत्ययों के प्रकरण में बड़ी सुगमता से संकलन कर सकता था, उसे व्यामिश्रित वर्णान्त प्रत्ययों के लिए प्रकीर्ण संग्रह करने की आवश्यकता न होती। इससे भी यही बात पुष्ट होती है कि दशपादी पाठ का मुख्य आधार पञ्चपादी पाठ है।

दशपादी पाठ का वैशिष्ट्य

यद्यपि दशपादी पाठ के प्रवक्ता ने अपना मुख्य आधार पञ्चपादी पाठ को ही बनाया है, पुनरपि इसमें दशपादी के प्रवक्ता का स्वोपज्ञात अंश भी अनेकत्र उपलब्ध होता है। यह उपज्ञात अंश दो प्रकार का है—

१—पञ्चपादी सूत्रों का तत्साधक शब्दों के अन्त्य वर्ण क्रम से संकलन करते समय अनेक स्थानों पर अनुवृत्ति दोष उत्पन्न होता है। उस दोष के परिमार्जन के लिए दशपादी-प्रवक्ता ने उन उन सूत्रों में तत्तद् विशिष्ट अंश को जोड़कर अनुवृत्ति दोष को दूर किया है। यथा—

क—पञ्चपादी उणादि में क्रमशः स्रुवः कः, चिक् च दो सूत्र (२। ६१, ६२) पढ़े हैं। दशपादी संकलन क्रम में प्रथम सूत्र कुछ पाठान्तर से ८।३० में रखा गया। द्वितीय सूत्र से कान्त स्रुक् शब्द की निष्पत्ति होने से उसे कान्त प्रकरण (द्वितीयपाद) में रखना आवश्यक हुआ। इस दोनों सूत्रों को विभिन्न स्थानों में पढ़ने पर, 'स्रुक्' शब्द साधक द्वितीय सूत्र में पञ्चपादी क्रम से पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति द्वारा प्राप्त होने वाली स्रु धातु का दशपादी क्रम में अभाव प्राप्त होता है। इस दोष की निवृत्ति के लिए दशपादी के प्रवक्ता ने 'स्रु' धातु का निर्देश करते हुए स्रुवः चिक् ऐसा न्यासान्तर किया।

ख—पञ्चपादी का एक सूत्र है—लङ्घेर्नलोपश्च (१।१३५)। इसमें अटि प्रत्यय की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से आती है। दशपादीकार ने पञ्चपादी के सर्त्तेरटिः सूत्र सिद्ध सरट् शब्द को डकारान्त सरड् मान कर उसे डान्त प्रकरण में पढ़ा और लघट् शब्द साधक सूत्र को टान्त प्रकरण में। इस प्रकार विभिन्न स्थानों पर पढ़ने के कारण लघट् शब्द साधक लङ्घेर्नलोपश्च सूत्र में अटि प्रत्यय की अनुवृत्ति की अप्राप्ति होने पर दशपादी के प्रवक्ता ने लङ्घेरटिर्नलोपश्च (५।१) ऐसा न्यासान्तर करके अनुवृत्ति दोष का परिमार्जन किया।

इस प्रकार दशपादी के संकलन में जहां जहां भी अनुवृत्ति दोष उपस्थित हो सकता था, वहां तत्तत् अंश जोड़कर सर्वत्र अनुवृत्ति दोष का निराकरण किया है।

२—दशपादी पाठ में कई ऐसे सूत्र हैं, जो पञ्चपादी पाठ में उपलब्ध नहीं होते। इन सूत्रों का संकलन या तो दशपादी के प्रवक्ता ने किन्ही अन्य प्राचीन उणादिपाठों से किया हैं अथवा ये सूत्र उसके मौलिक प्रवचन रूप हैं। इनमें निम्न सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—।

क—जीवेरदानुक्॥ १।१६३॥

इस सूत्र को महाभाष्यकार पतञ्जलि ने हयवरट् सूत्र पर उद्धृत किया है। लोपो व्योर्वलि (६।१।६६) सूत्र के भाष्य में भी इसकी ओर संकेत किया है। काशिकाकारने ६।१।६६ पर तथा न्यासकारने भाग १, पृष्ठ २० पर इसे उद्धृत किया है।

इस सूत्र का माहात्म्य—यद्यपि भाष्यकार आदि ने इस सूत्र द्वारा 'रदानुक्' प्रत्ययान्त जीरदानु शब्द के साधुत्व का ही प्रतिपादन किया है,[1] तथापि इस सूत्र के संहिता पाठ को प्रामाणिक मानकर जीवेः+अदानुक् विच्छेद करने पर जीवदानु पद के साधुत्व का भी बोध होता है। वैदिक ग्रन्थों में दोनों शब्द एकार्थ में ही प्रयुक्त होते हैं। तुलना करो—

पृथिवीं जीवदानुम्। शु० यजुः १।२८॥

पृथिवीं जीरदानुम्। तै० सं० १।१।९॥

२—हन्तेरन् घ च। ८।११४।

इस सूत्र द्वारा 'हन्' धातु से 'रन्' और धातु को 'घ' आदेश होता है। घ आदेश अनेकाल् होने से पूरी 'हन्' धातु के स्थान पर होता है। इस प्रकार घर शब्द निष्पन्न होता है। वृत्तिकारों ने इस का अर्थ गृह बताया है।

भट्टोजि दीक्षित ने प्रौढमनोरमा पृष्ठ ८०८ में इस सूत्र को उद्धृत किया है। उसका अनुकरण करते हुए ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने भी तत्त्वबोधिनी (पृष्ठ ५६५) में इसका निर्देश किया है।

---

१. जीवेः+रदानुक्=जीव्+रदानु=लोपो व्योर्वलि (६।१।६६) से वलोप=जीरदानु।

प्राकृत भाषा तथा हिन्दी भाषा में गृह वाचक जो 'घर' शब्द प्रयुक्त होता है, उसे साम्प्रतिक भाषाविज्ञानवादी 'गृह' का आपभ्रंश मानते हैं। जैन संस्कृत कथाग्रन्थों बहुत्र घर शब्द का निर्देश मिलता है (यथा—पुनर्नृपाहूतः स्वघरे गतः—पुरातनप्रबन्धकोष, पृष्ठ ३५)। इसे तथा एतत्सदृश अन्य शब्दों के प्रयोगों को प्राकृत प्रभावजन्य कहते हैं। ये दोनों ही कथन चिन्त्य है, यह इस औणादिक सूत्र से स्पष्ट है।

इतना ही नहीं, क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी १०।९८ पृष्ठ २९० में घृ स्रवणे का पाठान्तर लिखा है—

घर स्रवणे इति दुर्गः।

इस पाठ से दुर्ग सम्मत घर धातु से 'अच्' प्रत्यय होकर गृहवाचक 'घर' शब्द अञ्जसा सिद्ध हो जाता है। दुर्ग के 'घर' धातु-निर्देश से भी घर शब्द शुद्ध संस्कृत का है, गृह का अपभ्रंश नहीं है, यह स्पष्ट है।[1]

दशपादी उणादि १०।१५ में व्युत्पादित मच्छ शब्द भी इसी प्रकार का है जो शुद्ध संस्कृत का होते हुए भी 'मत्स्य' का अपभ्रष्ट रूप माना जाता है।[2]

इसी प्रकार दशपादी उणादिपाठ में और भी अनेक प्रकार का वैशिष्ट्य उपलब्ध होता है।

दशपादी के वृत्तिकार

दशपादी पाठ पर भी पंचपादी पाठ के समान अनेक वैयाकरणों ने वृत्तिग्रन्थ लिखे होंगे, परन्तु इस पाठ के पठन-पाठन में व्यवहृत न होने के कारण अनेक वृत्ति ग्रन्थ कालकवलित हो गए, ऐसी संभावना है। सम्प्रति दशपादी पाठ पर तीन ही वृत्तिग्रन्थ उपलब्ध हैं और उनमें से भी अति महत्त्वपूर्ण प्राचीनतर वृत्ति और उसके आधार पर लिखी गई एक अन्य वृत्ति के लेखक का नाम भी अन्धकारावृत है। उपलब्ध वृत्तियों के विषय में नीचे यथाज्ञान विवरण उपस्थित करते हैं।

---

१. इसी प्रकार का युद्धार्थक 'जङ्ग' शब्द और पवित्र वाचक 'पाक' शब्द, जो फारसी के समझे जाते हैं, शुद्ध संस्कृत के हैं। इनके लिए देखिए इस ग्रन्थ का प्रथम भाग पृष्ठ ३७-४१ (प्र० सं०)।

२. क्षीरतरङ्गिणी ४।१०१ में इसे संस्कृत का साधु शब्द माना है।

१—अज्ञानतम (७०० वि० पूर्व)

दशपादी उणादिपाठ की यह एक अति प्राचीन वृत्ति है। इस वृत्ति के उद्धरण अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। यह वृत्ति सं० १९३२ (सन् १८७५) में काशी में लीथो प्रेस में छप चुकी है। इसके एक प्रमाणिक संस्करण का सम्पादन हमने किया है।[1]

वृत्तिकार का नाम—आफ्रेक्ट ने अपने बृहत् हस्तलेख सूची में इस वृत्ति के लेखक का नाम **माणिक्यदेव** लिखा है। पूना के डेक्कन कालेज के पुस्तकालय के सूचीपत्र में भी इसका नाम माणिक्यदेव ही निर्दिष्ट है। पत्र द्वारा पूछने पर पुस्तकाध्यक्ष ने उक्त नाम निर्देश का आधार आफ्रेक्ट के सूचीपत्र को ही बताया।[2] वाराणसी से लीथो प्रेस में प्रकाशित पुस्तक के आदि के सात पदों में ग्रन्थकार के नाम का उल्लेख नहीं हैं, परन्तु अन्तिम तीन पदों में उज्ज्वलदत्त का नाम निर्दिष्ट है।[3] इस वृत्ति का एक हस्तलेख तञ्जौर के पुस्तकालय में भी हैं। उस में ग्रन्थ की समाप्ति के अनन्तर कुछ स्थान रिक्त छोड़कर उज्ज्वलदत्त का नाम अङ्कित है। उक्त पुस्तकालय के सूचीपत्र के सम्पादक ने आफ्रेक्ट के प्रमाण से ग्रन्थकार का माणिक्यदेव नाम लिखा है।

आफ्रेक्ट ने इस वृत्तिकार का नाम माणिक्यदेव किस आधार पर लिखा यह हम अद्यावधि (सन् १९३४-१९६१ तक)[4] न जान सके। इस वृत्ति के संस्कृत वाङ्मय के विविध ग्रन्थों से हमने जितने भी उद्धरण संगृहीत किए, सर्वत्र या तो वे दशपादी वृत्तिकार के नाम से उद्धृत हैं अथवा विना नाम निर्देश के। हमें आज तक इस वृत्ति का एक भी उद्धरण ऐसा प्राप्त नहीं हुआ जो माणिक्य-देव के नाम से निर्दिष्ट हो। इतना ही नहीं, व्याकरण वाङ्मय में माणिक्यदेव नाम का कोई लेखक भी विज्ञात नहीं हैं। ऐसी अवस्था में इस वृत्तिकार का माणिक्यदेव नाम स्वीकार करने में हम असमर्थ हैं।

काशी मुद्रित तथा तञ्जौर के हस्तलेख के अन्त में उज्ज्वलदत्त का नाम कैसे अङ्कित हुआ, यह भी विचारणीय है। क्योंकि इस वृत्ति का एक भी उद्धरण

---

१. यह संस्करण राजकीय संस्कृत-कालेज वाराणसी की सरस्वती भवन ग्रन्थमाला में सन् १९४२ में प्रकाशित हुआ है।

२. यह पत्र-व्यवहार वृत्ति के सम्पादन काल सन् १९३४ में हुआ था।

३. 'इत्युज्ज्वलदत्तविरचितायामुणादिवृत्तौ ······।' पाठ मुद्रित हैं।

४. हमने इस वृत्ति का सम्पादन कार्य सन् १९३४ में आरम्भ किया था।

उज्ज्वलदत्त के नाम से क्वचित् भी निर्दिष्ट नहीं है। पञ्चपादी पाठ के एक वृत्तिकार का नाम उज्ज्वलदत्त अवश्य है, परन्तु उस ने सर्वत्र स्वनाम के साथ जाजलि पद का निर्देश किया है। उक्त दोनों प्रतियों में जाजलि का उल्लेख नहीं हैं। इतना ही नहीं, दोनों वृत्तिग्रन्थों की रचना शैली में भूतल-आकाश का अन्तर हैं। इसलिए दशपादी की इस वृत्ति का रचयिता पञ्चपादी वृत्तिकार उज्ज्वलदत्त नहीं हो सकता, यह निश्चित है। केवल एक कल्पना कथंचित् की जा सकती है कि दशपादी का वृत्तिकार उज्ज्वलदत्त पञ्चपादी वृत्तिकार उज्ज्वलदत्त से भिन्न व्यक्ति हो। परन्तु निश्चित प्रमाण के अभाव में कल्पना-कल्पना ही हैं। इतिहास में कल्पना का स्थान नहीं है। हमारा अनुमान है कि उणादि वाङ्मय में उज्ज्वलदत्त की अतिप्रसिद्धि के कारण इन दोनों प्रतियों अन्त में उज्ज्वलदत्त का नाम अङ्कित हो गया होगा।

सारांश यह है कि इस महत्त्वपूर्ण प्राचीन वृत्ति के लेखक का नाम अद्या-वधि अज्ञात है।

काल—लेखक के नाम के समान ही वृत्तिकार का काल भी अज्ञात है। हमने इस वृत्ति के प्राचीन ग्रन्थों से जो उद्धरण संगृहीत किए है, उन के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि इस वृत्ति की रचना का काल ७०० विक्रम से पूर्व हैं। इस में निम्न प्रमाण हैं—

१—भट्टोजि दीक्षित (सं० १५१०-१५७५) ने सिद्धान्तकौमुदी की प्रौढमनोरमा नाम की व्याख्या में दशपादीवृत्ति के अनेक पाठ उद्धृत किए हैं।[1] यथा—

प्रौढमनोरमा	दशपादीवृत्ति
क—खरुशब्दस्य क्रूरो मूर्खश्च इत्यर्थद्वयं दशपादीवृत्त्यनुसारेणोक्तम्। पृष्ठ ७५१	खनतीति खरुः—क्रूरो मूर्खश्च। पृष्ठ ७७।
ख—फर्फरादेश इत्युज्ज्वलदत्तरीत्योक्तम्। वस्तुतस्तु धातोर्द्वित्वमुकारस्याकारः सलोपो रुक् चाभ्यासस्येति दशपाद्योक्तमेव न्याय्यम्। पृष्ठ ७८७	अस्य अभ्यासस्य फादेशोपधात्वसलोपा निपात्यन्ते। फर्फरीका। पृष्ठ १५३।

१. इन सब पाठों का निर्देश हमने स्वसम्पादित ग्रंथ में तत्तत् स्थानों की टिप्पणी में कर दिया हैं।

२—देवराज यज्वा (सं० १३७० से पूर्व) ने अपनी निघण्टुटीका में इस वृत्ति के अनेक पाठ नाम निर्देश के विना उद्धृत किए हैं। यथा—

निघण्टुटीका	दशपादीवृत्ति
क—बाहुलकादभिधानलक्षणाद्वा कचिन्नकारस्येत् संज्ञा न भवतीत्युणादिवृत्तिः। पृष्ठ १०६।	बाहुलकत्वादभिधानलक्षणाद् वा नकारस्येत्संज्ञा न भवति। पृष्ठ २७३।
ख—बाहुलकादभिधानलक्षणाद्वा नकारस्येत्संज्ञाया अभाव एवास्मिन् सूत्रे वृत्तिकारेणोक्तम्। पृष्ठ २१०।	" " " " "
ग—णिलोपे चोपधाया ह्रस्वत्वं निपात्यते। शीलयति शीलतीति वा शिल्पम् यत् कुम्भकारादीनां कर्म इत्युणादिवृत्तिः। पृष्ठ १७१।	अस्य णेर्लुगुपधाह्रस्वत्वं च शीलन्ति तद् शीलयन्ति तदिति शिल्पम्, क्रियाकौशलं कर्म यत् कुम्भकारादीनाम्। पृष्ठ २६३।

इनमें प्रथम उद्धरण दोनों में सर्वथा समान है, द्वितीय उद्धरण समान होते हुए भी अर्थतः अनुवाद रूप है। तृतीय उद्धरण दोनों पाठों में अर्थतः समान होने पर भी कुछ पाठ भेद रखता है। इस भेद का कारण हमारे विचार में देवराज द्वारा दशपादीवृत्ति पाठ का स्वशब्दों में निर्देश है। देवराज के उक्त पाठ का उणादि की अन्य वृत्तियों के साथ न शब्दतः साम्य है न अर्थतः। अतः देवराज ने दशपादिवृत्ति पाठ ही स्वशब्दों में उद्धृत किया है, यह स्पष्ट है।

३—दैव ग्रन्थ की पुरुषकार नाम्नी व्याख्या के लेखक श्रीकृष्णलीला शुक मुनि के (सं० १३००) ने भी दशपादीवृत्ति का पाठ विना नाम निर्देश के उद्धृत किया है। यथा—

पुरुषकार	दशपादीवृत्ति
करोति कृणोति करतीति वा कारुः इति च कस्याञ्चिदुणादिवृत्तौ दृश्यते। पृष्ठ ३८।	करोति कृणोति करति वा कारुः। पृष्ठ ५३।

४—आचार्य हेमचन्द्र (१२ वीं शती उत्तरार्ध) ने स्वोपज्ञ उणादिवृत्ति में दशपादी के अनेक पाठों का नाम निर्देश के विना उल्लेख किया है। यथा—

हैमोणादिवृत्ति	दशपादीवृत्ति
क—केचित्........प्रत्ययस्य दीर्घत्वमिच्छन्ति। सिमीकः—सूक्ष्मकृमिः सूत्र ४४।	स्यमेर्धातोः किकन् प्रत्ययो भवति, सम्प्रसारणं च प्रत्ययस्य। सिमीकः सूक्ष्मा कृमिजातिः। पृष्ठ १३५।
ख—परिवत्सरादीन्यपि वर्षविशेषाभिधानानीत्येके। सूत्र ४३९, पृष्ठ ७८।	एवं परिवत्सरः, त्रिवत्सरः, उद्वत्सरः, इद्वत्सरः, इदावत्सर। इद्वत्सरः अयनद्वयविषयः। पृष्ठ ३२५।

इसी प्रकार हैम धातुपारायण में भी दशपादीवृत्ति के पाठ बहुत्र निर्दिष्ट हैं।

५—क्षीरस्वामी ने स्वकीय क्षीरतरङ्गिणी में बहुत्र दशपादीवृत्ति से सहायता ली है। दोनों के पाठ बहुत्र एक समान हैं। कहीं-कहीं एके आदि द्वारा परोक्ष रूप से दशपादीवृत्ति की ओर संकेत भी किए हैं —यथा—

क्षीरतरङ्गिणी	दशपादीवृत्ति
जनिदाच्यु (उ० ४। १०४) इति मत्सः। मच्छ इत्येके।	जनिदाच्यु...(द० उ० १०। १५) ...माद्यतीति मच्छः—मत्तः पुरुषः।

६—काशिकावृत्ति का रचयिता वामन (सं० ६९५) तृतीया कर्मणि (६। २। ४८) सूत्र की व्याख्या में प्रसंगवश दशपादीवृत्ति की ओर संकेत करता है—

काशिका	दशपादीवृत्ति
आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्चेति अहिरन्तोदात्तो व्युत्पादितः। केचित्त्वाद्युदात्तमिच्छन्ति। पृष्ठ ५५१। द्रष्टव्य—ते समानेख्यः स चोदात्त इत्युदात्तग्रहणमनुवर्तयन्ति। न्यास भाग २, पृष्ठ ३५३।	आङ्युपपदे श्रि हनि इत्येताभ्यां धातुभ्यामिण् प्रत्ययो भवति डिच्च, ह्रस्वश्च, पूर्वपदस्य चोदात्तः। पृष्ठ ४१।

दशपादीवृत्ति का वैशिष्ट्य—दशपादीवृत्ति में अनेक वैशिष्ट्य हैं उनका निर्देश हमने यथास्थान स्वसम्पादित दशपादीवृत्ति में किया है। मुख्य वैशिष्ट्य इस प्रकार हैं—

१—यह वृत्ति उपलभ्यमान सभी उणादिवृत्तियों में प्राचीनतम है।

२—कौन-सा शब्द किस धातु से किस कारक में व्युत्पाद्य है, यह इस वृत्ति में सर्वत्र स्पष्ट रूप से कहा जाता है। यथा—

ऋच्छत्यर्यते वा ऋतुः कालः ग्रीष्मादिः, स्त्रीणां च पुष्पकालः। कर्त्ता कर्म च। पृष्ठ ८२।

३—पाणिनीय धातुपाठ के साम्प्रतिक पाठ में अनुपलभ्यमान बहुत-सी धातुओं का निर्देश उपलब्ध होता है। यथा—

क—···कृ करणे भौ०। करोति कृणोति करति वा कारुः। पृष्ठ २५३।

ख—धूञ् कम्पने सौ० क्रै०, धू विधूनने भौ०। धूनोति धुनाति धुवति वा धुवकः। पृष्ठ १२९, १३०।

इन पाठों में कृ और धू धातु का भ्वादिगण में पाठ दर्शाया है, परन्तु पाणिनीय धातुपाठ के साम्प्रतिक पाठ में ये भ्वादि में उपलब्ध नहीं होतीं।[1]

४—इस वृत्ति में एके केचित् अन्ये शब्दों द्वारा बहुत्र पूर्व वृत्तिकारों के मत उद्धृत हैं।[2]

५—इस वृत्ति में पृष्ठ २९,१२४,१९१,१९२,२३६ पर किसी प्राचीन ऐसे कोष के ६ श्लोक उद्धृत हैं जिन में वैदिक पदों का संग्रह भी था। पृष्ठ १९१, १९२ में जो श्लोक उद्धृत हैं वे तरसान और मन्दसान वैदिक शब्द विषयक हैं।

६—इसमें पृष्ठ १०४ पर लुग्लोपे न प्रत्ययकृतम् तथा पृष्ठ २३७ पर घुटां तृतीयश्चतुर्थेषु ये दो कातन्त्र व्याकरण के सूत्र उद्धृत हैं। कातन्त्र में ये सूत्र क्रमशः ३।८।२८, ८ पर हैं।

७—इस के पृष्ठ १३२ पर किसी काव्य का धमः काञ्चनस्येव राशिः वचन उद्धृत है।[3]

दशपादीवृत्ति के उद्धरण—दशपादीवृत्ति के उद्धरण निम्न ग्रन्थों में साक्षात् नाम निर्देश द्वारा अथवा एके अपरे शब्दों द्वारा निम्न ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं—

१—सिद्धान्त चन्द्रिका-सुबोधिनी टीका
२—उणादि प्रकरण पर व्युत्पत्तिसार टीका
३—अज्ञातनामा दशपादीवृत्ति
४—औणादिक पदार्णव
५—सिद्धान्तकौमुदीटीका-तत्त्वबोधिनी
६—सिद्धान्तकौमुदीटीका प्रौढमनोरमा
७—नरसिंहदेवकृत भाष्यटीका-विवरण (छलारी–टीका)

---

१. इनमें से 'कृन्' का भ्वादिगण में पाठ क्षीरतरङ्गिणी (१।६३९) में उपलब्ध होता है, परन्तु 'धू' का भ्वादिगण में दर्शन वहाँ भी नहीं होता।

२. एके–पृष्ठ ५६, २६७, ३१८। केचित् २२२, २९३। अन्ये–३६७।

३. तुलना करो—'धान्तो धातुः पावकस्येव राशिः' क्षीरतरङ्गिणी द्वारा उद्धृत पाठ पृष्ठ १३६ तथा इसको टिप्पणी ३, ४, ५,।

८—प्रक्रियाकौमुदी-टीका
९—माधवीया धातुवृत्ति
१०—देवराजयज्वा कृत निघण्टुटीका
११—दैवटीका—पुरुषकार
१२—हैम-उणादि वृत्ति
१३—हैम—धातुपारायण
१४—क्षीरस्वामी—क्षीरतरङ्गिणी
१५—न्यास-काशिकाविवरणपञ्जिका
१६—काशिकावृत्ति

इनमें से संख्या ३, ४ और १४ के ग्रन्थों में उद्धृत पाठों के अतिरिक्त अन्य सभी ग्रन्थों में उद्धृत पाठों का निर्देश हमने स्वसम्पादित दशपादीवृत्ति में यथास्थान कर दिया है।

२—अज्ञातनाम (सं० १२०० से पूर्व)

दशपादी उणादिपाठ की किसी अज्ञातनाम लेखक की एक वृत्ति उपलब्ध होती है। इस वृत्ति का एक मात्र हस्तलेख काशी के सरस्वती भवन के संग्रह में सुरक्षित है। हम ने इस वृत्ति का अवलोकन सन् १९४० में किया था और इस की प्रतिलिपि की थी। तात्कालिक पुस्तकालयाध्यक्ष श्री पं० नारायण शास्त्री खीस्ते के कथनानुसार उक्त हस्तलेख उन्होंने इन्दौर से प्राप्त किया था।

यह हस्तलेख नवम पाद के १६ वें सूत्र के अनन्तर खण्डित है और मध्य में भी बहुत्र जीर्ण होने से त्रुटित है। हस्तलेख के अक्षरविन्यास तथा कागज की अवस्था से विदित होता है कि यह हस्तलेख किसी महाराष्ट्रीय लेखक द्वारा लिखित है और लगभग १५० वर्ष प्राचीन है।

काल—वृत्तिकार के नाम आदि का परिज्ञान न होने से इसका देश काल भी अज्ञात है। इस वृत्ति की उणादिसूत्रों की अन्य वृत्तियों से तुलना करने पर विदित होता है कि यह वृत्ति पूर्व निर्दिष्ट दशपादीवृत्ति के आधार पर लिखी गई है। इसके साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि यह वृत्ति हेमचन्द्र विरचित उणादिवृत्ति से पूर्ववर्ती है। हमारे इस अनुमान में निम्न प्रमाण है—

दशपादी उणादि का एक सूत्र है घेट ई च (५।४३)। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए पूर्व निर्दिष्ट वृत्तिकार ने घेना शब्द का व्युत्पादन इस सूत्र से माना है। परन्तु इस अज्ञातनाम वृतिकार ने धयन्ति तामिति धीना सरस्वती माता च निर्देश करके धीना शब्द का व्युत्पादन माना है। हेमचन्द्र ने स्वोपज्ञ उणादिवृत्ति में लिखा है—ईत्वं चेत्येके; धीना। सूत्र २६८, पृष्ठ ४६।

उणादिवाङ्मय में सम्प्रति ज्ञात वृत्तिग्रन्थों में अकेली यही वृत्ति है जिसमें धीना शब्द का साधुत्व दर्शाया है, अन्य सब वृत्तियों में घेना शब्द का ही निर्देश किया है। इसलिए हेमचन्द्र ने एके शब्द द्वारा

इसी वृत्ति की ओर संकेत किया है, ऐसा हमारा अनुमान है। यदि यह अनुमान ठीक हो तो इस वृत्ति का काल सं० १२०० से पूर्व होगा।

३—विट्ठलार्य (सं० १५२०)

विट्ठल ने अपने पितामह रामचन्द्र विरचित प्रक्रियाकौमुदी पर प्रसाद नाम की टीका लिखी है। इसी टीका में उणादि प्रकरण में दशपादी उणादि पाठ पर एक अति संक्षिप्त व्याख्या लिखी है।

परिचय—विट्ठल के पिता का नाम नृसिंह और पितामह का नाम रामचन्द्र था। विट्ठल ने व्याकरण शास्त्र का अध्ययन शेषकृष्ण के पुत्र रामेश्वर अपरनाम वीरेश्वर से किया था।

काल—विट्ठल कृत प्रसाद टीका का स० १५३६ का एक हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस के संग्रहालय में सुरक्षित है। अतः विट्ठल ने वह टीका सं० १५२०–१५३० मध्य लिखी होगी।

विट्ठल तथा उसके पितामह के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ३८०–३८४ (प्र० सं०) पर्यन्त लिख चुके हैं।

इस प्रकार दशपादीपाठ के तीन ही वृत्ति ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध हैं। भट्टोजि दीक्षित द्वारा पञ्चपादी का आश्रयण कर लेने से उत्तर काल में पञ्चपादि पाठ का ही पठन-पाठन होने के कारण दशपादी पाठ और उसके वृत्ति ग्रन्थ प्रायः उत्सन्न से हो गए।

५—कातन्त्रकार (१५०० वि० पूर्व)

उणादिसूत्र प्रवक्ता—कात्यायन (विक्रम समकाल)

कातन्त्र व्याकरण के मूल प्रवक्ता ने कृदन्त शब्दों का अन्वाख्यान नहीं किया था। अतः कृदन्त भाग का प्रवचन कात्यायन गोत्रज वररुचि ने किया। यह हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४०५ (प्र० सं०) पर लिख चुके हैं। कातन्त्र व्याकरण से सम्बद्ध एक षट्पादी उणादिपाठ उपलब्ध होता है। उणादि-सूत्र कृदन्त भाग के परिशिष्ट रूप हैं। अतः कातन्त्र संबद्ध उणादिपाठ का प्रवचन भी कात्यायन वररुचि ने ही किया, यह स्पष्ट है। यह कात्यायन वररुचि महाराज विक्रम के नवरत्नों में अन्यतम है।

वृत्तिकार दुर्गसिंह (सं० ६५० से पू०)

इस उणादिपाठ पर कातन्त्र के व्याख्याता दुर्गसिंह (दुर्गसिंह) की वृत्ति है। यह वृत्ति मद्रास विश्वविद्यालय की ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुकी है।

कातन्त्र के दुर्गनामा दो व्याख्याकार प्रसिद्ध हैं एक वृत्तिकार, दूसरा वृत्तिटीकाकार। यह दुर्गसिंह वृत्तिकार दुर्गसिंह है। वृत्तिकार दुर्गसिंह काशिका वृत्तिकार से पूर्ववती है, यह हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४०८,४०९ (प्र० सं०) पर लिख चुके हैं।

प्राचीनतम हस्तलेख—कातन्त्र-उणादिपाठ का सं० १२३१ का एक हस्तलेख पाटन के ग्रन्थभण्डार में विद्यमान है। यह ज्ञात हस्तलेखों में सबसे प्राचीन है।

६—चन्द्राचार्य (१००० वि० पू०)

आचार्य चन्द्र ने स्वोपज्ञ व्याकरण से संबद्ध उणादिपाठ का भी प्रवचन किया है। इस उणादिपाठ को लिबिश ने स्वसम्पादित चान्द्र व्याकरण में उदाहरण-निर्देश पूर्वक छपवाया है।

चन्द्रगोमी के परिचय तथा काल आदि के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ४१४-४१५ तथा पृष्ठ २४३-२४५ (प्र० सं०) पर विस्तार से लिख चुके हैं।

संकलन प्रकार—चन्द्रगोमी ने अपने उणादि पाठ को तीन पादों में विभक्त किया है। इस पाठ का संकलन दशपादी के समान अन्त्यवर्ण क्रम से किया है। तृतीय पाद के अन्त में कुछ प्रकीर्ण शब्दों का संग्रह मिलता है।

ब-व का अभेद—चन्द्रगोमी ने अन्तस्थ वकारान्त गर्व शर्व अश्व लट्वा प्रभृति शब्दों का निर्देश भी पवर्गीय बान्त प्रकरण में किया है। इससे विदित होता है कि चन्द्रगोमी वंगदेशवासी है। अत एव वह पवर्गीय ब तथा अन्तस्थ व में भेदबुद्धि न रख सका।

वृत्ति—लिबिश ने अपने संस्करण में सूत्रों के साथ तत्साध्य शब्दों का अर्थ सहित निर्देश किया है। इससे विदित होता है कि उसने इस भाग का सम्पादन किसी वृत्ति के आधार पर किया है। यह वृत्ति संभवतः आचार्य चन्द्र की स्वोपज्ञ होगी।

७—क्षपणक (वि० प्र० शती)

आचार्य क्षपणक प्रोक्त शब्दानुशासन तथा तत्संबद्ध वृत्ति तथा महान्यास का निर्देश हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४२१ (प्र० सं०) पर कर चुके।

क्षपणक के परिचय तथा काल का निर्देश भी प्रथम भाग के पृष्ठ ४२० पर किया जा चुका है।

क्षपणक व्याकरण से संबद्ध कोई उणादिपाठ भी था इस का परिज्ञान उज्ज्वलदत्तीय उणादिवृत्ति (पृष्ठ ६०) में क्षपणकवृत्ति के उद्धरण से मिलता है। यह उणादिपाठ और उसकी वृत्ति निश्चय ही आचार्य क्षपणक की है। यह उणादिपाठ और वृत्तिग्रन्थ सम्प्रति अप्राप्य है।

८—देवनन्दी (सं० ५०० से पूर्व)

आचार्य देवनन्दी ने स्वोपज्ञ व्याकरण से संबद्ध उणादिपाठ का भी प्रवचन किया था। इसकी स्वतन्त्र पुस्तक इस समय अप्राप्य है। अभयनन्दी की महावृत्ति में इसके अनेक सूत्र उद्धृत हैं।[1]

काल—देवनन्दी के काल के विषय में इसी भाग के पृष्ठ १०३–१०४ पर लिख चुके हैं।

जैनेन्द्र-उणादि पाठ का आधार—जैनेन्द्र व्याकरण से पूर्व पञ्चपदी और दशपादी उणादि पाठ विद्यमान थे। पञ्चपादी के भी प्राच्य औदीच्य तथा दाक्षिणात्य तीनों पाठ भी जैनेन्द्र से पूर्ववर्ती हैं। महावृत्ति में उद्धृत कतिपय सूत्रों की इन पूर्ववर्ती उणादिपाठों के सूत्रों से तुलना करने पर विदित होता है कि जैनेन्द्र उणादिपाठ पञ्चपादी के प्राच्यपाठ पर आश्रित है। इस अनुमान में निम्न हेतु है।

अभयनन्दी ने १।१।७५ सूत्र की वृत्ति में एक उणादि-सूत्र उद्धृत किया है—अस् सर्वधुभ्यः।

पञ्चपादी प्राच्यपाठ—सर्वधातुभ्योऽसुन् ॥४।१८८॥
„ औदीच्यपाठ—असुन्। क्षीरतरङ्गिणी, पृष्ठ ९३।
„ दाक्षिणात्यपाठ—असुन्। श्वेत० ४।१९४।
दशपादी पाठ —असुन्। ९।४९ ॥

अभयनन्दी द्वारा उद्धृत पाठ पञ्चपादी के पाठ से पूरी समानता रखता है। अन्य पाठों में सर्वधातुभ्यः अंश नहीं है।

वृत्ति—मूल सूत्रपाठ के ही अनुपलब्ध होने पर तत्संबन्धी वृत्ति के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं, पुनरपि आचार्य देवनन्दी द्वारा स्वीय

---

१. द्र० पृष्ठ ३, १७, ११८, ११९ आदि। विशेष द्र० जैनेन्द्र व्याकरण महावृत्ति के आरम्भ में 'जैनेन्द्र शब्दानुशासन और उसके खिलपाठ' शीर्षक हमारा लेख।

धातुपाठ और लिङ्गानुशासन पर लिखे गये व्याख्या ग्रन्थों[1] के विषय में अनेक प्रमाण उपलब्ध होने से इस बात की पूरी संभावना है कि आचार्य ने स्वीय उणादिपाठ पर भी कोई व्याख्या लिखी हो।

९—वामन (सं० ४०० अथवा ६०० से पूर्व)

वामन विरचित शब्दानुशासन के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४२१-४२४ (प्र० सं०) पर लिख चुके हैं। वामन ने स्वशास्त्र-संबद्ध उणादि-पाठ का भी प्रवचन किया होगा और उस पर स्वशब्दानुशासनवत् वृत्ति भी लिखी होगी, इसमें सन्देह की स्थिति नहीं। वामन का उणादिपाठ इस समय अज्ञात है।

१०—पाल्यकीर्ति (सं० ८७१-९२४)

आचार्य पाल्यकीर्ति ने स्वोपज्ञ तन्त्र संबद्ध उणादि सूत्रों का भी प्रवचन किया था, यह उसके निम्न सूत्रों से स्पष्ट है—

संप्रदानाच्चोणादयः। ४।३।२७॥

उणादयः। ४।३।२८०।

चिन्तामणि नामक लघुवृत्ति के रचयिता यक्षवर्मा ने भी स्ववृत्ति के प्रारम्भ में लिखा है—उणादिकान् उणादौ······(श्लोक ११)। इससे भी पाल्य-कीर्ति-प्रोक्त उणादिपाठ की सत्ता स्पष्ट है।

पाल्यकीर्ति प्रोक्त उणादिपाठ इस समय अप्राय है।

११—भोजदेव (सं० १०७५-१११०)

भोजदेवप्रोक्त सरस्वतीकण्ठाभरण नामक शब्दानुशासन का वर्णन हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ४४१-४४६ (प्र० सं०) कर चुके हैं।

भोजीय-उणादि पाठ—भोजदेव ने अपने व्याकरण संबद्ध उणादि सूत्रों का प्रवचन किया है। यह उणादिपाठ उसके सरस्वतीकण्ठाभरण व्याकरण के द्वितीय अध्याय के १-२-३ पादों में पठित है।

---

१. धातुपाठ पर लिखे गए धातुपारायण ग्रन्थ के विषय में इसी भाग के पृष्ठ १०५ पर देखें। लिङ्गानुशासन की व्याख्या के लिए "लिङ्गानुशासन के प्रवक्ता और व्याख्याता" अध्याय देखें।

भोज का साहस—प्राचीन आचार्यों ने धातुपाठ गणपाठ उणादिसूत्र आदि का शब्दानुशासन के खिलपाठों के रूप में प्रवचन किया था। इस पृथक् प्रवचन के कारण व्याकरणाध्येता प्रायः शब्दानुशासन मात्र का अध्ययन करके खिलपाठों की उपेक्षा करते थे। उससे उत्पन्न होनेवाली हानि का विचार करके महाराज भोजदेव ने अत्यधिक उपेक्ष्य गणपाठ और उणादिपाठ को अपने शब्दानुशासन के अन्तर्गत पढ़ने का सत्साहस किया। परन्तु भोजीय शब्दानुशासन के पठनपाठन में प्रचलित न होने से उसका विशेष लाभ न हुआ।

वृत्तिकार

१—भोजदेव—हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४४३-४४४ (प्र० सं०) में लिखा है कि भोजदेव ने स्वीय शब्दानुशासन पर कोई व्याख्या ग्रन्थ लिखा था। यतः भोजीय उणादिसूत्र उसके शब्दानुशासन के अन्तर्गत है, अतः इन सूत्रों पर भी उक्त व्याख्या ग्रन्थ रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं।

२—दण्डनाथ—दण्डनाथ ने सरस्वतीकण्ठाभरण पर हृदयहारिणी नाम्नी व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या ट्रिवेण्ड्रम से प्रकाशित होने वाले सव्याख्य सरस्वतीकण्ठाभरण के तृतीय भाग में छप चुकी है। दण्डनाथकृत उणादि प्रकरण की व्याख्या मद्रास से पृथक् भी प्रकाशित हुई है।

३—रामसिंह—रामसिंह ने सरस्वतीकण्ठाभरण की रत्नदर्पण नाम्नी व्याख्या लिखी थी।

४—पदसिन्धुसेतुकार—किसी अज्ञातनामा वैयाकरण ने सरस्वतीकण्ठाभरण पर **पदसिन्धुसेतु** नाम का प्रक्रियाग्रन्थ लिखा था।

इन व्याख्याकारों के विषय में हम प्रथम भाग के पृष्ठ ४४५-४४६ (प्र० सं०) पर लिख चुके हैं।

१२—बुद्धिसागर सूरि (सं० १०८०)

आचार्य बुद्धिसागर सूरि प्रोक्त बुद्धिसागर व्याकरण का उल्लेख प्रथम भाग पृष्ठ ४४६-४४७ (प्र० सं०) पर कर चुके हैं। इस व्याकरण का नाम पञ्चग्रन्थी भी है। इस नाम से ही स्पष्ट है कि बुद्धिसागर सूरि ने शब्दानुशासन के साथ साथ चार खिल पाठों का भी प्रवचन किया था। इन खिलपाठों में एक उणादिपाठ भी अवश्य रहा होगा।

बुद्धिसागर सूरि ने अपने व्याकरण के सभी अङ्गों पर स्वयं व्याख्या ग्रन्थ भी लिखे थे।

१३—हेमचन्द्र सूरि (सं० ११४५-१२२९)

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण से संबद्ध उणादिपाठ का प्रवचन किया था और उसने उस पर स्वयं विवृति लिखी थी।[१] हस्तलेखों के अन्त में विवरण शब्द से भी इसका निर्देश मिलता है।[२]

यह उणादिपाठ सबसे अधिक विस्तृत है। इसमें १००६ सूत्र हैं। इसकी व्याख्या भी पर्याप्त विस्तृत है। इसका परिमाण २८०० अट्ठाईस सौ श्लोक है।[३]

अन्य वृत्ति—हेमोणादिवृत्ति के सम्पादक जोहन किर्स्टे ने उपोद्घात पृष्ठ २ V. संकेतित एक हस्तलेख का वर्णन किया हैं।[४] उस की मुद्रितपाठ से जो तुलना दर्शाई है,[४] उस से विदित होता है कि उक्त हस्तलेख हेमचन्द्र की बृहद्वृत्ति का संक्षेपरूप है।

इस वृत्ति का नाम उणादिगणसूत्रावचूरि है। लेखक का नाम अज्ञात हैं। हैम व्याकरण के धातुपाठ पर एक अवचूरि टीका विक्रम विजयमुनि ने सम्पादित करके प्रकाशित की है। इस ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकर्त्ता का नाम अनुल्लिखित हैं। हस्तलेख के अन्त में जयवीरगणिनाऽलेखि निर्देश मिलता है। यह प्रतिलिपिकर्ता का नाम प्रतीत होता हैं। हैम लिङ्गानुशासन पर भी एक अवचूरि नाम्नी व्याख्या छपी हुई उपलब्ध होती है। इस के लेखक का नाम भी अज्ञात है।

हैम उणादिविवरण के सम्पादक ने हस्तलेख के त्रुटितपाठ की पूर्ति इस प्रकार की हैं—सम्पूर्णा [वजयशीलगणिनालेखि]॥ शुभं......।[४]

उणादिनाममाला—इस उणादिवृत्ति के लेखक का नाम शुभशील है। इस का काल १५ वीं शती का उत्तरार्ध हैं।

१४—क्रमदीश्वर (सं० १३०० से पूर्व)

क्रमदीश्वरप्रोक्त संक्षिप्तसार अपरनाम जौमर व्याकरण के विषय में इस ग्रन्थ

---

१. आचार्यहेमचन्द्रः करोति विवृतिं प्रणम्यार्हम्। प्रारम्भिक श्लोक।

२. इत्याचार्यहेमचन्द्रकृतं स्वोपज्ञोणादिगणविवरणं समाप्तम्॥ छ॥ ग्रन्थमाने शत २८०० अष्टविंशति शतानि।.........हेमोणादिवृत्ति, जोहन किर्स्टे सम्पा०, उपोद्घात पृष्ठ १।

३. द्र० टिप्पणी २।

४. हैमोणादि भूमिका पृष्ठ २।

के प्रथम भाग पृष्ठ ४५२, ४४३ (प्र० सं०) में लिख चुके हैं। क्रमदीश्वर ने स्व-तन्त्र संवद्ध उणादिपाठ का भी प्रवचन किया था।

वृत्तिकार

१—**क्रमदीश्वर-जुमरनन्दी**—क्रमदीश्वर ने स्वीय शब्दानुशासन पर एक वृत्ति लिखी है, जिस का परिशोधन जुमरनन्दी ने किया है। उसी के अन्तर्गत उणादिसूत्रों पर भी वृत्ति है। इस का एक हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस पुस्तकालय के संग्रह में है। उसके अन्त का पाठ इस प्रकार है—

इति श्रीक्रमदीश्वरकृतौ जुमरनन्दिपरिशोधितायां वृत्तौ उणादिपादः समाप्तः।[1]

२—**शिवदास**—शिवदास चक्रवर्ती ने जौमर व्याकरण सम्बद्ध उणादिपाठ पर एक वृत्ति लिखी है। इस का एक हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह सूचीपत्र के पृष्ठ ७६०६ पर निर्दिष्ट है। इस का दूसरा हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग १ खण्ड २ संख्या ७७१ पर उल्लिखित है।

१९—सारस्वत-व्याकरणकार (सं० १३०० के समीप)

सारस्वत व्याकरण से संवद्ध उणादि सूत्र उपलब्ध होते हैं। इन का प्रवक्ता अनुभूतिस्वरूपाचार्य है। कई इन्हें सिद्धान्तचन्द्रिका के लेखक रामाश्रम प्रोक्त मानते हैं।

यह उणादिपाठ पांच पादों में विभक्त है। इस में ३८१ सूत्र हैं।

व्याख्याकार

हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४५४, ४५५ पर सारस्वत के २० व्याख्याकारों का उल्लेख किया है, उनमें से किस किसने इन उणादिसूत्रों पर व्याख्या लिखी यह अज्ञात है। यदि ये उणादिसूत्र रामाश्रम प्रोक्त ही हों तो इन पर निम्न व्याख्या ग्रन्थ ही लिखे गए।

१—**रामाश्रम**—रामाश्रम ने सारस्वत सूत्रों पर सिद्धान्तचन्द्रिका नाम्नी व्याख्या लिखी है। उसमें उणादिसूत्रों की भी यथास्थान व्याख्या की है। यह रामाश्रम भट्टोजि दीक्षित का पुत्र भानुजि दीक्षित ही है, ऐसा ग्रन्थकारों का

---

१. इण्डिया आफिस पुस्तकालय, सूचीपत्र भाग १ खण्ड २, संख्या ८३६।

मत है।[1] यदि यह मत ठीक हो तो इसका काल सं० १६०० के लगभग होगा।

२—लोकेशकर—लोकेशकर ने सिद्धान्तचन्द्रिका पर तत्त्वदीपिका नाम्नी व्याख्या लिखी है। उसमें यथाप्रकरण उणादिसूत्र व्याख्यात हैं।

लोकेशकर के पिता का नाम क्षेमकर और पितामह का नाम रामकर था।

३—सदानन्द—सदानन्द ने सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी टीका का अनुसरण करके सिद्धान्तचन्द्रिका पर सुबोधिनी नाम्नी एक टीका लिखी है। यह टीका पूर्व निर्दिष्ट तत्त्वदीपिका से अच्छी है।

सदानन्द ने सुबोधिनी की रचना सं० १७९९ में की थी।

लोकेशकर और सदानन्द की दोनों टीकाएँ काशी से प्रकाशित हो चुकी हैं।

४—व्युत्पत्तिसारकार—किसी अज्ञातनामा लेखक की व्युत्पत्तिसार नाम की एक व्याख्या इस उणादि पर मिलती है। इसके लेखक ने सम्पूर्ण सिद्धान्त-चन्द्रिका पर व्याख्या लिखी अथवा उणादिभाग मात्र पर, यह अज्ञात है।

देश—इस व्याख्या का लेखक पञ्जाब प्रान्त का निवासी है, यह इस वृत्ति में पञ्जाबी शब्दों के निर्देश से व्यक्त होता है। यथा—

छज्ज इति भाषा पृष्ठ ७७, अक्क पृष्ठ ८०, सरों पृष्ठ ८८, इट्टां पृष्ठ ९०, चिक्कड़ पृष्ठ १११, छानणी पृष्ठ १५२।[2]

काल—इस वृत्ति का एक हस्तलेख भूतपूर्व लालचन्द पुस्तकालय डी० ए० वी० कालेज लाहौर, वर्तमान में विश्वेश्वरानन्द अनुसन्धान विभाग होशियारपुर में विद्यमान है। उसके अन्त में निम्न पाठ है।

१९३० मास ज्येष्ठशुदि चतुर्दश्यां तिथौ लिपि कृतं गणपतिशर्मणा।

इस निर्देश से इतना स्पष्ट है कि इस व्याख्या की रचना सं० १९३० से पूर्व हुई है। यह व्याख्या पूर्व निर्दिष्ट सुबोधिनी से प्रायः मिलती है।

अन्य हस्तलेख—इसके एक हस्तलेख का निर्देश हम ऊपर कर चुके। उसकी हमने स्वयं एक प्रतिलिपि की थी। तदनन्तर इसका एक हस्तलेख बारहदरी–शाहदरा लाहौर के समीप विरजानन्द आश्रम में निवास करते हुए

---

१. काशी मुद्रित सारस्वतचन्द्रिका भाग २ की भूमिका, पृष्ठ २।
२. यह पृष्ठ संख्या हमारे हस्तलेख की है।

हमें रावी के जलप्रवाह से प्राप्त कतिपय पुस्तकों के मध्य उपलब्ध हुआ था। यह हस्तलेख अपूर्ण है। हमारे संग्रह में सुरक्षित है।

यह टीका इस समय तक अप्रकाशित है।

१६—पद्मनाभदत्त (सं० १४००)

पद्मनाभदत्त के सुपद्म व्याकरण का उल्लेख इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४५६ (प्र० सं०) पर कर चुके हैं। पद्मनाभदत्त ने स्वीय-तन्त्र-संबद्ध उणादि-पाठ का भी प्रवचन किया था।

वृत्तिकार

१—पद्मनाभदत्त—पद्मनाभदत्त ने अपने उणादिसूत्रों पर स्वयं एक वृत्ति लिखी है। उसका एक हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग १, खण्ड २, संख्या ८९१ पर निर्दिष्ट है। उसका प्रारम्भ का पाठ इस प्रकार है—

प्रणम्य गोपीजनवल्लभं हरिं सुपद्मकारेण विधीयतेऽधुना।
अचोऽत्वकादिक्रमतोऽज्झलयोरुणादिवृत्तेरिति सारसंग्रहः॥
बुधैरुणादेर्बहुधा कृतोऽस्ति यो मनीषिदामोदरदत्तसूनुना।
सुपद्मनाभेन सुपद्मसम्मतं विधिः समग्रः सुगमं समस्यते॥

......गोपीजनवल्लभं प्रणम्य इदानीं सुपद्मकारेण उणादिवृत्तिरिति सारसंग्रहो विधीयते।

पद्मनाभदत्त ने इस उणादिवृत्ति की सूचना अपनी परिभाषावृत्ति में भी दी है।

इस प्रकार विज्ञातसम्बन्ध उणादिपाठों के प्रवक्ताओं और व्याख्याताओं का वर्णन करके अनिर्ज्ञात-सम्बन्ध उणादिसूत्रों के वृत्तिकारों का वर्णन करते हैं—

अनिर्ज्ञातसंबन्ध वृत्ति वा वृत्तिकार

१—उत्कलदत्त

उत्कलदत्त विरचित उणादिवृत्ति का एक हस्तलेख 'मध्य प्रान्त और बरार' (सेण्ट्रल प्रोविंस एण्ड बरार) के हस्तलेख सूचीपत्र (सन् १९२६) के संख्या ४८७ पर निर्दिष्ट है।

इस वृत्ति के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ नहीं जानते। यह संभावना है कि कहीं नामभ्रंश से उज्ज्वलदत्त का उत्कलदत्त न बन गया हो।

२—उणादिविवरणकार

अलवर राजकीय हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र में संख्या ११२४ पर एक उणादिटीका निर्दिष्ट है। इसके कर्ता का नाम अज्ञात है। टीका के आरम्भ का श्लोक इस प्रकार है—

विधाय गुरुपादयोः प्रणतिमार्तदुःखोच्छिदो यथामति
विरच्यते विवरणं ह्युनाद्यकृतिः (ह्युणाद्याकृतेः)।
समस्तबुधसद्दशा प्रथितिमेतदेतु त्वरा
परोपकृतिहेतुकं यदि समस्तमोदप्रदम्॥ १॥

इस आद्य श्लोक से विदित होता है कि इस टीका का नाम **विवरण** है।

३—उणादिवृत्तिकार

मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र के पृष्ठ ७६०९ पर अनिर्ज्ञात-कर्तृक उणादिवृत्ति का एक हस्तलेख निर्दिष्ट है।

४—हरदत्त

आफ्रेक्ट ने अपनी बृहद् हस्तलेख सूची में हरदत्त विरचित **उणादि-सूत्रोद्घाटन** नाम की वृत्ति का उल्लेख किया है। इसका उल्लेख हमें अन्यत्र कहीं नहीं मिला।

हरदत्त नाम का एक प्रसिद्ध वैयाकरण काशिका की पदमञ्जरी नाम्नी व्याख्या का लेखक है। उणादिसूत्रोद्घाटन का लेखक यदि यही हरदत्त हो तो यह वृत्ति सम्भवतः पञ्चपादी पाठ पर रही होगी और इसका काल सं० १११५ होगा।

पदमञ्जरीकार हरदत्त ने परिभाषापाठ पर **परिभाषा-प्रकरण** नामक एक ग्रंथ लिखा था[1] (इसके विषय में आगे 'परिभाषा पाठ के प्रवक्ता और

१—एतच्चास्माभिः परिभाषाप्रकरणाख्ये ग्रंथ उपपादितम्। पदमञ्जरी भाग २ पृष्ठ ४३७।

व्याख्याता' नामक अध्याय में लिखेंगे)। इससे इस बात की अधिक संभावना है कि यह वृत्ति पदमञ्जरीकार हरदत्त विरचित हो।

५—गङ्गाधर

६—व्रजराज

इन दोनों वैयाकरणों द्वारा विरचित उणादिवृत्ति का उल्लेख आफ्रेक्ट ने अपनी बृहत् हस्तलेख सूची में किया है। इनके विषय में हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

इस प्रकार उणादिसूत्रों के प्रवक्ता और व्याख्याताओं का वर्णन करके अगले अध्याय में लिङ्गानुशासन के प्रवक्ता और व्याख्याताओं का वर्णन करेंगे।

पच्चीसवां अध्याय

लिङ्गानुशासन के प्रवक्ता और व्याख्याता

स्त्रीत्व पुंस्त्व आदि लिङ्ग जैसे प्राणिजगत् के प्रत्येक व्यक्ति के संस्थान के साथ संबद्ध हैं उसी प्रकार स्त्रीत्व पुंस्त्व आदि लिङ्ग प्रत्येक नाम शब्द के अविभाज्य अङ्ग हैं। इसलिए लिङ्गानुशासन शब्दानुशासन का एक अवयव है। उसके अनुशासन के विना शब्द का अनुशासन अधूरा रहता है। इतना होने पर भी लिङ्गानुशासन, धातुपाठ, गणपाठ और उणादिपाठ के समान शब्दानुशासन के किसी विशिष्ट सूत्र अथवा सूत्रों के साथ संबद्ध नहीं है। उसे तो शब्दानुशासन का साक्षात् अवयव ही मानना होगा। इसी लिए प्रायः प्रत्येक शब्दानुशासन के प्रवक्ता ने स्व-तन्त्र-संबद्ध लिङ्गानुशासन का भी प्रवचन किया। कतिपय ऐसे भी ग्रन्थकार हैं, जिन्होंने शब्दशास्त्र का प्रवचन न करते हुए लिङ्गज्ञान की कठिनाई को दूर करने के लिए केवल लिङ्गानुशासनों का ही प्रवचन किया। यथा हर्षवर्धन तथा वामन आदि ने।

प्राक्पाणिनीय लिङ्गानुशासन-प्रवक्ता

पाणिनि से पूर्ववर्ती जितने शब्दानुशासन-प्रवक्ताओं का हमें परिज्ञान है, उनमें से केवल दो ही आचार्य ऐसे हैं जिन्होंने स्व-तन्त्र संबद्ध लिङ्गानुशासन का भी प्रवचन किया था। वे हैं शन्तनु और व्याडि।

अब हम परिज्ञात लिङ्गनुशासन प्रवक्ता और व्याख्याताओं का क्रमशः वर्णन करते हैं—

शन्तनु (२९०० वि० पूर्व)

आचार्य शन्तनु ने किसी पञ्चाङ्ग व्याकरण का प्रवचन किया था, यह हम फिट्सूत्रों के प्रवक्ता और व्याख्याता नाम के अध्याय में लिखेंगे। शान्तनव उणादिपाठ का निर्देश हम पूर्व अध्याय में कर चुके हैं। आचार्य शन्तनु ने स्व-तन्त्र संबद्ध किसी लिङ्गानुशासन का भी प्रवचन किया था। इस बात की पुष्टि हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासन के सम्पादक वे० वेङ्कटराम शर्मा के उपोद्घात (पृष्ठ ३४) से होती है।

२—व्याडि (२८५० वि० पूर्व)

आचार्य व्याडि प्रोक्त शब्दानुशासन के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ९१-९३ (प्र० सं०) तक लिख चुके हैं। व्याडि के परिचय देश काल आदि के विषय में हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ १९४—२०० तक विस्तार से प्रतिपादन किया है, पाठक इस विषय में वहीं देखें।

लिङ्गानुशासन

आचार्य व्याडि विरचित लिङ्गानुशासन का उल्लेख अनेक लिङ्गानुशासन के प्रवक्ताओं ने किया है। यथा—

१—हेमचन्द्राचार्य स्वोपज्ञ लिङ्गनुशासन-विवरण में लिखता है—

[शङ्कु-] पुंसि व्याडिः, स्त्रियां वामनः, पुन्नपुंसकोऽयमिति बुद्धिसागरः। पृष्ठ १०३, पं० १४, १५।

२—वामन स्वीय लिङ्गानुशासन के अन्त में लिखता है—

व्याडिप्रणीतमथ वाररुचं सचान्द्रं......। श्लोक ३१।

३—हर्षवर्धन स्वप्रोक्त लिङ्गानुशासन के अन्त में पूर्वाचार्यों का निर्देश करता हुआ लिखता है—

व्याडेः शङ्करचन्द्रयोर्वररुचेर्विधानिधेः पाणिनेः। श्लोक ८७।

इन उल्लेखों से आचार्य व्याडि का लिङ्गानुशासन-प्रवक्तृत्व स्पष्ट है। व्याडि-प्रोक्त लिङ्गानुशासन की इतनी प्रसिद्धि होने पर भी हमें अद्य यावत् उसका कोई ऐसा उद्धरण नहीं मिला, जिस से उसके स्वरूप की साक्षात् प्रतिपत्ति हो सके। वामन के निम्न वचन से व्याडि-प्रोक्त लिङ्गानुशासन के विषय में कुछ प्रकाश पड़ता है—

सूत्रबद्ध—वामन ने स्वीय लिङ्गानुशासन की वृत्ति में लिखा है—

पूर्वाचार्यैर्व्याडिप्रमुखैर्लिङ्गानुशासनं सूत्रैरुक्तं, ग्रन्थविस्तरेण च। पृष्ठ २।

विस्तृत—व्याडि का लिङ्गानुशासन अतिविस्तृत था, इसका निर्देश वामन ने स्वोपज्ञ वृत्ति के आरम्भ में भी किया है—

व्याडिप्रमुखैः प्रपञ्चबहुलम्......। पृष्ठ १।

इससे अधिक व्याडि के लिङ्गानुशासन के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

३—पाणिनि (२८००वि० पूर्व)

पाणिनि ने स्वशब्दानुशासन से संबद्ध लिङ्गानुशासन का भी प्रवचन किया था। यह लिङ्गानुशासन सम्प्रति उपलब्ध है और एतद्विषयक प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में यही अवशिष्ट है। यह सूत्रात्मक है।

कीथ का निर्युक्तिक कथन—कीथ ने विना किसी प्रकार की युक्ति वा प्रमाण उपस्थित किए लिखा है—

पाणिनि के नाम से प्रसिद्ध लिङ्गानुशासन इतना प्राचीन नहीं हो सकता।[1]

प्राचीन परम्परा—पाणिनीय तथा उत्तरवर्ती वैयाकरण सम्प्रदाय के सभी लेखक इस बात में पूर्ण सहमत हैं कि वर्तमान में पाणिनीय रूप से स्वीकृत लिङ्गानुशासन का प्रवक्ता आचार्य पाणिनि ही है। निदर्शनार्थ हम हरदत्त का एक पाठ उद्धृत करते हैं—

अप्सुमनःसमासिकतावर्षाणां बहुत्वं चेति पाणिनीये सूत्रम्। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ४९४।

यह पाणिनीय लिङ्गानुशासन का २९ वां सूत्र है। इसी प्रकार पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ २२ भी द्रष्टव्य है।

कात्यायन तथा पतञ्जलि—महाभाष्यकार ने ७।१।३३ में कात्यायन के **नवा लिङ्गाभावात्** वार्तिक की व्याख्या करते हुए लिखा है—**अलिङ्गे युष्मदस्मदी।**

कात्यायन के वार्तिक और पतञ्जलि के व्याख्यान की पाणिनीय लिङ्गानुशासन के **अविशिष्टं लिङ्गम्, अव्ययं कतियुष्मदस्मदः** (अन्तिम प्रकरण) सूत्रों के साथ तुलना करने से स्पष्ट है कि कात्यायन और पतञ्जलि इस पाणिनीय लिङ्गानुशासन से परिचित थे।

इस प्रकार सम्पूर्ण परम्परा के विपरीत कीथ का निर्युक्तिक और प्रमाण-रहित प्रतिज्ञामात्र लेख सर्वथा हेय है। कतिपय पाश्चात्य विद्वानों का यह षड्यन्त्र है कि वे भारतीय प्रामाणिक ग्रन्थों को भी विना प्रमाण के अप्रामाणिक कहते रहें, जिससे भारतीय वाङ्मय की अप्रामाणिकता बद्धमूल हो जाये। क्योंकि ये लोग राजनीति के इस तत्त्व को जानते हैं कि एक असत्य बात को भी बराबर कहते रहने पर वह सत्यवत् समझ ली जाती है। आज भारतीय

१. हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ५१३।

ऐतिहासिक विद्वान् प्रायः ऐसे ही असत्य रूप से प्रतिष्ठापित ऐतिह्य को सत्य समझ कर आँख मीच कर प्रमाण मान रहे हैं।

व्याख्याकार

१—भट्ट उत्पल

१—भट्ट उत्पल ने पाणिनीय लिङ्गानुशासन पर एक व्याख्या लिखि थी। इसका साक्षात् उल्लेख हमें कहीं नहीं मिला। हर्षवर्धन के लिङ्गानुशासन के सम्पादक वे० वेङ्कटराम शर्मा ने इसका निर्देश किया है।[1]

इसका देश कालादि अज्ञात है।

२—रामचन्द्र (सं० १४८० के लगभग)

रामचन्द्राचार्य ने प्रक्रियाकौमुदी के अन्तर्गत पाणिनीय लिङ्गानुशासन की एक व्याख्या की है। रामचन्द्र के कालादि के विषय में हम पूर्व लिख चुके हैं।

३—भट्टोजिदीक्षित (सं० १५१०-१५७५)

भट्टोजि दीक्षित ने पाणिनीय लिङ्गानुशासन पर दो वृत्तियाँ लिखी हैं। एक शब्दकौस्तुभ-अन्तर्गत, द्वितीय सिद्धान्तकौमुदी के अन्त में।

शब्दकौस्तुभान्तर्गत—शब्दकौस्तुभ के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ पाद के लिङ्गप्रकरण में प्रसंगात् लिङ्गानुशासन की टीका की है।

सिद्धान्तकौमुदी के अन्त में—एक वृत्ति सिद्धान्तकौमुदी के अन्त में लिखी है।

इन दोनों में सिद्धान्तकौमुदी की अपेक्षा शब्दकौस्तुभ-अन्तर्गत वृत्ति कुछ अधिक विस्तृत है।

टीकाकार—सिद्धान्तकौमुदी के अन्त में वर्तमान लिङ्गानुशासन वृत्ति पर किस किस टीकाकार ने टीकाएँ लिखीं, यह अज्ञात है।

भैरव मिश्र—हाँ, भैरव मिश्र प्रणीत एक टीका प्रायः पठन-पाठन में व्यवहृत होती है। भैरव मिश्र के पिता का नाम भवदेव मिश्र था। यह अगस्त्य कुल का था। इसका काल सं० १८५०—१९०० के मध्य है।

४—नारायण भट्ट (सं० १६१७-१७३३)

नारायण भट्ट ने स्वीयप्रक्रियाकौमुदी के अन्तर्गत पाणिनीय लिङ्गानुशासन पर वृत्ति लिखी थी।

---

1. हर्ष कृत लिङ्गानुशासन, निवेदना, पृष्ठ ३५।

नारायण भट्ट के काल आदि के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ३९२, ३९३ (प्र० सं०) पर लिख चुके।

५—अज्ञातनामा (सं० १८२५ से पूर्व)

पाणिनीय लिङ्गानुशासन की एक वृत्ति विश्वेश्वरानन्द संस्थान होशियारपुर के संग्रह में है। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है।

इस हस्तलेख के अन्त में निम्न पाठ है—

इति पाणिनीयलिङ्गानुशासनवृत्तौ अव्ययाधिकारः। इति लिङ्गानुशासनवृत्तिः समाप्ता। संवत् १८२५ श्रावणवदि १३ दिने सम्पूर्णं कृतं लिखितं पठनार्थम्। देवी सहाय। द्र० हस्तलेख सूची भाग २, पृष्ठ ८६, ग्रन्थसंख्या ११६२।

इससे इतना अनुमान हो सकता है कि इस वृत्ति की रचना सं० १८२५ से पूर्व हुई है। क्योंकि सं० १८२५ में लेखक ने पठनार्थ इसे लिखा है, अतः सं० १८२५ इसका प्रतिलिपि काल है।

६—नारायण सुधी (सं० १८००)

नारायण सुधी ने अष्टाध्यायी पर शब्दभूषण नाम्नी एक व्याख्या लिखी है। इसने तृतीय अध्याय द्वितीय पाद के अन्त में उणादि और षष्ठाध्याय के द्वितीय पाद के अन्त में फिट् सूत्रों की व्याख्या की है, यह हम पञ्चपादी उणादि-व्याख्याकार के प्रसंग में लिख चुके। इससे अनुमान होता है कि द्वितीय अध्याय के चतुर्थ पाद के अन्तर्गत लिङ्गप्रकरण के पश्चात् पाणिनीय लिङ्गानुशासन की भी व्याख्या की होगी, जैसे भट्टोजि ने शब्दकौस्तुभ में की है।

७—तारानाथ तर्कवाचस्पति (सं० १९३०)

बंगाल के प्रसिद्ध वैयाकरण तारानाथ तर्कवाचस्पति ने पाणिनीय लिङ्गानुशासन की एक व्याख्या लिखी है। यह अन्य व्याख्याओं से कुछ विस्तृत है।

पाणिनीय लिङ्गानुशासन का पाठ

लिङ्गानुशासन की उपलब्ध वृत्तियों के अवलोकन से विदित होता है कि पाणिनीय लिङ्गानुशासन का सूत्रपाठ अत्यधिक भ्रष्ट हो गया है।

चन्द्रगोमी (१००० वि० पूर्व)

चन्द्रगोमी-प्रोक्त लिङ्गानुशासन के पाठ हैम लिङ्गानुशासन के स्वोपज्ञ-विवरण तथा सर्वानन्द के अमरटीकासर्वस्व आदि अनेक ग्रन्थों में उद्धृत

मिलते हैं। सर्वानन्दोद्धृत निम्न

'धारान्धकारशिखरसहस्राङ्गारतोरणाः' इति पुन्नपुंसकाधिकारे चन्द्रगोमी। भाग २, पृष्ठ ४७।

तथा च चन्द्रगोमी—'ईदूदन्ता य एकाच इदन्ताङ्गानि देहिनः' इति। भाग ४।१७४।

पाठों से विदित होता है कि यह लिङ्गानुशासन छन्दोबद्ध था। यह इस समय अप्राप्य है।

चान्द्रवृत्ति—चन्द्राचार्य ने स्वीय शब्दानुशासन के समान अपने लिङ्गानुशासन पर एक वृत्ति लिखी थी।

५—वररुचि (विक्रम समकाल)

वररुचि नाम के वैयाकरण ने आर्या छन्द में लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया है। यह लिङ्गानुशासन मूल और किसी वृत्ति के संक्षेप के साथ हर्षवर्धन के लिङ्गानुशासन के अन्त में छपा है।

वररुचि का काल—वररुचि के लिङ्गानुशासन के अन्त में निम्न पाठ उपलब्ध होता है—

इति श्रीमद्वाग्विलासमण्डितसरस्वतीकण्ठाभरणानेकविशरणश्रीनरपतिसेवितविक्रमादित्यकिरीटकोटिनिघृष्टचरणारविन्दाचार्यवररुचिविरचितो लिङ्गविशेषविधिः समाप्तः।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि यह वररुचि विक्रमादित्य का सभ्य था। अतः इसका काल वही है, जो संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य का है।

लिङ्गानुशासन का नाम—उक्त उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ का नाम लिङ्गविशेषविधि है।

सबसे प्राचीन उद्धरण—इस लिङ्गविशेषविधि का सबसे प्राचीन उद्धरण जिनेन्द्र विरचित काशिकाविवरणपञ्जिका ७।१।१८ पृष्ठ ६३१ में मिलता है—

तथा चाह लिङ्गकारिकाकारः—ईदूदन्तं यच्चैकाच् शरद्दरद्दृषत्प्रावृषश्चेति।

यह लिङ्गविशेषविधि की द्वितीय आर्या का पूर्वार्ध है।

हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासन की व्याख्या में—लिङ्गविशेषविधि का ८ वां श्लोक हर्षवर्धन की पृथिवीश्वर की व्याख्या में उद्धृत है।

यदुक्तम्—दीधितिमेकां मुक्त्वा रश्म्यभिधानं तु पुंस्येव। पृष्ठ ६।

टीकाकार

वाररुच लिङ्गविशेषविधि की टीका का एक हस्तलेख विश्वेश्वरानन्द संस्थान होशियारपुर के संग्रह में विद्यमान है। इस टीका के लेखक का नाम अज्ञात है। परन्तु इस ग्रन्थ की अन्तिम पुष्पिका के पाठ से ध्वनित होता है कि यह टीका वररुचि की स्वोपज्ञ है। पाठ इस प्रकार है—

इति श्रीमदखिलवाग्विलास..........निघृष्टचरणारविन्दाचार्य-वररुचिविरचिता लिङ्गविशेषविधिटीका सम्पूर्णा।

द्रष्टव्य हस्तलेख सूची, भाग २, पृष्ठ ४२१, ४२२, ग्रन्थ संख्या ५६०८।

अन्य हस्तलेख—इसी संस्थान के संग्रह में वाररुच लिङ्गानुशासन के तीन हस्तलेख और भी हैं। इनकी संख्या ३२७४, ३२७५, ३२८२ है (द्र० भाग १, पृष्ठ ६७) इनके रचयिता का नाम अज्ञात है।

संख्या ३२७४ तथा ३२८२ के कोश वाररुच लिङ्गानुशासन की वृत्ति के हैं। इनमें संख्या ३२७४ का हस्तलेख संक्षिप्त वृत्ति का है। यह प्रायः शुद्ध है। इसका लेखनकाल शक १७८० अर्थात् सं० १८१५ है। दूसरा सं० ३२८२ का हस्तलेख विस्तृत वृत्ति का है। यह प्रायः अशुद्ध है। इसका लेखनकाल सं० १९१६ है। ये दोनों संक्षिप्त और विस्तृत वृत्ति एक ही व्यक्ति की प्रतीत होती हैं। इन्हें हमने लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय में सन् १९३८ में देखा था।

वाररुच कोश—इस लिङ्गानुशासन का वररुचि-कोश के नाम से एक व्याख्या-सहित संस्करण लीथो पर काशी से प्रकाशित हुआ था। इस संस्करण में वररुचि के **यावान् कश्चित् त्रान्तः** श्लोक से पूर्व १० श्लोक छपे हैं। ये श्लोक व्याख्याकार के हैं। भूल से लिङ्गानुशासन के श्लोकों के साथ श्लोक क्रमसंख्या छप गई है। ये श्लोक वररुचि के नहीं हैं, यह निम्न श्लोक से स्पष्ट है—

> दृष्ट्वा जैमिनिकोशसूत्ररचनां कात्यायनीयं मतम्,
> व्यासीयं कविशङ्करप्रभृतिभिर्यद्भाषितं निश्चयात्।
> यच्चानन्दकविप्रवीररचितं बद्धं च यद्दण्डिना,
> यद्वात्स्यायनशाश्वतादिकथितं कुर्वेऽभिधानाद्भुतम्॥७॥

ये श्लोक ऊपर निर्दिष्ट लिङ्गानुशासन वृत्ति के संख्या ३२८२ के हस्तलेख में भी निर्दिष्ट हैं। इस से भी स्पष्ट है कि ये श्लोक वृत्तिकार के हैं।

६—अमरसिंह (विक्रम कालिक)

अमरसिंह ने स्वीय कोश के तृतीय काण्ड के पाँचवें वर्ग में 'लिङ्गादि-संग्रह' किया है।

भारतीय परम्परा के अनुसार अमरसिंह महाराज विक्रम का सभ्य है। पाश्चात्य और उनके अनुयायी विद्वान् अमरसिंह को सं० ३००–४०० के लगभग मानते हैं।[1]

७—देवनन्दी (सं० ५०० से पूर्व)

देवनन्दी आचार्य ने स्वव्याकरण से संबद्ध लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया था। इसका साक्षात् उल्लेख वामन ने स्वलिङ्गानुशासन के अन्त में इस प्रकार किया है—

> व्याडिप्रणीतमथ वाररुचं सचान्द्रम्,
> जैनेन्द्रलक्षणगतं विविधं तथाऽन्यत्। श्लोक ३१।

जैनेन्द्र लिङ्गानुशासन के नन्दी के नाम से अनेक उद्धरण हैमलिङ्गानुशासन के स्वोपज्ञ विवरण में मिलते हैं। यह लिङ्गानुशासन इस समय अप्राप्य है।

८—शंकर (सं० ६५० से पूर्व)

हर्षवर्धन ने अपने लिङ्गानुशासन के अंत में शंकर प्रोक्त लिङ्गानुशासन का निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

> व्याडेः शङ्करचन्द्रयोर्वररुचेर्विद्यानिधेः पाणिनेः।
> सूक्ताँल्लिङ्गविधीन् विचार्य सुगमं श्रीवर्धनस्यात्मजः॥ ९७॥

शंकर कृत लिङ्गानुशासन का उल्लेख वाररुचलिङ्गविशेषविधि की टीका के आरम्भ में भी मिलता है।[2]

अस्पष्ट संकेत—वि० सं० ६५० के लगभग वर्तमान शाश्वत ने 'अनेकार्थ-समुच्चय' नामक कोश लिखा। उसके आरम्भ में लिखा है—

> दृष्टशिष्टप्रयोगोऽहं दृष्टव्याकरणत्रयः।
> अधीती सदुपाध्ययाल्लिङ्गशास्त्रेषु पञ्चसु॥ ६॥

इन पांच लिङ्गशास्त्रों में से व्याडि, पाणिनि, चन्द्र और वररुचि के चार लिङ्गानुशासन निश्चित ही शाश्वत से पूर्ववर्ती हैं, पांचवाँ लिङ्गशास्त्र यदि शङ्कर का अभिप्रेत हो (जिसकी अधिक सम्भावना है) तो शङ्कर का काल सं० ६५० से पूर्व निश्चित हो जाता है।

अन्य शङ्कर—शंकर के नाम से प्रक्रियासर्वस्व में अनेक उद्धरण मिलते हैं। ये उद्धरण धर्मकीर्ति के रूपावतार के टीकाकार शंकरराम की नीवि नाम्नी

---

१. शाश्वत कोश की भूमिका, पृष्ठ २। २. द्र० पूर्व पृष्ठ २३०।

टीका के हैं। अतः लिङ्गशास्त्र प्रवक्ता शङ्कर रूपावतार टीकाकार शंकरसे भिन्न अति प्राचीन ग्रन्थकार है।

शङ्कर और उसके लिङ्गानुशासन के विषय में हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

६—हर्षवर्धन (सं० ६५०-७०४)

हर्षवर्धन प्रोक्त लिङ्गानुशासन जर्मन भाषा अनुवाद सहित जर्मनी से पहले छप चुका है। तत्पश्चात् इसकी व्याख्या तथा अनेक परिशिष्टों सहित पं० वे० वेंकटराम शर्मा द्वारा संपादित उत्तम संस्करण मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित हो चुका है।

काल— हर्षवर्धन ने अपना विशेष परिचय नहीं दिया। केवल श्रीवर्धन-स्यात्मजः इतना ही कहा है। अनेक विद्वानों के मत में यह हर्षवर्धन बाण आदि का आश्रयदाता प्रसिद्ध महाराज श्रीहर्ष है।[1] श्रीहर्ष का राज्यकाल सं० ६५७–७०४ तक माना जाता है। श्रीहर्ष के पिता प्रभाकरवर्धन का 'वर्धन' वीरुत् हो सकता है।

आफ्रेक्ट इस मत को स्वीकार नहीं करता। हर्षवर्धन के लिङ्गानुशासन के सम्पादक का मत भी भिन्न है। उनका कथन है कि टीकाकार ने 'ग्रन्थकार द्वारा पादग्रहण पूर्वक व्याख्या लिखने का आग्रह किया'[2] ऐसा लिखा है। महाराज हर्षवर्धन जैसे सम्राट् का टीकाकार से पादग्रहणपूर्वक निवेदन करना असम्भव है। अतः इसका लेखक कोई अन्य हर्षवर्धन है।[3]

हमारे विचार में सम्पादक के कथन में कोई गुरुत्व नहीं है। भारतीय इतिहास में 'बड़े बड़े सम्राट् विद्वानों के चरणों में नतमस्तक होते रहे हैं। वररुचि के लिङ्गानुशासन का जो अन्तिमपाठ वररुचि के प्रकरण में उद्धृत किया है, उसमें भी विक्रमादित्यकिरीटकोटिनिघृष्टचरणारविन्दाचार्यवररुचि-विरचितो० उल्लेख है। अतः पादग्रहणपूर्वकम् निर्देश मात्र से अन्य हर्ष की कल्पना अन्याय्य है।

कुछ भी हो, इसमें प्रसिद्ध वामनीय लिङ्गानुशासन का निर्देश न होने से उस से यह प्राचीन है। इतना स्पष्ट है।

---

१. निवेदाना, पृष्ठ ३७।

२. प्रार्थितः शास्त्रकारेण पादग्रहणपूर्वकम्। लिङ्गानुशासनव्याख्यां करोति पृथ्वीश्वरः। पृष्ठ २।

३. निवेदना, पृष्ठ ३७।

टीकाकार

हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासन की जो टीका छपी है। उसके रचयिता के नाम के सम्बन्ध में कुछ विवाद है और वह विवाद हस्तलेखों के द्विविध पाठ पर आश्रित है।

पं० वेङ्कटराम शर्मा को इस टीका के जो तीन हस्तलेख मिले हैं, उन के अन्त में भट्टभरद्वाजसूनोः पृथिवीश्वरस्य कृतौ पाठ मिलता है। तदनुसार व्याख्याकार का नाम पृथिवीश्वर और उसके पिता का नाम भट्ट भरद्वाज विदित होता है।

जर्मन संस्करण के सम्पादक के पास जो हस्तलेख था, उसमें उक्त पाठ के स्थान पर भट्टदीप्तस्वामिसूनोः बलवागीश्वरस्य शबरस्वामिनः पाठ था।

हर्षवर्धन के लिङ्गानुशासन का सर्वार्थलक्षणा टीका सहित एक हस्तलेख जम्मू के रघुनाथ मन्दिर में है। उस के सूचीपत्र में टीकाकार का नाम शबर-स्वामी दीपिस्वामिपुत्रः लिखा है (पृष्ठ ४६)। यदि यह नामोल्लेख मूल हस्तलेख के आश्रित है, तब इस का विशेष महत्त्व है।

१–वन्द्यघटीय सर्वानन्द ने अमरकोश २।६।९१ के सृक्कणी पद पर लिखा है–

सक्थ्यस्थिदधिसृक्व्यक्षि इत्यादिना इदन्तमपि शबरस्वामी पठति। भाग २, पृष्ठ ३५२।

यह पाठ लिङ्गानुशासन के मुद्रित पाठ में ५ वीं कारिका में मिलता है। टीका में इदं सृक्वि–ओष्ठ पर्यन्तः रूप में व्याख्यात है।

२– उज्ज्वलदत्त ने उणादि ४।११७ की टीका में शबर का निम्न पाठ उद्धृत किया है—

वितर्दिर्वेदिनन्द्य इति शबरस्वामी। पृष्ठ १७४।

इस पाठ के लिए लिङ्गानुशासन के सम्पादक ने लिखा है—

तत्तु वाक्यं प्रकृतटीकायां नोपलभ्यते। निवेदना पृष्ठ ४१।

अर्थात उज्ज्वलदत्त उद्धृत वाक्य टीका में नहीं मिलता।

हमारे विचार में सम्पादक का लेख ठीक नहीं है। इस लिङ्गानुशासन के पृष्ठ ८ की व्याख्या में निम्न पाठ है—

वेदिः वितर्दिः। नान्दिः पूर्वरङ्गः।

उज्ज्वल वृत्ति के मुद्रित पाठ जितने भ्रष्ट हैं उन को देखते हुए कहा जा

सकता कि उज्ज्वलदत्त द्वारा शबर के नाम से उद्धृत पाठ इस टीका का ही है।

३—केशव के नानार्थार्णवसंक्षेप भाग १ पृष्ठ १४९ में शबर स्वामी उद्धृत है। वह सम्भवतः हर्ष लिङ्गानुशासन का टीकाकार ही है। हमारे पास यह कोश इस समय नहीं है। इसलिए निर्णय करने में असमर्थ हैं।

इस प्रकार नामद्वैध के कारण टीकाकार के नाम का निश्चय करना अत्यन्त कठिन है।

एक संभावना—एक संभावना यह हो सकती है कि हर्षवर्धन के लिङ्गानुशासन पर दोनों लेखकों ने व्याख्या लिखी हो, परन्तु एक दूसरे के आधार पर लिखी गई व्याख्याओं में पाठों के प्रायः समान होने से दोनों व्याख्याओं का सांकर्य हो गया हो।

१०—दुर्गसिंह (सं० ७०० से पूर्व)

दुर्गसिंह विरचित एक लिङ्गानुशासन डेक्कन कालेज पूना से प्रकाशित हुआ है। इसकी व्याख्या भी दुर्गसिंह कृत ही है।

तन्त्र-संबन्ध—इस लिङ्गानुशासन का संबन्ध कातन्त्र व्याकरण के साथ है। यह इस की व्याख्या में कातन्त्र सूत्रों के उद्धरणों से स्पष्ट है।

एक अनिर्दिष्ट मूल सूत्र—लिङ्गानुशासन कारिका ५२ की व्याख्या में ङणना ह्रस्वोपधाः स्वरे द्विः सूत्र उद्धृत है। सम्पादक ने इस के मूलस्थान का निर्देश नहीं किया है। यह कातन्त्र १।५।७ का सन्धिप्रकरण का सूत्र है।

परिचय—दुर्गसिंह के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ४०८–४१९ (प्र० स०) तक लिख चुके हैं।

अनेक नाम—दुर्गसिंह ने इस ग्रन्थ के अन्त में अपने दुर्गात्मा दुर्ग दुर्गप नाम दर्शाए हैं—

दुर्गसिंहोऽथ दुर्गात्मा दुर्गो दुर्गप इत्यपि।
यस्य नामानि तेनैव लिङ्गवृत्तिरियं कृता॥ ८७॥

काल—हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ४०८–४१३ (प्र० सं०) में दुर्गसिंह के काल विषय में चिन्तन करते हुए लिखा है कि कातन्त्र सम्प्रदाय में दो दुर्ग हैं। एक वृत्तिकार, दूसरा वृत्ति-टीकाकार। वृत्तिकार का काल वि० ७०० से पूर्व है और टीकाकार का काल सम्भवतः ९ वीं शताब्दी है। लिङ्गानुशासन के सम्पादक दत्तात्रेय गङ्गाधर कोपरकर एम. ए. ने लिङ्गानुशासनकार दुर्ग का काल ई० सन् ९००–९५० माना है (भूमिका पृष्ठ १२)। हमारे

विचार में लिङ्गानुशासन का प्रवक्ता वृत्तिकार दुर्ग है, न कि टीकाकार दुर्ग। अतः इसका काल वि० सं० ७०० से पूर्व ही मानना उचित है।

११—वामन (सं० ८५१-८७०)

वामन ने एक लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया है और इस पर स्वोपज्ञ वृत्ति भी लिखी है। इस लिङ्गानुशासन में केवल ३३ कारिकाएँ हैं। इस दृष्टि से यह लिङ्गानुशासन सब से संक्षिप्त है। ग्रन्थकार ने स्वयं कहा है—

लिङ्गानुशासनमहं वच्म्यार्याभिः समासेन॥१॥

इसकी व्याख्या में लिखा है—

पूर्वाचार्यैर्व्याडिप्रमुखैर्लिङ्गानुशासनं सूत्रैरुक्तम् ग्रन्थविस्तरेण च। अहं पुनरार्याभिर्वच्मि सुखग्रहणार्थम्। वररुचिप्रभृतिभिरप्याचार्यैरार्याभिरभिहितमेव, तदतिबहुना ग्रन्थेन–इत्यहं तु समासेन संक्षेपेण वच्मि। पृष्ठ २॥

अर्थात्—व्याडि आदि पूर्वाचार्यों ने लिङ्गानुशासन का प्रवचन सूत्रों में किया था और विस्तार से। मैं आर्या छन्दों में कहता हूँ, सुख से ग्रहण करने के लिए। वररुचि प्रभृति आचार्यों ने भी आर्या से लिङ्गानुशासन का कथन किया ही है, पर वह विस्तार से है, इसलिए मैं संक्षेप से कहता हूँ।

परिचय—वामन ने अपना कोई परिचय नहीं दिया। अतः इसका वृत्त अन्धकारमय है।

काल—वामन ने अपनी छठी आर्या की वृत्ति में जगत्तुङ्गसभा का निर्देश किया है। अनेक ऐतिहासिक विद्वान् इस निर्देश में कश्मीर अधिपति जयापीड, जिसका राज्य काल सं० ८५९-८७९ तक था, का संकेत मानते हैं। इस प्रकार वे अलंकार शास्त्रप्रणेता वामन और लिङ्गानुशासनकार वामन को एक मानते हैं।

यद्यदि दोनों वामनों का ऐक्य अभी सन्देहास्पद है, तथापि इतना स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि लिङ्गानुशासनकार वामन सं० ९०० से उत्तरवर्ती किसी भी प्रकार नहीं है। वामन ने अपने ग्रन्थ में ८ वीं शती से उत्तरकालीन किसी भी ग्रन्थ का उद्धरण अपनी वृत्ति में नहीं दिया है। हाँ, पृष्ठ ८ पर ८ वीं कारिका की वृत्ति में धर्म शब्द के विषय में लिखा—

धर्मशब्दः धर्मसाधने योगादौ वाच्ये। इदं धर्मम्। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् (ऋग्वेद १-१६४-४३)।

इसी अभिप्राय की एक पंक्ति हर्ष के लिङ्गानुशासन की व्याख्या में मिलती है—

क्रतौ धर्मम्—क्रतौ धर्मक्रतौ यज्ञे तत्साधने वर्तमानं धर्मं नपुंसकम्। यथा–तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। पृष्ठ ३४।

निश्चय ही इन दोनों पक्तियों में कोई किसी की आधार भूत है। हमारे विचार में वामन की पंक्ति का आधार हर्षलिङ्गानुशासन वृत्ति की पंक्ति है। अतः वामन हर्ष से उत्तरवर्ती है। यह हमारा विचारमात्र है। स्थिति इससे विपरीत भी हो सकती है। उस अवस्था में वामन का काल सं० ७०० से पूर्व होगा।

हर्ष लिङ्गानुशासन के सम्पादक का साहस—हर्ष लिङ्गानुशासन के सम्पादक वे० वेङ्कटराम शर्मा ने उक्त पंक्ति के विषय में लिखा है—

परन्तु लौकिकसंस्कृतभाषायाः पदानां लिङ्गान्यनुशासितुमारब्धस्य ग्रन्थस्य व्याख्यानाय प्रवृत्तः एकत्र धर्मशब्दस्य नपुंसकतां दर्शयितुं "तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्" लौकिकसंस्कृतातिगं वाक्यमुदाजहार इतीदं मन्यामहे व्याख्याकारस्यैकमतिसाहसमिति। भूमिका पृष्ठ ४०।

अर्थात्–लौकिक संस्कृत भाषा के पदों के लिङ्गों के अनुशासन के लिए आरब्ध ग्रन्थ के व्याख्यान में प्रवृत्त व्याख्याकार ने धर्म शब्द की नपुंसकलिङ्गता को दर्शाने के लिए तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् इस वैदिक वाक्य को उद्धृत किया है, हम समझते हैं यह व्याख्याकार का एक अति साहस है।

हमारे विचार में व्याख्याकार का अति साहस नहीं है, अपितु सम्पादक महोदय का व्याख्याकार का अति साहस दिखाना ही, अतिसाहस है।

हर्षवर्धन ने अपने ग्रन्थ में कहीं नहीं कहा कि 'मैं केवल लौकिक संस्कृत के पदों के लिङ्गों का ही अनुशासन करूँगा। पाणिनीय व्याकरण को प्रमाण मानकर चलने वाले लिङ्गानुशासनों में पाणिनीय शब्दानुशासनवत् लौकिकों की प्रधानता तो कही जा सकती है, परन्तु वैदिक पदों के अन्वाख्यान का परित्याग नहीं कहा जा सकता। हर्ष और वामन दोनों ही पाणिनीय शब्दानुशासन के अनुयायी हैं। इसलिए उनके द्वारा धर्म शब्द की नपुंसकता दर्शाने के लिए वैदिक मन्त्र का निर्देश करना किसी प्रकार अति साहस नहीं कहा जा सकता, अपितु उसे उचित ही कहना होगा। इतना ही नहीं, केवल लौकिक शब्दों के लिङ्गानुशासन में प्रवृत्त शाकटायन के लिङ्गानुशासन की व्याख्या में भी धर्मशब्द के अपूर्व साधन अर्थ में नपुंसकत्व दर्शाने के लिए यही मन्त्र उद्धृत है।[1]

---

१. 'धर्ममपूर्वनिमित्ते' (श्लोक २०) की व्याख्या में। द्रष्टव्य–मद्रासीय हर्षलिङ्गानुशासन, परिशिष्ट, पृष्ठ १२६।

वामन ने तो १६ वीं आर्या की वृत्ति में मासविशेषाणां नाम–शुचिः शुक्रः नभस्यः आदि अन्य छान्दस पदों का भी निर्देश किया है। मासवाची शुचि शुक्रः नभस्य शब्द छान्दस हैं, इसमें पाणिनीय अष्टाध्यायी ४।४।१२८ सूत्र और उसके वार्तिक प्रमाण हैं। काशिकाकार आदि सभी छन्दसि पद की अनुवृत्ति उक्त सूत्र में मानते हैं।

वामन और उसके लिङ्गानुशासन के विषय में हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

१२–पाल्यकीर्ति (सं० ८७१–९२४)

पाल्यकीर्ति ने स्व-तन्त्र संबद्ध लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया था। यह पद्यबद्ध है। हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासन के मद्रास संस्करण के अन्त में शाकटायन लिङ्गानुशासन किसी वृत्ति के संक्षेप के साथ मुद्रित है। इसमें ७० श्लोक छपे हैं। परन्तु अन्तिम वाग्विषयस्य तु महतः श्लोक शाकटायन-लिङ्गानुशासन का नहीं है। यह वररुचि के लिङ्गानुशासन का अन्तिम श्लोक है (केवल श्लोक के अन्त्यपद में भेद है)। काशी मुद्रित शाकटायन लघुवृत्ति के अन्त में मुद्रित लिङ्गानुशासन में यह श्लोक नहीं है।

शाकटायन के विषय में विस्तार से पूर्व लिखा जा चुका है।

शाकटायनीय लिङ्गानुशासन में कहीं कहीं पूर्वाचार्यों की संज्ञाओं का भी निर्देश है। यथा—

क—४६ वें श्लोक में—ङेर्थसोगुणिवत्। इस पर टीकाकार ने लिखा है—स इति पूर्वाचार्याणां समासस्याख्या।[1]

ख—६७ वें श्लोक में—प्रकृतिलिङ्गवचनानि। इस पर टीकाकार लिखता है—वचनमिति संख्यायाः पूर्वाचार्यसंज्ञा।[2]

वृत्तिकार

इस लिङ्गानुशासन पर किसी वैयाकरण ने व्याख्या लिखी थी। उस व्याख्या का संक्षेप हर्षवर्धन के लिङ्गानुशासन के मद्रास संस्करण के अन्त में छपा है। यह व्याख्या किसकी है, यह अज्ञात है। पर हमारा विचार है कि

---

१. द्रष्टव्य—हर्षलिङ्गानुशासन, मद्रास संस्क०, पृष्ठ १२७। तुलना करो—राजासे (पा० गण ५।१।१२८) पुरुषासे (पा० गण ५।१।१३०) हृदयासे (पा० गण ५।१।१३०), वाजासे (पा० गण ४।१।१०५)।

२. हर्षलिङ्गानुसाशन, मद्रास सं०, पृष्ठ १२८।

यह व्याख्या मूलग्रन्थकार की अपनी है, अथवा यक्षवर्मा की हो सकती है।

इससे अधिक इस लिङ्गानुशासन और उसकी वृत्ति के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

यक्षवर्मा

शाकटायन लिङ्गानुशासन पर यक्षवर्मा की टीका का उल्लेख हर्ष लिङ्गानुशासन के सम्पादक ने निवेदना पृष्ठ ३४ पर किया हैं।

१३—भोजदेव (सं० १०७५-१११०)

श्री भोजदेव ने स्व-तन्त्र संबद्ध लिङ्गानुशासन का भी प्रवचन किया था। इसका निर्देश हर्षलिङ्गानुशासन के संपादक श्री वेंकटराम शर्मा ने निवेदना पृष्ठ ३४ पर किया है। यह लिङ्गानुशासन हमारे देखने में नहीं आया।

१४—बुद्धिसागर सूरि (सं० १०८०)

बुद्धिसागर सूरि के पञ्चग्रन्थी शब्दानुशासन का उल्लेख इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ४४६-४४७ (प्र० सं०) पर कर चुके हैं। उन पञ्च ग्रन्थों में लिङ्गानुशासन भी अन्यतम है।

बुद्धिसागर का लिङ्गानुशासन हमारी दृष्टि में नहीं आया। हां, आचार्य हेमचन्द्र ने स्वीय लिङ्गानुशासन के स्वोपज्ञ विवरण में इसे अनेक स्थानों पर उद्धृत किया है। यथा—

१—मन्थः गण्डः। पुन्नपुंसकोऽयमिति बुद्धिसागरः। पृष्ठ ४ पं० ५॥

२—शंकु—पुंसि व्याडिः, स्त्रियां वामनः, पुन्नपुंसकोऽयमिति बुद्धिसागरः। पृष्ठ १०३, पं० १५॥

३—खलः खलम्—पिण्याकः दुर्जनश्च। दुर्गबुद्धिसागरौ। पृष्ठ १३३, पं० २२।

इससे अधिक बुद्धिसागर प्रोक्त लिङ्गानुशासन के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

१५—अरुणदेव = अरुण (सं० १२०० से पूर्व)

अरुण अथवा अरुणदेव अथवा अरुणदत्त नामा वैयाकरण ने एक लिङ्गानुशासन लिखा था। इसका उल्लेख हेमचन्द्र ने स्वीय लिङ्गानुशासन के विवरण में अनेक स्थानों पर किया है। यथा—

वल्कः वल्कम्—तरुत्वक्। पुंस्यपीति कश्चित्। क्लीबे हर्षारुणौ। पृ० ११७, पं० २४।

व्याख्याकार—अरुणदेव ने स्वीय लिङ्गानुशासन पर कोई वृत्ति भी लिखी थी। उसके पाठ को आचार्य हेमचन्द्र असकृत् उद्धृत करता है। यथा—

यदरुणः—प्रधी रोगविशेषः। पृष्ठ ६८ पं० ११।

अरुणदत्त के गणपाठ का निर्देश हम 'गणपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता' प्रकरण में (पृष्ठ १६३) कर चुके हैं।

अरुण के लिङ्गानुशासन के विषय में इससे अधिक हम कुछ नहीं जानते।

१६—हेमचन्द्र सूरि (सं. ११४५–१२२९)

आचार्य हेमचन्द्र ने स्वीय पञ्चाङ्ग शब्दानुशासन से संबद्ध लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया है। यह लिङ्गानुशासन अन्य सभी लिङ्गानुशासनों की अपेक्षा विस्तृत है। इसमें विविध छन्दोयुक्त १३८ श्लोक हैं।

व्याख्याकार

१—हेमचन्द्र—आचार्य हेमचन्द्र ने स्वीय शब्दानुशासन के समान इस लिङ्गानुशासन पर भी एक बृहत् स्वोपज्ञ **विवरण** लिखा है। इसकी दुर्गपद-प्रबोध टीका में इस का वृत्ति नाम से भी उल्लेख किया है। इस विवरण का ग्रन्थ मान ३६८४ श्लोक है।

२—कनकप्रभ—कनकप्रभ ने हैम बृहद्वृत्ति पर न्यासोद्धार अपर नाम लघुन्यास नाम्नी टीका लिखी है। इसी में हैम लिङ्गानुशासन पर **अवचूरि** नाम से व्याख्या की है।

काल—कनकप्रभ के गुरु देवेन्द्र, देवेन्द्र के उदयचन्द्र और उदयचन्द्र के हेमचन्द्र सूरि थे। अतः कनकप्रभ का काल वि० १३ वीं शती है।

३—जयानन्द सूरि—जयानन्द सूरि विरचित हैम लिङ्गानुशासन की वृत्ति का निर्देश "जैन-सत्य प्रकाश" वर्ष ७ दीपोत्सवी अंक पृष्ठ ८८ पर मिलता है। हर्ष लिङ्गानुशासन के सम्पादक ने इस ग्रन्थ का नाम लिङ्गानुशासनवृत्त्युद्धार लिखा है (निवेदन पृष्ठ ३४)। इस नाम से यह हैमवृत्ति की व्याख्यारूप प्रतीत होता है। हम इसके विषय में अधिक नहीं जानते।

४—केसरविजय—केसरविजय महाराज ने भी हैमलिङ्गानुशासन पर एक वृत्ति लिखी है। यह मुद्रित हो चुकी है। इसका उल्लेख विजयक्षमाभद्र सूरि सम्पादित हैम लिङ्गानुशासन-विवरण के निवेदन पृष्ठ ११ पर मिलता है।

विवरणव्याख्याकार—वल्लभगणि

हैम लिङ्गानुशासन-विवरण पर आचार्य वल्लभगणि ने एक सुन्दर संक्षिप्त व्याख्या लिखी है।

परिचय—वल्लभगणि ने अपने आचार्य का नाम ज्ञानविमल उपाध्याय मिश्र लिखा है और अपना वाचनाचार्य विशेषण दिया है।

काल—ग्रन्थ के अन्त में निर्दिष्ट ४-५-६ श्लोकों से विदित होता है कि यह व्याख्या अकबर के राज्य-काल में जोधपुर में सूरसिंह राजा के शासन समय में, जब खरतरगच्छ में जिनसिंह आचार्य रूप से सुशोभित थे, तब सं० १६६१ कार्तिक मास में पूर्ण हुई थी। अतः यही काल वल्लभगणि का है।

व्याख्या-नाम—वल्लभगणिने अपनी व्याख्या का नाम **दुर्गपदप्रबोधा** लिखा है।

परिमाण—अन्तिम श्लोक में दुर्गपदप्रबोधा का ग्रन्थमान दो सहस्र श्लोक कहा है।

१७—हेलाराज (१४ वीं शती से पूर्व)

हेलाराजकृत लिङ्गानुशासन का निर्देश सायण ने अपनी माधवीय धातुवृत्ति में किया है।

इसके विषय में इससे अधिक हमें कुछ ज्ञात नहीं।

१८—रामसूरि

रामसूरि विरचित **लिङ्गनिर्णयभूषण** नाम का एक ग्रन्थ मद्रास के राजकीय हस्तलेख संग्रह तथा अडियार के पुस्तकालय में सुरक्षित है। ग्रन्थ के आरम्भ में लिखा है—

वाणीं प्रणम्य शिरसा बालानां ज्ञानसिद्धये।
स्त्रीपुन्नपुंसकं स्वल्पं वक्ष्यते शास्त्रनिश्चितम्॥
तोरूरिविष्णुविदुषः सूनुना रामसूरिणा।
विरच्यते बुधश्लाघ्यं लिङ्गनिर्णयभूषणम्॥

अन्त में पाठ है—

इति रामसूरिविरचितायां बालकौमुद्यां लिङ्गनिर्णयः समाप्तः।

इन पाठों से ज्ञात होता है कि रामसूरि ने कोई "बालकौमुदी" ग्रन्थ बनाया था, उसी का एक देश यह लिङ्गनिर्णयभूषण है।

अडियार हस्तलेख के उपरिनिर्दिष्ट पाठानुसार रामसूरि के पिता का नाम "तोरूरि विष्णु" था। मद्रास के सूचीपत्रानुसार "तोनोरि विष्णु" है।

१९—वेङ्कटरङ्ग

वेङ्कटरंग विरचित **लिङ्गप्रबोध** नाम के ग्रन्थ के दो हस्तलेख अडियार के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। सूचीपत्र-व्याकरणविभाग, संख्या ४१०,४११।

२०-२१—अज्ञातनामा

२०—लिङ्गकारिका—हर्षीय लिङ्गानुशासन के सम्पादक वेङ्कटराम शर्मा ने अपनी निवेदना पृष्ठ ३४ में किसी अज्ञात नाम लेखक के लिङ्गकारिका नामक ग्रन्थ का निर्देश किया है और लिखा है कि इसे वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में उद्धृत किया है। यदि यह निर्देश ठीक हो तो इस लिङ्गकारिका का काल सं० ११९७ से पूर्व होगा। ऐसी अवस्था में यह भी सम्भव है कि यह कारिका वररुचि प्रभृति प्राचीन आचार्यों में से किसी की हो।

२१—लिङ्गनिर्णय—अडियार के पुस्तकालय में किसी अज्ञातनामा लेखक का लिङ्गनिर्णय ग्रन्थ विद्यमान है। देखो सूचीपत्र, व्याकरणविभाग, सं० ४१२।

२२—नवकिशोर शास्त्री (सं० १९८८)

सारस्वत व्याकरण में लिङ्गानुशासन नहीं है। चौखम्भा ग्रन्थमाला काशी से सं० १९८८ में प्रकाशित सारस्वतचन्द्रिका के सम्पादक पं० नवकिशोर शास्त्री ने सारस्वत व्याकरण की इस न्यूनता की पूर्ति के लिए पाणिनीय लिङ्गानुशासन के आधर पर लिङ्गानुशासन सूत्रों की रचना की, और उन पर स्वयं वृत्ति तथा 'चक्रधर' नाम्नी टिप्पणी लिखी। इसका संकेत सम्पादक ने स्वयं चन्द्रिका के उत्तरार्ध में अपनी भूमिका के अन्त में किया है।

इस प्रकार परिज्ञात और उपलब्ध लिङ्गानुशासनों के प्रवक्ता और व्याख्याताओं का निर्देश करके अगले अध्याय में परिभाषा-पाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता आचार्यों का वर्णन करेंगे।

छब्बीसवां अध्याय

परिभाषा-पाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता

पाणिनीय तथा उसके उत्तरवर्ती शब्दानुशासनों से संबद्ध परिभाषा-पाठ नामक एक संग्रह मिलता है। इन परिभाषापाठों में परिभाषाओं की संख्या में कुछ न्यूनाधिक्य, स्व-स्वतन्त्रानुकूल कुछ पाठ-भेद और क्रम-भेद दिखाई पड़ता है, अन्यथा सब कुछ प्रायः एक जैसा है।

परिभाषा का लक्षण—वैयाकरण परिभाषा का लक्षण **अनियमप्रसंगे-नियमकारिणी परिभाषा**[1] ऐसा करते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने पारिभाषिक की भूमिका में **परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते**[2] ऐसा लक्षण किया है।

पहले लक्षण के अनुसार 'अनियम की प्राप्ति होने पर नियम करने वाले सूत्र वा नियम परिभाषा' कहाती हैं। द्वितीय लक्षण के अनुसार जो सूत्र अथवा नियम सारे शास्त्र में आगे पीछे सर्वत्र अपने नियमों का बखान करें, वे परिभाषा कहाते हैं।

महाभाष्यकार ने परिभाषा को भी एक विशिष्ट प्रकार का अधिकार माना है। षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४८) सूत्र की व्याख्या में लिखा है—

अधिकारो नाम त्रिप्रकारः। कश्चिदेकदेशस्थः सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्वं वेश्म अभिज्वलयति।

अर्थात्—अधिकार तीन प्रकार का होता है। उनमें कोई एक देश में स्थित होकर सारे शास्त्र को प्रकाशित करता है, जैसे अच्छे प्रकार से प्रज्वलित दीपक सारे घर को (कमरे को) प्रकाशित करता है।

---

१. द्र०—परिभाषेयं स्थानिनियमार्था। अनियमप्रसङ्गे नियमो विधीयते। काशिका १।१।३॥

२. तुलना करो—परितो व्यापृता भाषा परिभाषा। सा ह्येकदेशस्था सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति यथा वेश्म प्रदीप इति। पुरुषोत्तम-परिभाषावृत्ति के 'क' संज्ञक हस्तलेख का पाठ टिप्पणी में द्रष्टव्य, राजशाही (बंगाल) संस्करण।

कैयट ने भाष्य के उक्त पाठ की व्याख्या करते हुए लिखा है—कश्चिदिति—परिभाषारूप इत्यर्थः।

वस्तुतः दोनों लक्षणों में शब्दमात्र का भेद है तात्त्विक भेद नहीं है।

परिभाषा का द्वैविध्य—उक्त प्रकार के नियम वचन दो प्रकार के हैं। एक पाणिनीय आदि शास्त्रों में सूत्र रूपसे पठित। दूसरे सूत्र आदि से ज्ञापित अथवा न्यायसिद्ध आदि।

इस अध्याय में दूसरी प्रकार की परिभाषाओं के ही प्रवक्ता और व्याख्याताओं का वर्णन किया जाएगा।

परिभाषाओं का प्रामाण्य—द्वितीय प्रकार की परिभाषाएं सूत्रपाठ से बहिर्भूत होती हुई भी सूत्रादि द्वारा ज्ञापित होने से, दूसरे शब्दों में सूत्रकार द्वारा उन नियमों के स्वीकृत होने से वे सूत्रवत् प्रमाण मानी जाती हैं और उनमें सूत्रवत् असिद्धादि कार्य होते हैं।

परिभाषाओं का त्रैविध्य—ये परिभाषाएं तीन प्रकार की हैं—

१—**ज्ञापित**—जो परिभाषाएं किसी सूत्र से ज्ञापित होती हैं, वे ज्ञापित कहाती हैं। यथा—**व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति०**।

२—**न्यायसिद्ध**—जो परिभाषाएं लौकिक न्यायानुकूल होती हैं, वे न्यायसिद्ध कहाती हैं। यथा—**गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः**।

३—**वाचनिक**—जो परिभाषाएं न तो सूत्र द्वारा ज्ञापित हैं और नाही न्यायसिद्ध हैं, वे वाचनिक मानी जाती हैं।

वाचनिक के दो भेद—वाचनिक परिभाषाएं दो प्रकार की हैं। एक तो वे जो वार्तिककार के वचन ही परिभाषा रूप से स्वीकृत कर लिए गए हैं, और दूसरी वे जो भाष्यकार के वचन हैं।

कात्यायनवचन—परिभाषावृत्तिकार सीरदेव ने बहुत्र लिखा है—

अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थ०.........। **इदं च कात्यायनवचनं परिभाषारूपेण पठ्यते**। परिभाषावृत्ति, पृष्ठ १२१।

पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने।.........**सर्वस्य द्वे (८।१।१) इत्यत्र सूत्रे कात्यायनवाक्यमिदं परिभाषारूपेण पठ्यते**। परिभाषावृत्ति, पृष्ठ १६१।

पतञ्जलिवचन—पुरुषोत्तमदेव लिखता है—**अन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्गं बलवत्-विप्रतिषेधसूत्रे (१।४।२) इयं परिभाषा भाष्यकारेण पठिता**। परिभाषावृत्ति पृष्ठ २१ (राजशाही)।

४—**मिश्रित**—कतिपय परिभाषाएं ऐसी भी हैं, जिनका एक देश सूत्रकार द्वारा ज्ञापित होता है और एक देश न्यायसिद्ध। यथा—

सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वमन्यत्र विकरणेभ्यः। इस परिभाषा का पूर्वभाग न्यायसिद्ध है और **अन्यत्र विकरणेभ्यः** अंश **तास्यनुदात्तेन्ङिद०** (६।१।१८६) सूत्र द्वारा ज्ञापित है।

कतिपय मिश्रित परिभाषाएं ऐसी भी हैं जिनका एक देश सूत्रकार द्वारा ज्ञापित होता है और शेष अंश पूर्वाचार्यों द्वारा वचनरूप में पठित। यथा—**गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः** परिभाषा का 'उपपदांश' तथा 'सुबुत्पत्ति से पूर्व समासविधान' भाग उपपदमतिङ् सूत्र के अतिङ्ग्रहण से ज्ञापित होता है, शेष अंश पूर्वाचार्यों का वाचनिक था, वह स्वीकार कर लिया है।[1]

परिभाषाओं का मूल

पाणिनीय तथा इतर वैयाकरणों द्वारा आश्रीयमाण परिभाषाओं का मूल क्या है, यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते। सामान्यतया इतना ही कह सकते हैं कि इन परिभाषाओं का मूल प्राचीन वैयाकरणों के सूत्रपाठों के विशिष्ट सूत्र हैं।

सीरदेव लिखता है—**परिभाषा हि नाम न साक्षात् पाणिनीयवचनानि। किं तर्हि नानाचार्याणाम्।** परिभाषावृत्ति, पृष्ठ १८६।

इसी प्रकार कैयट (प्रदीप ६।२।४९), हरदत्त (पद० भाग १, पृष्ठ ४०३) तथा सायण (भू धातु पर) ने परिभाषाओं को पूर्वाचार्यों के वचन कहा है।

ये परिभाषाएँ प्राचीन वैयाकरणों के शब्दानुशासनों में सूत्र अथवा उन के व्याख्यान रूप वचन हैं।[2] संभवतः इसी पक्ष को स्वीकार कर के श्रीभोजदेव ने

---

१. द्रष्टव्य—गतिकारकोपपदानामिति परिभाषा पूर्वाचार्यैः पठिता, सूत्रकारेणाप्यतिङ्ग्रहणेन तद्देश आश्रिता। पद० भाग १, पृष्ठ ४०३। तुलना करो—'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणं भवति' के विषय में कैयट लिखता है—पूर्वाचार्यैस्तावदेषा परिभाषा पठिता, इह त्वनन्तरग्रहणेन सैवाभ्यनुज्ञायते। प्रदीप ६।२।४९। इस पर नागेश कहता है—एकदेशानुमितिद्वारा कृत्स्ना परिभाषा ज्ञाप्यते।

२. द्र० प्राचीनवैयाकरणतन्त्रे वाचनिकानि। परिभाषेन्दुशेखर के आरम्भ में।

परिभाषाओं को अपने सरस्वतीकण्ठाभरण रूप शब्दानुशासन में पुनः अन्तर्निहित कर लिया।[1]

परिभाषापाठ के विषय में इतना सामान्य निर्देश करने के पश्चात् परिभाषा-पाठ के विशिष्ट प्रवक्ताओं और व्याख्याताओं का वर्णन करते हैं—

पाणिनीय वैयाकरणों से आश्रित

१—व्याडि (२८५० वि० पूर्व)

पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा आश्रित परिभाषा वचन यद्यपि पूर्वाचार्यों के सूत्र रूप हैं, तथापि इनको एक व्यवस्थित रूप से संगृहीत करने और पाणिनीय तन्त्र के अनुरूप इनके स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाला कौन आचार्य है, इस पर विचार करने से विदित होता है कि सम्भवतः आचार्य व्याडि ने परिभाषापाठ को प्रथमतः व्यवस्थित रूप दिया हो। हमारी इस सम्भावना में निम्न हेतु हैं—

१—डी० ए० वी० कालेज लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय (वर्तमान में विश्वेश्वरानन्द संस्थान होशियारपुर) में परिभाषापाठ के दो हस्तलेख विद्यमान हैं। इन के अन्त में लिखा है—

केचित्तु व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरित्यादयः सर्वाः परिभाषा व्याडिमुनिना विरचिता इत्याहुः।[2]

२—इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में भास्कर भट्ट के किसी अन्तेवासी विरचित परिभाषावृत्ति का एक हस्तलेख है।[3] उसके आरम्भ में लिखा है—

केचित् व्याख्यानत इति परिभाषा व्याडिमुनिविरचिता इत्याहुः।

३—ट्रिवेण्ड्रम से प्रकाशित नीलकण्ठ दीक्षित की परिभाषापाठ की लघुवृत्ति के आरम्भ में लिखा है—

इदं भर्तृहरिवचनम्। केचित्तु व्याख्यानत इत्यादिपरिभाषा व्याडि-विरचिता इत्याहुः।

४—जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के हस्तलेख संग्रह में व्याडीय पभिाषा-वृत्ति नाम का एक ग्रन्थ विद्यमान है। द्रष्टव्य सूचीपत्र पृष्ठ ३७।

---

१. प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद में मध्य मध्य में परिभाषाओं का संग्रह किया है।

२. संग्रह संख्या ३२७७, ३२७२।

३. सूचीपत्र, भाग १, खण्ड २, ग्रन्थ नं० ६७३।

५—महामहोपाध्याय काशीनाथ अभ्यंकर उपलभ्यमान समस्त परिभाषा-पाठों तथा उनकी वृत्तियों का परिभाषा-संग्रह नाम से एक संग्रह ग्रन्थ प्रकट कर रहे हैं। उनके इस संग्रह में प्रथम ग्रन्थ है **व्याडिकृतं परिभाषा-सूचनम्** और दूसरा **व्याडिपरिभाषा-पाठ**।

इनमें प्रथम ग्रन्थ सव्याख्य है। द्वितीय ग्रन्थ के अन्त में लिखा है—

इति व्याडिविरचिताः पाणिनीयपरिभाषाः समाप्ताः। पृष्ठ ४३।

इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है कि व्याडि ने किसी परिभाषापाठ का संग्रह अथवा प्रवचन किया था।

व्याडि के परिभाषा पाठ का संबन्ध साक्षात् पाणिनीय तन्त्र से था अथवा उसके स्वीय तन्त्र से, यह कहना कठिन है (व्याडिप्रोक्त शब्दानुशासन का वर्णन हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ९१-९३ प्र० सं० पर कर चुके हैं) पुनरपि व्याडीय परिभाषा के जो दोनों ग्रन्थ महामहोपाध्याय काशीनाथ जी प्रकाशित कर रहे हैं, उनमें **अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः**[1] परिभाषा का निर्देश होने से उक्त मुद्रित पाठों का सबन्ध पाणिनीय तन्त्र से ही है। इसकी पुष्टि द्वितीय पाठ के अन्त में विद्यमान **इति व्याडिविरचिताः पाणिनीय-परिभाषाः समाप्ताः** पाठ से तथा रायल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल के संग्रह (संख्या १०२०४) में विद्यमान परिभाषापाठ के **'व्याडिविरचिता पाणिनीयपरिभाषा'** पाठ से भी होती है।[2]

व्याडीय परिभाषापाठ का नाम—परिभाषा-संग्रह के आरम्भ में मुद्रित व्याडीय परिभाषापाठ पर **परिभाषा-सूचनम्** नाम निर्दिष्ट है। इसकी व्याख्या में भी—

अथ परिभाषासूचनम् व्याख्यास्यामः। अथेत्ययमधिकारार्थः। परिभाषासूचनम् शास्त्रमधिकृतम् वेदितव्यम्। पृष्ठ १।

इस शास्त्र का नाम **परिभाषासूचन** लिखा है।

महामहोपाध्यायजी की भूल—परिभाषासूचन की व्याख्या का जो पाठ उद्धृत किया है, उससे स्पष्ट है कि **अथ परिभाषासूचनं व्याख्या-**

---

१. द्रष्टव्य—प्रथम पाठ (परिभाषासूचनम्) संख्या ६५, दूसरा पाठ संख्या ८४।

२. राजशाही (बंगाल) मुद्रित पुरुषोत्तमदेवीय परिभाषावृत्ति की भूमिका, पृष्ठ २९।

स्यामः यह इस ग्रन्थ का प्रथम सूत्र है। महामहोपाध्यायजी ने इसे व्याख्याकार का वचन समझ कर इसे सूत्ररूप में नहीं छापा है। सम्भवतः उन्हें यह भ्रम पाणिनीय तन्त्र के **अथ शब्दानुशासनम्** की आधुनिक व्याख्याओं के आधार पर हुआ होगा, जिन में **अथ शब्दानुशासनम्** को भाष्यकारीय वचन कहा है।[१]

व्याडीय परिभाषा पाठ के दो पाठ—महामहोपाध्यायजी द्वारा प्रकाशित व्याडीय परिभाषा पाठ के जो दो ग्रन्थ छपे हैं, उन दोनों का पाठ भिन्न-भिन्न है। प्रथम पाठ में केवल ९३ परिभाषाएँ हैं, दूसरे पाठ में १४० हैं। इनमें केवल संख्या का ही भेद नहीं है, परिभाषाओं का पौर्वापर्य तथा पाठ भेद भी बहुत है।

पुनः द्विविध पाठ—पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा आश्रीयमाण परिभाषा पाठ के सम्प्रति दो पाठ उपलब्ध होते हैं—एक पाठ है सीरदेव विरचित परिभाषावृत्ति में आश्रित और दूसरा है परिभाषेन्दुशेखर में आश्रित।

अब हम परिभाषाओं के विभिन्न पाठों के विषय में संक्षेप से लिखते हैं—

प्रथम पाठ—इस पाठ में ९३ परिभाषा सूत्र हैं। प्रथम **अथ परिभाषासूचनं व्याख्यास्यामः** सूत्र को मिलाने पर ९४ सूत्र हो जाते हैं। इस पाठ की प्रथम परिभाषा **अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य**, और अन्तिम **कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्** है।

इस पाठ पर एक टीका भी छपी है। व्याख्याकार का नाम अज्ञात है।

द्वितीय पाठ—द्वितीय पाठ में १४० परिभाषाएँ हैं। इस में भी प्रथम परिभाषा तो **अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्** ही (पाठभेद से) है, परन्तु अन्तिम परिभाषा **ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र** है। इस पाठ के अन्त में पुष्पिका है—**इति व्याडिविरचिताः पाणिनीयपरिभाषाः समाप्ताः**।

तृतीय पाठ—यह पाठ पुरुषोत्तमदेव की परिभाषावृत्ति में उपलब्ध होता है। इस में प्रथम परिभाषा तो **अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य** ही है, परन्तु अन्तिम परिभाषा **भवति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि संदेहाद-**

---

३. यह पाणिनीयाष्टक का आदिम सूत्र है। इसके लिए देखिए यही ग्रन्थ प्रथम भाग १, पृष्ठ १४३-१४५ (प्र० सं०) तथा प्रत्याहार (प्र० सं०) सूत्रों के लिए १४५-१४८ (प्र० सं०)

लक्षणम् है। इसमें १२० परिषाषाएँ हैं। इस परिभाषापाठ के किन्हीं हस्तलेखों के अन्त में इस प्रकार पाठ है—

इति पाणिनीयाचार्यविरचितानां परिभाषाणां लघुवृत्तिः सम्पूर्णा।

इन तीनों पाठों का मूल एक है, क्योंकि आरम्भ की परिभाषा तीनों में समान है। हाँ, परिभाषाओं के पाठ, पौर्वापर्य क्रम और संख्या में अन्तर है।

चतुर्थ पाठ—यह पाठ सीरदेव की परिभाषावृत्ति में उपलब्ध होता है। इसमें १३३ परिभाषाएँ हैं। इनमें १०२ परिभाषाएँ ज्ञापक सिद्ध अथवा कात्यायनादि के वार्तिक रूप हैं। इनके अनन्तर ३१ परिभाषाएँ न्यायसिद्ध हैं। ग्रन्थकार ने स्वयं कहा है—**अतः परं न्यायमूलाः परिभाषाः**। पृष्ठ १६४, काशी सं०।

वैशिष्ट्य—इस पाठ का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें अष्टाध्यायी के क्रम से ज्ञापित अथवा वार्तिकरूप परिभाषाओं का संग्रह है। इसलिए सर्वत्र **इति...प्रथमः पादः, भूपादः, कारकपादः, इति प्रथमोऽध्यायः** आदि पाठ उपलब्ध होते हैं।

पञ्चम पाठ—यह पाठ नागेश भट्ट के परिभाषेन्दुशेखर में उपलब्ध होता है। इसमें १३३ परिभाषाएँ हैं। इस पाठ में परिभाषाओं का संग्रह भी कौमुदी आदि के अन्तर्गत सूत्रपाठ के समान लक्ष्यसिद्धि क्रम से किया है। सम्प्रति पाणिनीय वैयाकरणों में यही पाठ अध्ययनाध्यापन में प्रचलित है और आधुनिक लेखकों ने इसी पाठ पर अपनी व्याख्याएँ लिखी हैं। इस पाठ को प्राधान्येन आश्रय करके लिखे गए व्याख्या ग्रन्थों में परिभाषाओं की संख्या सर्वत्र समान नहीं है। यथा शेषाद्रिनाथ सुधी-विरचित परिभाषाभास्कर में ११० ही परिभाषाएँ हैं।

व्याडीय परिभाषावृत्तिकार

व्याडिप्रोक्त परिभाषापाठ पर किसी अज्ञातनामा वैयाकरण ने एक वृत्ति लिखी है। इसके कई हस्तलेखों के आधार पर महामहोपाध्याय काशीनाथ अभ्यङ्कर ने **परिभाषासंग्रह** के आरम्भ में इस वृत्ति को प्रकाशित किया है।

परिभाषावृत्तिकारने अपने देश काल, यहाँ तक कि स्वनाम का भी ग्रन्थ में निर्देश नहीं किया, अतः इसका देश काल आदि सर्वथा अज्ञात है।

२—पाणिनि (२८०० वि० पूर्व)

परिभाषापाठ के कई हस्तलेख तथा वृत्ति ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनके अन्त में परिभाषाओं को पाणिनीय, पाणिनि-प्रोक्त वा पाणिनि विरचित कहा है। यथा—

१—अडियार (मद्रास) के हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र भाग २ (सन् १९२८) पृष्ठ ७२ पर परिभाषा सूत्रों का एक हस्तलेख निर्दिष्ट है। उसमें लिखा है—परिभाषासूत्राणि पाणिनिकृतानि।

२—पूर्व परिभाषाओं के विविधपाठनिर्देश प्रकरणान्तर्गत तृतीय पाठ में पुरुषोत्तमदेव की परिभाषावृत्ति के अन्त का जो पाठ उद्धृत किया है, उससे भी यही ध्वनित होता है कि कोई परिभाषा सूत्र वा पाठ पाणिनिप्रोक्त है।

निष्कर्ष

पूर्वापर सभी पक्षों पर विचार करके हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पाणिनि ने स्व-तन्त्र सम्बद्ध किसी परिभाषापाठ का प्रवचन किया था। हमारे विचार की पुष्टि महाभाष्य १।४।२ के

पठिष्यति ह्याचार्यः सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव इति।

वचन से भी होती है, क्योंकि महाभाष्य में आचार्य पद का निर्देश पाणिनि और कात्यायन के लिए ही किया जाता है। नागेश ने इस पर लिखा है कि आचार्य से यहां वार्तिककार अभिप्रेत है।[1] परन्तु सम्पूर्ण महाभाष्य में कहीं पर भी वह परिभाषा वार्तिक के रूप में पठित नहीं है। अतः यहां पाणिनि के लिए प्रयुक्त हुआ आचार्य पद परिभाषापाठ के पाणिनीय प्रवचन को ही स्पष्ट कर रहा है। अत एव उसी के अनुकरण पर पाणिनि से उत्तरवर्ती वैयाकरण भी बराबर स्व-तन्त्र संबद्ध परिभाषा पाठों का प्रायः प्रवचन करते आ रहे हैं।

हां, यह हो सकता है कि पाणिनीय परिभाषाओं का मूल आधार व्याडि की अपने तन्त्र से संबद्ध परिभाषाएं हों। ऐसा होने पर परिभाषापाठ के पूर्व निर्दिष्ट द्वितीय पाठ के अन्त की पंक्ति इति **व्याडिविरचिताः पाणिनीयपरिभाषाः समाप्ताः** का अभिप्राय अधिक स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार पूर्व-निर्दिष्ट परिभाषापाठ के पांचों पाठों का संबन्ध पाणिनीय परिभाषापाठ से उपपन्न हो जाता है।

अब हम परिभाषापाठ के व्याख्याकारों का कालक्रम से वर्णन करते हैं—

परिभाषापाठ के व्याख्याता

१—हरदत्त (सं. १११५)

काशिकावृत्ति के व्याख्याता हरदत्त ने परिभाषापाठ पर परिभाषा-प्रकरण नाम का एक ग्रन्थ लिखा था। वह ६।१।३७ की व्याख्या में लिखता है—

---

१. भाष्य आचार्यो वार्तिककारः।

अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य·····नैषास्ति परिभाषा, प्रयोजनाभावात्। एतच्चास्माभिः परिभाषाप्रकरणाख्ये ग्रन्थे उपपादितम्। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ४३७।

इससे अधिक इस विषय में कुछ ज्ञात नहीं है।

२—अज्ञातनाम (सं० १२०० से पूर्व)

अमरटीकासर्वस्व के रचयिता सर्वानन्द वन्द्यघटीय (सं० १२१६) ने अमरकोश २।८।६८ की टीका में किसी परिभाषावृत्तिकार का निम्न पाठ उद्धृत किया है—

अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः कृतमपि शास्त्रं निवर्तयन्ति। अत्र हि अकृतव्यूहा अगृहीतशास्त्रा इति परिभाषावृत्तिकारैरुक्तम्। भाग ३ पृष्ठ १०९।

यह पाठ पुरुषोत्तमदेव की वृत्ति में उपलब्ध नहीं होता।

सर्वानन्द का काल सं० १२१६ है। अतः यह वृत्ति उससे पूर्ववर्ती होने से सं० १२०० अथवा उससे पूर्व की है।

३—पुरुषोत्तमदेव (सं० १२००)

पुरुषोत्तमदेव ने परिभाषापाठ पर एक अनतिविस्तर वृत्ति लिखी है। यह लघुवृत्ति और ललितावृत्ति के नाम से प्रसिद्ध है।[1]

पुरुषोत्तमदेव के देश-काल आदि के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ २८६–२८७ (प्र० सं०) पर विस्तार से लिख चुके हैं।

परिभाषावृत्ति का वैशिष्ट्य—यह वृत्ति पूर्वनिर्दिष्ट व्याडीय परिभाषापाठ पर है। पुरुषोत्तमदेव ने अपने ज्ञापकसमुच्चय के आरम्भ में इस वृत्ति को वृद्ध-सम्मता कहा है।[2]

परिभाषाविवरण—गोंडल (सौराष्ट्र) की रसशाला औषधाश्रम के

---

१. इति श्रीपाणिनीयाचार्यविरचितानां परिभाषाणां लघुवृत्तिः सम्पूर्णा। काशीनाथ अभ्यङ्कर, परिभाषा-संग्रह, पृष्ठ १६। इति वैयाकरणगजपञ्चाननश्रीपुरुषोत्तमदेवविरचिता ललिताख्या परिभाषावृत्तिः समाप्ता। राजशाही (बंगाल), पृष्ठ ५६।

२. यश्चक्रे परिभाषाणां वृत्तिं वृद्धसम्मताम्। ज्ञापकसमुच्चय, पृष्ठ ५७।

हस्तलेख संग्रह में **परिभाषा-विवरण** नाम का एक ग्रन्थ है (द्र० सूचीपत्र व्याकरण विभाग सं०३३)। इस ग्रन्थ के अन्त में लेखन काल सं०१५८४ चैत्र शुद्धेकादश्यां निर्दिष्ट है।[1] इस विवरण के रचयिता का नाम अज्ञात है। इसमें भी परिभाषाओं का वही क्रम है, जो पुरुषोत्तमदेव की वृत्ति में है। केवल इतना अन्तर है कि पुरुषोत्तमदेव की वृत्ति में १२० परिभाषाएँ व्याख्यात हैं, इसमें ११९ हैं। इस हस्तलेख के पत्रा ४ पर···**यदाह मिहिरः–मुनिवचन-विरोधे युक्तिता केनचिन्त्या इति** पाठ उपलब्ध होता है। यह पाठ इसी रूप में पुरुषोत्तमदेव की परिभाषा वृत्ति में ७वीं परिभाषा की व्याख्या में मिलता है। अतः सन्देह होता है कि उक्त परिभाषाविवरण का हस्तलेख कदाचित् पुरुषोत्तमीय परिभाषावृत्ति का हो। दोनों की तुलना आवश्यक है। हमने जब गोण्डल का उक्त हस्तलेख देखा था, उस समय हमारे पास पुरुषोत्तम की परिभाषावृत्ति नहीं थी।

ज्ञापक-समुच्चय—पुरुषोत्तम देव ने **ज्ञापक-समुच्चय** नाम का एक ग्रन्थ और लिखा है। इस में अष्टाध्यायी के क्रम से तत्तत् सूत्रों से ज्ञापित होने वाले विविध नियमों का विस्तार से विवरण लिखा है। ज्ञापकसमुच्चय की रचना परिभाषावृत्ति के अनन्तर हुई है, यह इस के प्रथम श्लोक तथा अनेक स्थानों पर परिभाषावृत्ति के उल्लेख से स्पष्ट है।

४–सीरदेव (सं० १२००–१४००)

सीरदेव विरचित परिभाषावृत्ति बहुत वर्ष पूर्व काशी से प्रकाशित हो चुकी है। इस का नवीन संस्करण पं० काशीनाथ अभ्यङ्कर प्रकाशित कर रहे हैं।

परिचय—सीरदेव ने परिभाषावृत्ति में अपना कोई परिचय नहीं दिया। अतः इस का देश काल आदि अज्ञात हैं।

काल का अनुमान— सीरदेव ने परिभाषावृत्ति में जितने ग्रन्थकारों का स्मरण किया है, उन में सब से अर्वाचीन पुरुषोत्तमदेव है (प्र० पृष्ठ १९,१५०, १७५ काशी सं०) यह सीरदेव के समय की पूर्व सीमा है। सीरदेव को उद्धृत करने वालों में सायण सब से प्राचीन है। वह धातुवृत्ति में अनेकत्र सीरदेव (की परिभाषावृत्ति) को उद्धृत करता है। यथा—

---

१. पभिाषाविवरणश्चायं समाप्तः। सं० १५८४ चैत्रशुद्धयेकादश्यां रामानुजेन परिभाषाविवरणमलेखि।

क-यदुक्तं सीरदेवेन ण्यधिकपरिभाषायाः......तदपि वृत्तिवार्तिक-विरोधादेव प्रत्युक्तम्। द्युत धातु ७२८, पृष्ठ १२९ चौखम्बा सं०।

ख—अचिकीर्तत् इति सिद्ध्यर्थमनित्यत्वं चास्या वदन् सीरदेवोऽपि प्रत्युक्तः। कृत धातु १०।११९, पृष्ठ ३८९ चौखम्बा सं०।

यह सीरदेव के काल की उत्तर सीमा है। इस प्रकार सीरदेव का काल स्थूलतया सं० १२००–१४०० के मध्य है।

परिभाषावृत्ति का वैशिष्ट्य—यह परिभाषापाठ अष्टाध्यायी के क्रम से तत्तत् सूत्रों से ज्ञापित अथवा तत्संबन्धी वार्तिक आदिरूप वचनों का संग्रहरूप है। हमारे विचार में यदि पाणिनि ने किसी परिभाषापाठ का प्रवचन किया होगा तो वह यही अष्टाध्यायीक्रमानुसारी पाठ रहा होगा। परन्तु इस पाठ में जो वार्तिक अथवा भाष्यवचन परिभाषा रूपेण सम्मिलित हैं, वे निश्चय ही पाणिनीय प्रवचन में नहीं थे।

दूसरा वैशिष्ट्य इस वृत्ति की प्रौढता तथा विचार-गहनता है। यह वृत्ति सम्पूर्ण वृत्तियों से सबसे अधिक विस्तृत है, अतः यह वृहद् वृत्ति के नाम से प्रसिद्ध है।

व्याख्याकार

१—श्रीमानशर्मा (सं १५००-१५५०)

श्रीमानशर्मा नाम के विद्वान् ने सीरदेवीय परिभाषापाठ पर विजया नाम्नी टिप्पणी लिखी है। इस का हस्तलेख भण्डारकर प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान पूना में है।

परिचय—श्रीमानशर्मा ने अपनी विजया टिप्पणी के अन्त में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

अनुन्यासादिसारस्य कर्त्रा श्रीमानशर्मणा।
श्रीलक्ष्मीपतिपुत्रेण विजयेयं विनिर्मिता॥

इति वारेन्द्रचम्पाहट्टीय श्रीश्रीमानशर्मनिर्म्मिता सीरदेवबृहत्-परिभाषावृत्तिटिप्पनी विजयाख्या समाप्ता।

इस निर्देश के अनुसार श्रीमानशर्मा के पिता का नाम लक्ष्मीपति था और वह वारेन्द्र चम्पाहट्टि कुल का था।

श्रीमानशर्मा ने अपने वर्षकृत्य ग्रन्थ के अन्त में अपने को व्याकरण तर्क सुकृत (=कर्मकाण्ड) आगम और काव्यशास्त्र का इन्दु कहा है। यह पद्मनाभ मिश्र का गुरु था।

काल—श्रीमानशर्मा का काल सं० १५००-१५५० के मध्य है।

श्रीमानशर्मा के विशेष परिचय के लिए देखिए दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य सम्पादित परिभाषावृत्ति-ज्ञापकसमुच्चय (राजशाही—बङ्गाल) की भूमिका पृष्ठ १६-१७। हमने उसी के आधार पर संक्षिप्त परिचय दिया है।

२—रामभद्र दीक्षित (सं० १७४४)

सीरदेवीय परिभाषावृत्ति पर रामभद्र दीक्षित ने एक व्याख्या लिखी है। इसके अनेक हस्तलेख विभिन्न हस्तलेख संग्राहक पुस्तकालयों में विद्यमान हैं।

परिचय तथा काल—रामभद्र दीक्षित के काल आदि के विषय में उणादि-प्रकरण (पृष्ठ १९३) में लिख चुके हैं, अतः वहीं देखें।

३—अज्ञातनाम

अडियार (मद्रास) के हस्तलेख संग्रह में अज्ञातकर्तृक परिभाषावृत्ति-संग्रह नाम का एक हस्तलेख है। द्र० व्याकरणविभाग, संख्या ५०१।

यह वृत्तिसंग्रह सीरदेवीय परिभाषावृत्ति का संक्षेपरूप है।

इसी प्रसंग में आगे संख्या ९ पर निर्दिष्ट वैद्यनाथ शास्त्री कृत परिभाषार्थ-संग्रह भी द्रष्टव्य है।

५—परिभाषाविवरणकार (सं० १५८४)

गोण्डल के रसशाला औषधाश्रम के हस्तलेख संग्रह में परिभाषाविवरण नाम का एक हस्तलेख है। इसका लेखन-काल सं० १५८४ चैत्र सुदि एकादशी है।

इस हस्तलेख के संबन्ध में पूर्व पुरुषोत्तमदेव की परिभाषावृत्ति के प्रसंग में (पृष्ठ २५०—२५१) लिख चुके हैं।

६—परिभाषावृत्तिकार

एक अज्ञातकर्तृक परिभाषावृत्ति का एक हस्तलेख मद्रास के राजकीय हस्तलेख संग्रह में विद्यमान है। द्र० सूचीपत्र भाग ५, खण्ड १ A, पृष्ठ ६२७१ नं० ४२५८।

लेखक का नाम अज्ञात होने से इसके देश कालादि का परिज्ञान भी नहीं हो सका। इस परिभाषावृत्ति में परिभाषाओं का पाठक्रम सीरदेव की परिभाषावृत्ति के समान अष्टाध्यायी के अध्याय क्रम के अनुसार है। अष्टमाध्याय के अन्त में—अथ प्रायेण न्यायमूला परिभाषा उच्यन्ते कह कर सीरदेव के

समान ही न्यायमूलक परिभाषाएँ पढ़ी हैं। इससे इस परिभाषावृत्ति के पर्याप्त प्राचीन होने की संभावना है। इसीलिए हमने इसका यहाँ निर्देश किया है।

७—नीलकण्ठ वाजपेयी (सं १६००-१६५०)

नीलकण्ठ वाजपेयी ने परिभाषापाठ पर एक संक्षिप्त वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति ट्रिवेण्ड्रम से प्रकाशित हो चुकी है।

परिचय—नीलकण्ठ वाजपेयी के देश काल आदि का परिचय हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ २९६-२९७ (प्र० सं०) पर भले प्रकार दे चुके हैं। अतः इस संबन्ध में वहीं देखें।

इस परिभाषावृत्ति में १३० परिभाषाओं का व्याख्यान है। उसके अनन्तर १० प्रक्षिप्त और निर्मूल परिभाषाओं का निर्देश है।

पृष्ठ १० पर—**अस्मद्गुरुचरणकृततत्त्वबोधिनीव्याख्याने गूढार्थदीपकाख्याने प्रपञ्चितम्।**

पृष्ठ १६ पर—**भाष्यतत्त्वविवेके प्रपञ्चितमस्माभिः।**

पृष्ठ २६ पर—**विस्तरस्तु वैयाकरणसिद्धान्तरहस्याख्यास्मत्कृतसिद्धान्तकौमुदीव्याख्यानेऽनुसन्धेयः।**

पृष्ठ २६ पर—**अस्मत्कृतपाणिनीयदीपिकायां स्पष्टम्।**

नीलकण्ठविरचित इन ग्रन्थों का यथास्थान निर्देश हम प्रथम भाग में कर चुके हैं। केवल तत्त्वबोधिनी-व्याख्यान गूढार्थदीपिका उल्लेख रह गया है।

८—भीम

भीम नाम के वैयाकरण द्वारा लिखित परिभाषावृत्ति का एक हस्तलेख जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में विद्यमान है। इस वृत्ति का नाम **परिभाषार्थमञ्जरी** है। द्र० जम्मू—सूचीपत्र पृष्ठ ४२।

भीम के पिता का नाम माधवाचार्य था। यह उक्त सूचीपत्र में ही निर्दिष्ट है। इस से अधिक हम भीम के विषय में कुछ नहीं जानते।

एक माधवाचार्य सायण का सहोदर है। दूसरा माधवाचार्य प्रक्रियासर्वस्व के व्याख्याता नारायण भट्ट का गुरु है।[1] इनमें से भीम के पिता माधवाचार्य कौन से हैं, यह अज्ञात है। हमारा विचार है कि भीम के पिता माधवाचार्य नारायणभट्ट के गुरु माधवाचार्य हों, अथवा यह उक्त दोनों से पृथक् व्यक्ति हो, यह भी सम्भव है।

---

१ द्र. सं० व्या. शास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ ३९३ (प्र. सं०)।

९—वैद्यनाथ शास्त्री (सं० १७५० के समीप)

वैद्यनाथ विरचित परिभाषार्थसंग्रह के अनेक हस्तलेख विभिन्न पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं।

परिचय—वैद्यनाथ शास्त्री ने स्वयं परिभाषार्थ संग्रह के अन्त में अपने पिता का नाम रत्नगिरि दीक्षित लिखा है।[1] तञ्जौर पुस्तकालय के सूचीपत्र में पृष्ठ ४२८७ (भाग १०) पर वैद्यनाथ के मातुल का नाम रामभद्र मखी लिखा है। यदि यह निर्देश ठीक हो तो निश्चय ही यह वैद्यनाथ शास्त्री यज्ञराम दीक्षित की पुत्री रामभद्रमखी की बहिन का पुत्र है। द्र० सं० व्या० शास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ ३०६ (प्र० सं०)।

काल—उपर्युक्त वंशक्रम के अनुसार वैद्यनाथ शास्त्री का काल सं १७५० के लगभग होना चाहिए।

एक कठिनाई—'उणादिसूत्रों के प्रवक्ता और व्याख्याता' अध्याय में हम लिख चुके हैं कि महादेव वेदान्ती ने सं० १७५० में विष्णुसहस्रनाम की व्याख्या लिखी है।[2] महादेव वेदान्ती के गुरु का नाम स्वयंप्रकाशानन्द सरस्वती है।[3] इस स्वयंप्रकाशानन्द ने वैद्यनाथ शास्त्री कृत परिभाषार्थसंग्रह पर चन्द्रिका नाम्नी टीका लिखी है। इस दृष्टि से वैद्यनाथ शास्त्री का काल १७५० से कुछ पूर्व होना चाहिए।

परिभाषावृत्ति—वैद्यनाथ शास्त्री कृत परिभाषा वृत्ति हमने साक्षात् नहीं देखी। अतः इसके विषय में आधिकारिक रूप से तो कुछ नहीं कह सकते तथापि इस वृत्ति की अन्तिम पुष्पिका[4] से ज्ञात होता है कि यह परिभाषा वृत्ति सीरदेव की परिभाषावृत्ति के अनुकूल है, क्योंकि दोनों वृत्तियों में न्यायमूला परिभाषाएँ अन्त में व्याख्यात हैं। इस परिभाषावृत्ति के परिभाषार्थसंग्रह नाम से ध्वनित होता है कि यह सीरदेवीय बृहत्परिभाषावृत्ति का संग्रह रूप ग्रन्थ है।

---

१. इति रत्नगिरिदीक्षितपुत्रवैद्यनाथशास्त्रिणः कृतिषु परिभाषार्थसंग्रहे प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः। अडियार का हस्तलेख, संख्या ४८३।

२. यही भाग, पृष्ठ १९२।

३. यही भाग, पृष्ठ १९१।

४. इति श्रीमद्रत्नगिरिदीक्षितपुत्रवैद्यनाथशास्त्रिणः कृतिषु परिभाषार्थसंग्रहे न्यायमूला परिभाषाः समाप्ताः। मद्रास सूचीपत्र भाग २ (व्याकरण) सन् १९०६, पृष्ठ १०१७।

सीरदेवीय परिभाषावृत्ति के अज्ञातकर्तृक **परिभाषावृत्ति-संग्रह** का उल्लेख हम पूर्व पृष्ठ २५३ पर कर चुके हैं।

व्याख्याकार

१—स्वयंप्रकाशानन्द सरस्वती—स्वयंप्रकाशानन्दसरस्वती ने वैद्यनाथ शास्त्री कृत परिभाषार्थसंग्रह पर **चन्द्रिका** नाम्नी एक व्याख्या लिखी है। इसके हस्तलेख मद्रास तथा तञ्जौर के पुस्तकालयों में विद्यमान हैं।

परिचय—स्वयंप्रकाशानन्द सरस्वती के गुरु का नाम अद्वैतानन्दसरस्वती है।[1] स्वयंप्रकाशानन्द सरस्वती के शिष्य महादेव वेदान्ती ने उणादिकोश पर **निजविनोदा** नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसका वर्णन हम पूर्व उणादिव्याख्याकार प्रकरण में कर चुके हैं।[2]

काल—महादेव वेदान्ती ने सं० १७५० में विष्णुसहस्रनाम की व्याख्या लिखी थी। यह हम उणादि प्रकरण में लिख चुके हैं।[3] अतः स्वयंप्रकाशानन्द का काल भी १७१०–१७६० के लगभग मानना उचित होगा।

२—अप्पा दीक्षित—अप्पा दीक्षित ने परिभाषार्थसंग्रह पर **सारबोधिनी** नाम्नी व्याख्या लिखी है।

परिचय—अप्पा दीक्षित ने अपना परिचय निम्न शब्दों में दिया है—

अप्पयदीक्षितवरान्वयसंभवेन।
स्वात्मावबोधफलमात्रकृतश्रमेण॥
अप्पाभिधेन मखिना रचिता समीयात्॥[4]

इससे केवल इतना ही विदित होता है कि अप्पा दीक्षित का जन्म अप्पयदीक्षित के वंश में हुआ था।

दोनों व्याख्याकारों के विषय में हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

---

१. इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकसर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीमदद्वैतानन्दसरस्वतीचरणारविन्दभृङ्गायमाणस्य श्रीमत्स्वयंप्रकाशानन्दस्य कृतौ परिभाषार्थसंग्रहव्याख्यायां चन्द्रिकायां प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः। मद्रास सूचीपत्र (पूर्वनिर्दिष्ट) पृष्ठ १०१८।

२. यही भाग, पृष्ठ १९१–१९३।

३. यही भाग, पृष्ठ १९२।

४. अडियार सूचीपत्र व्याकरण विभाग, ग्रंथ संख्या ४९४।

इससे अधिक इनके विषय में कुछ ज्ञात नहीं है।

एक आपाजी परिभाषाभास्कर के लेखक भास्कर अथवा हरिभास्कर के पिता हैं। यह काश्यपगोत्रीय हैं। अप्पय दीक्षित भारद्वाजगोत्रीय थे। अतः यह आपाजी सारबोधिनी के लेखक नहीं हो सकते। दूसरे अप्पा सुधी हैं। इन्होंने परिभाषारत्न नाम्नी परिभाषावृत्ति की रचना की थी। ये भी अन्य व्यक्ति प्रतीत होते हैं। इन दोनों परिभाषावृत्तियों का वर्णन अनुपद ही किया जाएगा।

१०—भास्कर अग्निहोत्री

भास्कर अपरनाम हरिभास्कर अग्निहोत्री ने परिभाषापाठ पर **परिभाषा-भास्कर** नाम्नी एक व्याख्या लिखी है। इस के दो हस्तलेख मद्रास राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान हैं। जम्मू के रघुनाथमन्दिर के पुस्तकालय में भी इसका एक हस्तलेख सुरक्षित है। उस के सूचीपत्र में ग्रन्थकर्ता का नाम हरिभास्कर लिखा है।[1]

परिचय— भास्कर ने परिभाषावृत्ति के आरम्भ में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

श्रीगुरुन् पितरौ नत्वाऽग्निहोत्री भास्कराभिधः।
भास्करं परिभाषाणां तनुते बालबुद्धये॥

अन्त में—इति काश्यपान्वयसंभवाग्निहोत्रकुलतिलकायमानहरिभट्ट-सूनुश्रीमद्आपाजिभट्टसूनुना भास्करविरचितः परिभाषाभास्करः समाप्ति-मगात्।[2]

इन निर्देशों के अनुसार भास्कर के पिता का नाम आपाजि, पितामह का नाम हरिभट्ट और हरिभट्ट के पिता का नाम उत्तमभट्ट था।[3] इस का गोत्र कश्यप था और यह अग्निहोत्री कुल का था। इस के एक अज्ञातनाम शिष्य ने लघुपरिभाषावृत्ति लिखी है।

---

१. जम्मू के सूचीपत्र पृष्ठ ४२ पर हरिभास्कर के पिता का नाम 'आयाजि' छपा है। सम्भवतः यह 'आपाजि' का भ्रष्ट पाठ हो।

२. मद्रास राजकीय पुस्तकालय सूचीपत्र भाग २, खण्ड १ C, पृष्ठ २४२५, संख्या १७१३।

३. द्र० तञ्जौर पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग १०, ग्रन्थ संख्या ५७१७ का विवरण।

इस से अधिक हम इस ग्रन्थकार के विषय में कुछ नहीं जानते।

११–भास्कर अग्निहोत्री का शिष्य

भास्कर अग्निहोत्री के किसी अज्ञातनाम शिष्य ने **लघुपरिभाषावृत्ति** नाम्नी वृत्ति लिखी है। इस ग्रन्थकार का नाम अज्ञात है। इसका एक हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में विद्यमान है। (द्र० सूचीपत्र भाग १, खण्ड २, संख्या ६७३)। इस हस्तलेख के अन्त में निम्न लेख है—

इति भास्करभट्टाग्निहोत्रिकुलतिलकायमानान्तेवासिना निर्मिता लघुपरिभाषावृत्तिरगाच्चरमवर्णध्वंसम्।

इस से अधिक हम इस के विषय में कुछ नहीं जानते।

१२–अप्पा सुधी

परिभाषापाठ पर अप्पा सुधी विरचित **परिभाषारत्न** नाम का ग्रन्थ अडियार के पुस्तक संग्रह में विद्यमान है। इस की संख्या ४८० है (व्याकरणविभाग)।

यह परिभाषावृत्ति श्लोकबद्ध है। इस के अन्त में निम्न लेख है—

इति परिभाषारत्ने श्लोकाः (१९३) पञ्चाधिकविंशतिप्रयुक्तशतम्।

यहाँ संख्या में उल्लिखित १९३ तथा शब्दों में उल्लिखित संख्या में जो भेद है, वह हमारी समझ में नहीं आया। इस के देश काल आदि के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

१३—उदयंकर भट्ट

उदयङ्कर भट्ट विरचित **परिभाषाप्रदीपार्चि** का एक हस्तलेख काशी के सरस्वती भवन के संग्रह में और दूसरा अडियार के हस्तलेख संग्रह में विद्यमान है। द्रष्टव्य काशी का पुराना सूत्रीपत्र, संग्रह सं० १३, वेष्टन संख्या १३ तथा अडियार संग्रह का व्याकरणविभाग का सूचीपत्र पृ० ४७६।।अडियार के हस्तलेख के

आदि में—**कृत्वा पाणिनिसूत्राणां मितवृत्त्यर्थसंग्रहम्।**
परिभाषाप्रदीपार्चिस्तत्रोपायो निरूप्यते॥

अन्त में—**परिभाषाप्रदीपार्चिष्युदयंकरदर्शिते।**
प्रथमो व्याकृतोऽध्यायः संगतः संयतः सताम्।

श्लोक उपलब्ध होते हैं। इन से इतना ही विदित होता है कि उदयंकर ने पाणिनीय अष्टाध्यायी पर भी **मितवृत्त्यर्थ-संग्रह** ग्रन्थ लिखा है।

जम्मू के पुस्तकालय में उदयन विरचित **मितवृत्त्यर्थ-संग्रह** नाम का एक ग्रन्थ विद्यमान है। वह भी अष्टाध्यायी की व्याख्या रूप है।[1] उसके आरम्भ में लिखा है—

मुनित्रयमतं ज्ञात्वा वृत्तीरालोक्य यत्नतः।
करोत्युदयनः साधु मितवृत्त्यर्थसंग्रहम्॥[2]

यहां दोनों ग्रन्थों के नाम समान हैं, परन्तु ग्रन्थकार के नामों में कुछ समानता होते हुए भी वैषम्य है। हमारा विचार है ये दोनों भिन्न-भिन्न ग्रन्थकार हैं। परिभाषावृत्तियों में भी **परिभाषाभास्कर** एक ऐसा नाम मिलता है जिस के कर्ता विभिन्न व्यक्ति हैं। भास्कर अग्निहोत्री विरचित परिभाषाभास्कर का पहले वर्णन कर चुके हैं, शेषाद्रि विरचित का आगे उल्लेख करेंगे।

एक उदयङ्कर पाठक ने लगभग सं १८५० में लघुशब्देन्दुशेखर की टीका लिखी थी। यदि यही उदयङ्कर पाठक उदयङ्कर भट्ट हो तो इसका काल नागेश से परवर्ती होगा।

इस से अधिक इस वृत्ति के विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं है।

उपरि निर्दिष्ट परिभाषा वृत्तियां प्रायः सीरदेवीय परिभाषापाठ के सदृश अष्टाध्यायी क्रम से संगृहीत परिभाषापाठ पर लिखी गई हैं। यह इनके अन्तिम पाठों से प्रायः व्यक्त है।

अब हम उन परिभाषावृत्तियों का वर्णन करते हैं, जो परिभाषा के पूर्व निर्दिष्ट पञ्चम पाठ पर लिखी गई हैं।

१४—नागेश भट्ट (सं. १७३०—१८१०)

नागेश भट्ट विरचित **परिभाषेन्दुशेखर** ग्रन्थ सर्वत्र प्रसिद्ध है। सम्प्रति परिभाषा के ज्ञान के लिए यही ग्रन्थ पटन पाठन में व्यवहृत होता है।

परिचय—नागेश भट्ट का विस्तृत परिचय हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग, पृष्ठ ३०६–३०८ (प्र० सं०) पर लिख चुके हैं। पाठक वहीं देखें।

नागेश ने परिभाषेन्दुशेखर की रचना मञ्जूषा और शब्देन्दुशेखर के अनन्तर की है। शब्देन्दुशेखर का निर्देश परिभाषा १६,३३,११४ तथा मञ्जूषा का निर्देश परिभाषा ४३, ८४ की व्याख्या में मिलता है।

---

१. इसके लिए देखिए इसी ग्रन्थ का प्रथम भाग, पृष्ठ ३६१ (प्र० सं०)
२. जम्मू सूचीपत्र पृष्ठ २६१।

परिभाषेन्दुशेखर में व्याख्यात परिभाषाओं का क्रम लक्ष्यसिद्धि के अनुसार है, यह हम पूर्व कह चुके हैं। यह क्रम नागेश भट्ट के द्वारा सम्पन्न किया गया अथवा उस से पूर्ववर्ती किसी वैयाकरण ने तैयार किया, यह अज्ञात है।

टीकाकार

परिभाषेन्दुशेखर पर कई लेखकों ने टीकाएँ लिखी हैं। उनमें से कतिपय प्राचीन टीकाएं इस प्रकार हैं—

वैद्यनाथ पायगुण्ड—गदा
शिवराम (१८५०)—लक्ष्मीविलास
विश्वनाथभट्ट—चन्द्रिका
ब्रह्मानन्द सरस्वती—चित्प्रभा
राघवेन्द्राचार्य—त्रिपथगा
वेङ्कटेशपुत्र—त्रिपथगा
भैरवमिश्र—भैरवी
शेषशर्मा—सर्वमंगला
शंकरभट्ट—शंकरी

इनमें से वैद्यनाथ पायगुण्ड कृत छाया नाम्नी प्रदीपोद्योत व्याख्या तथा प्रभा नाम्नी शब्दकौस्तुभ टीका और राघवेन्द्राचार्य कृत प्रभा नाम्नी शब्दकौस्तुभ टीका का वर्णन हम प्रथम भाग में तत्तत् स्थानों पर चुके हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य भी कुछ टीकाएँ प्राचीन तथा नवीन लेखकों की उपलब्ध होती हैं।

१५—शेषाद्रिनाथ सुधी

शेषाद्रिनाथ सुधी नाम के वैयाकरण ने परीभाषाभास्कर नाम्नी परिभाषा-वृत्ति लिखी है। इसे कृष्णामाचार्य ने सन् १९०२ में प्रकाशित किया है। ग्रन्थकार ने इसमें अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया।

शेषाद्रि ने इस व्याख्या में स्थान-स्थान पर नागेश भट्ट कृत परिभाषेन्दु-शेखर का नाम निर्देश के बिना खण्डन किया है। यथा—

परिभाषा २३ की व्याख्या में—यत्तु नव्योक्तम्—विशेष्यान्तरासत्त्वे शब्दरूपं विशेष्यमादाय येन विधिसूत्रेण तदन्तविधिः सिद्ध इति, तदयुक्तम्...

यह नव्योक्त वचन शब्दवैपरीत्य से परिभाषेन्दुशेखर में २३ वीं परिभाषा की व्याख्या में उपलब्ध होता है।

इसी प्रकार परिभाषाभास्कर परिभाषा ८८ में उक्त—**इयं च वाचनिक्येव इत्यादि नव्योक्तमपास्तम्।** यह नव्योक्त मत परिभाषेन्दुशेखर परिभाषा १०३ में निर्दिष्ट है।

शेषाद्रिनाथ सुधी का देश काल अज्ञात है। हाँ, इसके परिभाषाभास्कर में परिभाषेन्दुशेखर का खण्डन होने से स्पष्ट है कि शेषाद्रि नागेशभट्ट से उत्तरवर्ती है।

१६—रामप्रसाद द्विवेदी (सं० १९७३)

रामप्रसाद द्विवेदी नाम के व्यक्ति ने सार्थपरिभाषापाठ नाम से स्वकृत परिभाषा की लघुवृत्ति प्रकाशित की है। यह काशी से सं० १९७३ में छपी है। इसमें पहले १२७ परिभाषाएँ परिभाषेन्दुशेखर के अनुसार हैं।[1] अन्त में २५ परिभाषाएँ ऐसी व्याख्यात हैं, जो परिभाषेन्दुशेखर में नहीं हैं।

अब हम अज्ञातनामा लेखकों द्वारा विरचित परिभाषावृत्तियों का उल्लेख करेंगे।

१७—गोविन्दाचार्य

गोविन्दाचार्य नाम के किसी वैयाकरण द्वारा विरचित **परिभाषार्थप्रदीप** संस्कृतविश्वविद्यालय वाराणसी के सरस्वती भवन के संग्रह में विद्यमान है। हमने इसे सन् १९३४ में देखा था। उस समय यह संग्रह संख्या १३ वेष्टन संख्या ६ में रखा हुआ था।

१८—परिभाषाविवृतिकार

१९—परिभाषाविवृति-व्याख्याकार (सं० १८६९)

परिभाषाविवृति ग्रन्थ के लेखक का नाम अज्ञात है और यह ग्रन्थ भी हमारे देखने में नहीं आया। परन्तु गोण्डल के रसशाला औषधाश्रम के हस्तलेख संग्रह में इसकी व्याख्या का एक हस्तलेख विद्यमान है। द्र० व्याकरण-विभाग संख्या ३४। इस परिभाषाविवृतिव्याख्या के लेखक का नाम भी अज्ञात है। ग्रन्थकार ने आरम्भ में जो परिचय दिया है, तदनुसार पिता का

---

1. इति परिभाषेन्दुशेखरपाठः।

नाम भवदेव और माता का नाम सीता था।[1]

इस हस्तलेख के अन्त में सं० १८६९ निर्दिष्ट है। इस से इतना व्यक्त है कि इसका काल सं० १८६९ अथवा उससे पूर्ववर्ती है।

इस व्याख्या में परिभाषेन्दुशेखर के विरोधों का बहुधा परिहार उपलब्ध होता है।

२०, २१—परिभाषावृत्तिकार

अड्यार के हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र 'व्याकरण विभाग' में संख्या ४९५, ४९६ पर पाणिनीय परिभाषा की दो वृत्तियों का उल्लेख मिलता है। दोनों के ही लेखकों का नाम अज्ञात है।

इनमें संख्या ४९५ की श्लोक-बद्ध है और संख्या ४९६ की गद्यरूप।

इस प्रकार पाणिनीय सम्प्रदाय से संबद्ध ज्ञात परिभाषाव्याख्याताओं का वर्णन करके अर्वाचीन व्याकरण से संबद्ध परिभाषा प्रवक्ता और व्याख्याताओं का वर्णन करते हैं—

३—कातन्त्रीय परिभाषा-प्रवक्ता

कातन्त्र व्याकरण से सम्बद्ध जो परिभाषापाठ सम्प्रति उपलब्ध होता है, वह अनेक प्रकार का है। परिभाषासंग्रह में पं० काशीनाथ अभ्यङ्कर ने चार प्रकार का पाठ प्रकाशित किया है। दो पाठ वृत्ति सहित हैं और दो मूलमात्र। इन में अन्तिम पाठ कालाप परिभाषासूत्र के नाम से छपा है। कलाप कातन्त्र का ही नामान्तर है, यह हम प्रथमभाग में कातन्त्र प्रकरण में लिख चुके हैं।

इन पाठों में प्रथम दुर्गसिंह के वृत्तियुक्त पाठ में ६७ परिभाषाएँ हैं, द्वितीय भावमिश्र कृत वृत्ति में ६२, तृतीय कातन्त्र परिभाषा सूत्र में ६७ परिभाषा सूत्र और २९ बलाबल सूत्र = ९६ सूत्र और चतुर्थ कालाप परिभाषा सूत्र में ११८ हैं।

प्रवक्ता—कातन्त्र परिभाषापाठ का आदि प्रवक्ता अथवा संग्रहीता कौन है, यह कहना अत्यन्त कठिन है। दुर्गसिंह कृत वृत्ति के आरम्भ में लिखा है—

तत्र सूत्रकारयोः शर्ववर्मकात्यायनयोः सूत्राणां चतुःशत्यां पञ्चाशद-

---

१. नत्वा तातं गुरुं देवं भवदेवाभिधं विभुम्।
यद्यशोभिर्वलिताः ककुभो जननीं पराम्॥
सीतां पतिव्रतां देवीं भरद्वाजकुलोद्वहाम्।
विवृतेः परिभाषाणां व्याख्यां कुर्वे यथामति॥

धिकायां[1] परिभाषा नोक्ताः। अथ च वृत्तिटीकयोस्तत्र तत्र प्रयुक्ताः कार्येषु दृश्यन्ते। अतस्तासां युक्तितः संसिद्धिरुच्यते। परिभाषा संग्रह पृष्ठ ४९।

अर्थात्—सूत्रकार शर्ववर्मा और कात्यायन ने ४५० सूत्रों[1] में परिभाषाएँ नहीं पढ़ी, परन्तु वृत्ति और टीका में जहाँ तहाँ कार्यों में प्रयुक्त देखी जाती हैं। इस लिए उन की युक्ति से संसिद्धि कहते हैं।

इस लेख से इतना स्पष्ट है कि इन का प्रवक्ता शर्ववर्मा अथवा कात्यायन नहीं है। वृत्ति और टीकाकारों ने पूर्व व्याकरण ग्रन्थों के अनुसार इन का जहाँ तहां प्रयोग किया था। उसे देखकर किसी कातन्त्र अनुयायी ने पूर्वतः विद्यमान परिभाषाओं को अपने शब्दानुशासन के अनुकूल रूप देकर ग्रथित कर दिया। यथा हैम शब्दानुशासन से संबद्ध परिभाषाओं को हेमहंसगणि ने ग्रथित किया है।

यह ग्रन्थनकार्य मुद्रित वृत्ति के कर्ता दुर्गसिंह से पूर्व ही सम्पन्न हो गया था, ऐसा उस की वृत्ति से द्योतित होता है। वह लिखता है—

क—केचिद् 'दोऽद्धेर्मे' (का० २।३।३१) इति वचनं ज्ञापकं मन्यन्ते इति। परिभाषासंग्रह, पृष्ठ ६१।

ख—कश्चिदत्र 'न वर्णाश्रये प्रत्ययलोपलक्षणम्' इति पठति। परिभाषा-संग्रह, पृष्ठ ६४।

इन दोनों में दुर्गसिंह अपने से पूर्व वृत्तिकारों को स्मरण करता है। प्रथम पाठ में पूर्ववृत्तिकार द्वारा निर्दिष्ट ज्ञापक सूत्र का उल्लेख है, दूसरे में परिभाषा के पाठ भेद का उल्लेख किया है। अतः स्पष्ट है कि इस वृत्तिकार दुर्ग से पूर्व न केवल कातन्त्र संबद्ध परिभाषापाठ ही व्यवस्थित हो चुका था, अपितु उस पर कई व्याख्या भी लिखी जा चुकी थीं।

वृत्तिकार

१—अज्ञातनाम (दुर्गसिंह से पूर्ववर्ती)

दुर्गसिंह की वृत्ति के जो दो पाठ ऊपर उद्धृत किए हैं, उनमें प्रथम पाठ से यह तथ्य सर्वथा स्पष्ट है कि इस दुर्गसिंह से पूर्व कातन्त्र परिभाषा पाठ पर कोई वृत्ति लिखी जा चुकी थी, उसी की ओर संकेत करके दुर्गसिंह लिख रहा है कि कोई व्याख्याकार अन्त्याभावे······इस परिभाषा का ज्ञापन दोऽद्धेर्मः (का० २।३।३१) सूत्र से मानता है।

---

1. यहाँ पाठ में कुछ भ्रंश हुआ है। कातन्त्र में केवल ४५० ही सूत्र नहीं हैं। सम्भवः यहाँ मूल पाठ 'चतुर्दशशत्यां' हो। दो शकारों के एकत्र लेख से यह पाठ भ्रंश हुआ प्रतीत होता है।

इस अज्ञातनाम वृत्तिकार तथा उसकी व्याख्या के विषय में इससे अधिक कोई संकेत नहीं मिलता।

२—दुर्गसिंह (सं० ६७३–७००)

कातन्त्र परिभाषा पर दुर्गसिंह की वृत्ति पं० काशीनाथ अभ्यङ्कर परिभाषा-संग्रह में प्रकाशित कर रहे हैं। इस वृत्ति के जो हस्तलेख उन्हें मिले हैं, उनमें से B. संकेतित में ही **इति दुर्गसिंहोक्ता परिभाषावृत्तिः समाप्ताः** पाठ उपलब्ध होता है। इसका एक हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में भी विद्यमान है (द्र० सूचीपत्र भाग १, खण्ड २ सं० ७७२)। उसके अन्त में भी **दुर्गसिंहोक्ता** पाठ है। अतः यह वृत्ति दुर्गसिंह कृत है, यह स्पष्ट है।

कौनसा दुर्गसिंह—कातन्त्र सम्प्रदाय में दुर्गसिंह नाम के दो व्याख्याकार प्रसिद्ध हैं। एक वृत्तिकार, दूसरा वृत्तिटीकाकार। इन दोनों में से किस दुर्गसिंह ने यह परिभाषावृत्ति लिखी, यह विचारणीय है।

दुर्गसिंह की इस परिभाषावृत्ति में १२ वीं परिभाषा की वृत्ति में भट्टि काव्य १८।४१ का श्लोक उद्धृत है। अतः यह स्पष्ट है कि यह दुर्ग भट्टिकार से परवर्ती है। भट्टि काव्य की रचना वलभी के श्रीधरसेन राजा के काल में हुई थी। श्रीधरसेन नामक चार राजाओं का काल सं० ५५७–७०७ तक माना जाता है। भट्टि काव्य की रचना सम्भवतः प्रथम श्रीधरसेन के काल (सं. ५५७) में हुई, ऐसा आगे लिखेंगे। हमारे विचार में इस वृत्ति का लेखक वृत्तिकार प्रथम दुर्गसिंह है, जिसका काल ६७३–७०० के मध्य है।

लिङ्गानुशासन का प्रवक्ता और व्याख्याता भी यही प्रथम दुर्गसिंह है, यह हम लिङ्गानुशासन के प्रवक्ता और व्याख्याता प्रकरण में लिख चुके हैं।

३—भावमिश्र

भावमिश्र कृत कातन्त्र-परिभाषावृत्ति परिभाषा-संग्रह में प्रकाशित हुई है। भावमिश्र ने अपना कोई परिचय इस वृत्ति में नहीं दिया। इससे इसका देश-काल आदि अज्ञात है। भावमिश्र ने वृत्ति के आरम्भ में विद्यानन्द नाम के किसी कातन्त्रीय वैयाकरण का उल्लेख किया है। इस विद्यानन्द का देश-काल भी अज्ञात है।

कातन्त्र प्ररिभाषा के वृत्तिकारों के विषय में इससे अधिक हम कुछ नहीं जानते।

४—चन्द्रगोमी (१००० वि० पूर्व)

चन्द्रगोमी प्रोक्त परिभाषापाठ पं० काशीनाथ अभ्यंकर ने परिभाषासंग्रह में प्रकाशित किया है। इस पाठ में ८६ परिभाषाएँ हैं।

चन्द्रगोमी के काल आदि के विषय में हम प्रथम भाग में लिख चुके हैं।

प्रवक्ता—इस परिभाषापाठ का प्रवक्ता चन्द्रगोमी ही है, अन्य कोई चान्द्र सम्प्रदाय का वैयाकरण नहीं है, यह इस परिभाषा पाठ की ८६ वीं परिभाषा—**स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्** से स्पष्ट है।

चान्द्र व्याकरण के विषय में चिरकाल से यह प्रवाद दृढ़मूल है कि चान्द्र व्याकरण केवल लौकिक भाषा का व्याकरण है।[1] इसमें स्वर वैदिक प्रकरण नहीं था। हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में प्रथम बार यह प्रमाणित किया है कि चान्द्र व्याकरण में स्वर प्रकरण था। इसकी पुष्टि में हमने चान्द्रवृत्ति से पाँच प्रमाण उद्धृत किए हैं।[2] पांचवें प्रमाण से स्पष्ट व्यक्त होता है कि स्वर प्रकरण चान्द्र व्याकरण के आठवें अध्याय में था। इस समय इसके छ अध्याय ही उपलब्ध हैं। यदि ये परिभाषा सूत्र स्वयं चन्द्रगोमी के न होकर किसी उत्तरवर्ती वैयाकरण के होते तो चान्द्र व्याकरण की स्वर संबन्धी अप्रसिद्धि के कारण स्वरशास्त्र से संबन्ध रखनेवाली ८६ वीं परिभाषा का निर्देश इस परिभाषा में न मिलता।

---

१. द्रष्टव्य—सं० व्या० शास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ ४१८ (प्र० सं०) प्रथम संदर्भ। यही मत डा० बेलवेल्कर (द्र० सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर पृष्ठ ५९) तथा एस. के. डे. (द्र० इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली जून १९३८ पृष्ठ २५८) का है। इन का मत भी उक्त हेतुओं से चिन्त्य है। 'संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि' के लेखक डा० कपिलदेव साहित्याचार्य एम. ए. ने हमारा मत स्वीकार किया है। पृष्ठ ११२ द्र०।

२. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ ४१६-४१७ (प्र० सं०)। इस विषय में चान्द्र सूत्र ३।४।६८ की वृत्ति का पाठ 'स्वरं तु वक्ष्यामः' और सम्मिलित कर लेना चाहिए। इस प्रकार परिभाषापाठ के प्रमाण को लेकर ७ प्रमाण इस बात के हो जाते हैं कि चान्द्र व्याकरण में स्वर प्रकरण था।

स्वरविषयक ८६ वीं परिभाषा से भी हमारे पूर्व निश्चित सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि चान्द्र व्याकरण में स्वर प्रकरण था।

इस परिभाषा पाठ पर कोई वृत्ति उपलब्ध नहीं है। ✓

५—जैनेन्द्र संवद्ध

देवनन्दी प्रोक्त शब्दानुशासन से संवद्ध जैनेन्द्र परिभाषा का न कोई स्वतन्त्र पाठ उपलब्ध है और न कोई वृत्तिग्रन्थ। हाँ, अभयनन्दी विरचित महावृत्ति में अनेक परिभाषाएँ यत्र तत्र उद्धृत हैं। परिभाषासंग्रह के सम्पादक पं० काशीनाथ अभ्यङ्कर ने लिखा है—

ग्रन्थं नागेशभट्टानां परिभाषेन्दुशेखरम्।
सम्पादयितुकामेन नानाव्याकरणस्थिताः ॥१॥
वृत्तयः परिभाषाणां तथा पाठा विलोकिताः।
तासां च संग्रहं कुर्वन् जैनेन्द्रे नोपलब्धवान् ॥२॥
पाठं परिभाषाणां वृत्तिं वा संग्रहं तथा।
काश्चित्तत्र मया दृष्टा वृत्तावभयनन्दिनाम् ॥३॥
उपयुक्तास्तत्र तत्र सूत्रार्थप्रतिपादने।
तासां तु संग्रहं कृत्वाऽलेखि पाठः सवृत्तिकः ॥४॥
खदिग्दिग्भू (१८८०) मिते शाके वत्सरे रचितो मया।
माघे कृष्णे पुण्यपुर्यां प्रारब्धः प्रतिपत्तिथौ ॥५॥
दशम्यां सुसमाप्तोऽयं ग्रन्थः प्रत्यर्पितो मया।
गुरुभ्यः ख्यातनामभ्यः प्रणतिप्रतिपूर्वकम् ॥६॥

इस से स्पष्ट है कि पं० काशीनाथ अभ्यङ्कर ने महावृत्ति आदि में उद्धृत जैनेन्द्र तन्त्र-संवद्ध परिभाषाओं को संगृहीत करके उन पर शक १८८० (सं० २०१५) में वृत्ति लिखी है।

इस परिभाषा पाठ का मूल प्रवक्ता कौन था, यह अज्ञात है।

६—शाकटायन तन्त्र-संवद्ध

पाल्यकीर्ति विरचित शाकटायन व्याकरण से संवद्ध एक परिभाषापाठ का प्रकाशन भी पं० काशीनाथ अभ्यंकर ने परिभाषासंग्रह में किया है। इस के लिए उन्होंने दो हस्तलेख वर्ते हैं। इस परिभाषा पाठ का एक हस्तलेख लन्दन

के इण्डिया आफिस के संग्रह में भी है। द्र० सूची० भाग १, खण्ड २, सं० ५०३५।

प्रवक्ता—इस परिभाषापाठ का प्रवक्ता पाल्यकीर्ति ही है, क्योंकि उस की अमोघा वृत्ति में ये परिभाषाएँ बहुत्र उद्धृत हैं।

विशेष विचारणीय—इस परिभाषापाठ की ३७ वीं परिभाषा है—**स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्**। यह परिभाषा पं० अभ्यङ्कर द्वारा समासादित दोनों हस्तलेखों में है। पाल्यकीर्ति ने अपने व्याकरण में स्वर-शास्त्र का विधान ही नहीं किया। विधान करना तो दूर रहा उसने पाणिनि द्वारा स्वर विशेष के ज्ञापन के लिए विभिन्न अनुबन्धों से युक्त प्रत्ययों का एकीकरण करके अपने स्वरनैरपेक्ष्य को स्थान-स्थान पर द्योतित किया है। ऐसी अवस्था में उसके परिभाषापाठ में स्वर विषयक परिभाषा का होना एक आश्चर्यजनक घटना है।

व्याख्या—इस परिभाषापाठ पर कोई व्याख्या ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता।

७—श्रीभोजदेव (सं० १०७५—१११०)

श्रीभोजदेव ने स्वीय व्याकरण से संबद्ध परिभाषापाठ को गणपाठ और उणादिपाठ के समान ही शब्दानुशासन में पढ़ दिया है। यह सरस्वतीकण्ठाभरण में १।२।१८ से १३५ तक पठित है।

व्याख्याकार

इस परिभाषापाठ के वे ही व्याख्याकार हैं जो सरस्वतीकण्ठाभरण के हैं।

भोज और सरस्वतीकण्ठाभरण के व्याख्याकारों का निर्देश हम प्रथम भाग में पृष्ठ ४४०-४४६ (प्र० सं) पर कर चुके हैं।

परिभाषासंग्रह के सम्पादक पं० काशीनाथ अभ्यङ्कर ने भोजीय परिभाषा सूत्रों को परिभाषासंग्रह में प्रकाशित किया है।

८—हेमचन्द्राचार्य (सं० ११४५-१२२९)

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन से संबद्ध परिभाषा पाठ का निर्धारण किया था। वह अत्यन्त संक्षिप्त था। इस में अत्युपयोगी केवल ५७ परिभाषाएं ही पठित हैं। हैम व्याकरण में परिभाषाएं न्यायासूत्र नाम से व्यवहृत होती हैं।

हैम न्यायों के व्याख्याता हेमहंस गणि ने अपने मूल न्यायसंग्रह में ५७ न्यायों के निर्देश के अनन्तर लिखा है—

एते न्यायाः प्रभुश्रीहेमचन्द्राचार्यैः स्वोपज्ञसंस्कृतशब्दानुशासन-बृहद्वृत्तिप्रान्ते[1] समुच्चिताः। न्यायसंग्रह पृष्ठ ३।

न्यायसमुच्चय के अर्वाचीन व्याख्याता विजयलावण्य सूरि ने अपनी व्याख्या के आरम्भ में लिखा है—

समर्थः पदविधिः ७।४।१२२ इति सूत्रस्य बृहद्वृत्तिप्रान्ते हेमचन्द्र-सूरिभगवद्भिरुक्ताः। सिद्धहेमशब्दानुशासन, भाग २, पृष्ठ ३०९।

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि हेमचन्द्राचार्य प्रोक्त ५७ ही परिभाषाएं अथवा न्याय हैं।

परिचय—आचार्य हेमचन्द्र का परिचय इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ४४८–४५२ तक (प्र० सं०) लिख चुके हैं।

परिभाषापाठ का पूरक–हेमहंस गणि (सं० १५१५)

हैम व्याकरण से सम्बद्ध ५७ परिभाषाओं के अतिरिक्त जो परिभाषाएं उपलब्ध होती हैं, उनका संग्रह हेमहंस गणि ने किया है। वह न्यायसंग्रह में पूर्व-निर्दिष्ट ५७ हैम परिभाषाओं के अनन्तर लिखता है—**तैरसमुच्चितास्त्वेते।** इस प्रकार हेमहंस गणि ने ८४ अन्य परिभाषाओं का संग्रह किया है। इन ८४ परिभाषाओं के भी दो भाग हैं। पहली ६५ परिभाषाएँ व्यापक और ज्ञापकादि से युक्त हैं। इन से आगे जो १९ परिभाषाएँ हैं, उन में कुछ अव्यापक हैं और प्रायः सभी ज्ञापक रहित हैं। इन १९ परिभाषाओं के भी दो भाग हैं। पहली १८ परिभाषाएँ ऐसी हैं, जिन पर अल्प व्याख्या की ही आवश्यकता है। अन्तिम १ परिभाषा ऐसी है, जिस पर विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा है। हेमहंसगणि के शब्द इस प्रकार हैं—

इत्येते पञ्चषष्टिः, पूर्वैः (५७) सह द्वाविंशं शतं न्याया व्यापका ज्ञापकादियुताश्च। न्यायसंग्रह पृष्ठ ५।

अतः परं तु ये वक्ष्यन्ते ते केचिदव्यापकाः प्रायः सर्वे ज्ञापकादिरहिताश्च। न्यायसंग्रह पृष्ठ ५।

---

१. 'प्रान्ते' का अर्थ है 'सर्वान्ते'। अर्थात् बृहद् वृत्ति के पूर्ण होने के अनन्तर।

एते अष्टादश न्यायाः······स्तोकस्तोकवक्तव्याः। न्यायसंग्रह पृष्ठ ६।

एकस्त्वयं बहुवक्तव्यः। न्यायसंग्रह पृष्ठ ६।

परिचय—हेमहंसगणि ने स्वोपज्ञ न्यायार्थमञ्जूषा नाम्नी बृहद् वृत्ति में अपना जो परिचय दिया है, तदनुसार श्री सोमसुन्दर सूरि हेमहंस गणि के दीक्षागुरु थे और श्री मुनिसुन्दर सूरि, श्रीजयचन्द्र सूरि, श्रीरत्नशेखर सूरि तथा श्रीचारित्ररत्न गणि से विविध विषयों का अध्ययन किया था।

काल—ग्रन्थकार ने स्वयं ग्रन्थ के अन्त में लेखनकाल सं० १५१५ ज्येष्ठ सुदी २ लिखा है। षडावश्यक बालावबोध का लेखन काल सं० १५१० है। अतः हेमहंस गणि का काल सामान्यतया १४७५–१५५० तक स्वीकार किया जा सकता है।

व्याख्याकार

१—अनिर्ज्ञातनाम (सं०१५१५से पूर्व)

हेमहंस गणि ने अपनी न्यायमञ्जूषा बृहद्वृत्ति के आरम्भ में लिखा है—

······तेषां चानित्यत्वमुपेक्ष्य व्याख्योदाहरणज्ञापकानामेव प्रज्ञापनाकनीयसी टीका कैश्चित् प्राचीनानूचानैश्चक्रे। पृष्ठ १

पुनः प्राथमिक ५७ परिभाषाओं की व्याख्या के अनन्तर लिखा है—

इति प्राक्तनीं न्यायवृत्तिं क्वचित् क्वचिदुपजीव्य कृता···। पृष्ठ ५०।

इन वचनों से स्पष्ट है कि हेमहंसगणि से पूर्व किसी आचार्य ने हेमचन्द्राचार्य द्वारा साक्षात् निर्दिष्ट ५७ परिभाषाओं की व्याख्या की थी।

इस व्याख्याकार के नाम तथा ग्रन्थ से हम सर्वथा अपरिचित हैं।

२—हेमहंस गणि (सं० १५१५)

आचार्य हेमहंसगणि ने स्वसंकलित न्याय संग्रह पर स्वयं कई टीकाएँ लिखी हैं। काशी से प्रकाशित न्यायसंग्रह में हेमहंस गणि की न्यायार्थमंजूषानाम्नी बृहद् वृत्ति और उस पर स्वोपज्ञ न्यास छपा है।

सम्पादक ने जिन आदर्श पुस्तकों का उल्लेख प्रस्तावना के अन्त में किया है, उनमें लघुन्यास और बृहन्न्यास दो पृथक् पृथक् न्यासों का निर्देश है। मुद्रित न्यास लघुन्यास है अथवा बृहन्न्यास, यह मुद्रित पुस्तक से कथमपि सूचित नहीं होता। न्यूनातिन्यून सम्पादक को इसकी तो सूचना देनी ही चाहिये थी।

न्यायार्थमञ्जूषा नाम्नी बृहद्वृत्ति में बृहत् शब्द का निर्देश होने से संभावना होती है कि ग्रंथकार ने इस पर कोई लघुवृत्ति भी लिखी थी। इसकी पुष्टि लघु और बृहत् दो प्रकार के न्यास ग्रन्थों के निर्देश से भी होती है।

परिमाण—ग्रंथकार ने न्यायसंग्रह ग्रंथ का परिमाण ६८ श्लोक १० अक्षर, न्यायार्थमञ्जूषा बृहद् वृत्ति का ३०८५ श्लोक और न्यास का १२०० श्लोक लिखा है। इसमें न्यायसंग्रह और बृहद्वृत्ति का परिमाण प्रत्यक्षर गणनानुसार है और न्यास का परिमाण आनुमानिक गणना पर आश्रित है।[1]

वैशिष्ट्य—परिभाषावृत्तियों में सीरदेवीय परिभाषावृत्ति के पश्चात् एकमात्र यही वृत्ति है, जो परिभाषाओं के विषय में पाण्डित्यपूर्ण और सविस्तर विवरण उपस्थित करती है।

३—विजयलावण्य सूरि (सं० २०१०)

हैमबृहद्वृत्ति पर आचार्य हेमचन्द्र सूरि के शब्दमहार्णवन्यास अपर नाम बृहन्न्यास के समुद्धारक श्रीविजयलावण्य मुनि ने हेमहंस गणि विरचित न्यायसंग्रह पर न्यायार्थसिन्धु नाम्नी व्याख्या और तरङ्ग नाम्नी टीका लिखी है। तरङ्ग टीका के अन्त में लेखन काल सं० २०१० निर्दिष्ट है। यह व्याख्या और टीका उनके द्वारा सम्पादित सिद्धहैमशब्दानुशासन के दूसरे भाग में प्रकाशित हुई है।

ये दोनों ही व्याख्या अति प्रौढ़ हैं। सूरि महोदय को पाणिनीय तन्त्र का अच्छा ज्ञान है, यह इन व्याख्याओं से स्पष्ट है।

९—मुग्धबोध-संबद्ध

वोपदेव विरचित मुग्धबोध व्याकरण से संबद्ध एक परिभाषावृत्ति उपलब्ध होती है। इसमें व्याख्यायमान परिभाषाओं का संग्राहक कौन व्यक्ति है, यह अज्ञात है।

वृत्तिकार—रामचन्द्र विद्याभूषण

मुग्धबोध से संबद्ध परिभाषाओं की एक वृत्ति रामचन्द्र विद्याभूषण ने लिखी

---

१. प्रत्यक्षरं गणनया ग्रन्थेऽस्मिन् न्यायसंग्रहे। श्लोकानामष्टषष्टिः स्यादधिका च दशाक्षरी ॥ पृष्ठ ६ ॥ प्रत्यक्षरं गणनया ग्रन्थेऽस्मिन् मानमगमन्। सहस्रत्रितयी पञ्चाशीतिः श्लोकाश्च साधिकाः ॥ पृष्ठ १५५ ॥ अनुमानाद् गणनया न्यासमानं विनिश्चितम्। सहस्रो द्विशतीयुक्तः श्लोकानामत्र वर्तते ॥ पृष्ठ १९७ ॥

थी। इस वृत्ति का रचनाकाल सं० १७४५ (शक १६१०) है। इस वृत्ति का निर्देश म० म० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित 'गवर्नमेण्ट आफ बंगाल' द्वारा प्रकाशित हस्तलेख सूचीपत्र भाग १ पृष्ठ २१६ ग्रन्थांक २२२ पर निर्दिष्ट है। उक्त लेखन-काल इस सूचीपत्र में ही उल्लिखित है।

१०—पद्मनाभदत्त (सं० १४७०)

पद्मनाभदत्त ने स्वीय सुपद्म व्याकरण से संबद्ध परिभाषापाठ का ग्रंथन किया था और उस पर स्वयं वृत्ति भी लिखी थी। पद्मनाभदत्त ने इस वृत्ति के अन्त में स्वविरचित प्रायः सभी ग्रन्थों का उल्लेख किया है। अतः हम उन श्लोकों को यहाँ उद्धृत करते हैं—

दिङ्मात्रं दर्शितं किन्तु सकलार्थविकाशनम्।
धैर्याविधेयं धीराः श्रीपद्मनाभनिवेदितम्॥
उक्तो व्याकरणादर्शः सुपद्मस्तस्य पञ्जिका।
ततो हि बालबोधाय प्रयोगाणां च दीपिका॥
उणादिवृत्ति रचिता तथा च धातुकौमुदी।
तथैव यङ्लुको वृत्तिः परिभाषाः ततः परम्॥
गोपालचरितं नाम साहित्ये ग्रन्थरत्नकम्।
आनन्दलहरीटीका माघे विनिर्मिता॥
छन्दोरत्नं छन्दसि च स्मृतावाचारचन्द्रिका।
कोशे भूरिप्रयोगाख्यो रचिताततयत्नतः॥
इति श्रीमत्पद्मनाभदत्तकृता परिभाषावृत्तिः सम्पूर्णा।

इस परिभाषावृत्ति का एक हस्तलेख लण्डन के इण्डिया आफिस के संग्रह में विद्यमान है। द्र० सूचीपत्र भाग १ खण्ड २ ग्रन्थांक ८९०।

टीकाकार—पद्मनाभ विरचित परिभाषावृत्ति पर रामनाथ सिद्धान्त रचित टीका है। इस का हस्तलेख म० म० हरप्रसादशास्त्री द्वारा सम्पादित 'गवर्नमेण्ट आफ बंगाल' द्वारा प्रकाशित हस्तलेख सूची भाग १ पृष्ठ २२० ग्रन्थांक २२३ पर निर्दिष्ट है।

इस टीका तथा टीकाकार के विषय में इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

अन्यवृत्तिकार—धर्मसूरि—धर्मसूरि कृत परिभाषार्थप्रकाशिका का एक हस्तलेख अडियार के ग्रंथसंग्रह में विद्यमान है। द्र० सूचीपत्र व्याकरण-विभाग ग्रन्थांक ४८१।

इस वृत्ति के अन्त में निम्नलिखित पाठ मिलता है—

इति पन्दिलान्वयवायदुग्धपाथोनिधिशरत्प्रकाशनिधिशाब्दिक-चक्रवर्तिपद्मनाभतनयेन धर्मसूरिणा विरचिता परिभाषार्थप्रकाशिका समाप्ता।

इस निर्देश से धर्मसूरि के पिता का नाम पद्मनाभ विदित होता है।

यह वृत्ति सुपद्म व्याकरण से सम्बद्ध परिभाषापाठ पर है अथवा पाणिनीय पाठ पर, यह सन्दिग्ध है (इस समय हमारे पास उक्त सूचीपत्र नहीं है)।

इस वृत्तिकार के विषय में इससे अधिक हमें कुछ ज्ञात नहीं है।

इस प्रकार इस अध्याय में परिभाषापाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता वैयाकरणों का निर्देश करके अगले अध्याय में फिट्-सूत्र के प्रवक्ता और व्याख्याताओं का वर्णन करेंगे।

सत्ताईसवां अध्याय

फिट्-सूत्र का प्रवक्ता और व्याख्याता

पाणिनीय वैयाकरण सम्प्रदाय से आश्रीयमाण स्वरविषयक एक छोटा सा ग्रन्थ है, जो फिट्सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है।

फिट्-सूत्रों के आश्रयण की आवश्यकता—हम पूर्व सप्रमाण लिख चुके हैं कि अति प्राचीन काल में संस्कृत भाषा के सभी शब्द यौगिक माने जाते थे। उस समय सभी शब्दों के स्वरों का परिज्ञान प्रकृति-प्रत्यय विभाग के अनुसार यथा सम्भव आञ्जस्येन सम्पन्न हो जाता था। उत्तर काल में शब्दों की एक बड़ी राशि जब रूढ मानी जाने लगी, तब भी जो आचार्य नामों को रूढ नहीं मानते थे, उनके मत में उन शब्दों के स्वरों की व्यवस्था औणादिक प्रकृति प्रत्यय द्वारा उपपन्न हो जाती थी। परन्तु जिनके मत में औणादिक शब्द रूढ हैं अर्थात् अव्युत्पन्न हैं, उनके मत में अखण्ड शब्दों के स्वरज्ञान के लिए किसी ऐसे शास्त्र की आवश्यकता होती है, जो प्रकृति-प्रत्यय-विभाग के बिना ही स्वर-परिज्ञान कराता हो। फिट्सूत्र इसी प्रकार का एक अत्यन्त संक्षिप्त शास्त्र है।

पाणिनीय मत—पाणिनीय शास्त्र के अनुसार यह कथमपि सिद्ध नहीं होता कि आचार्य पाणिनि रूढ शब्दों को अव्युत्पन्न मानते हैं। यदि आचार्य का ऐसा पक्ष होता तो वे शब्दों के स्वरपरिज्ञान के लिए महता प्रयास से लगभग ५०० सूत्रों का प्रवचन करते हुए अव्युत्पन्न पक्षानुसार प्रातिपदिक-स्वर के परिज्ञान के लिए भी फिट्सूत्रों जैसे कतिपय सूत्रों का प्रवचन अवश्य करते। यतः पाणिनि ने ऐसा प्रयास नहीं किया, अतः स्पष्ट है कि वह वैयाकरण शाकटायन और नैरुक्त सम्प्रदाय के अनुसार सम्पूर्ण नाम शब्दों को यौगिक मानता है। इसीलिए उसके मतानुसार सभी शब्दों का स्वरपरिज्ञान भी प्रकृतिप्रत्यय-विभाग द्वारा उपपन्न हो जाता है।

पाणिनीय-व्याख्याकार—पाणिनि का स्वमत क्या है, इस विषय में उसके शास्त्र से जो संकेत प्राप्त होता है, उसका निर्देश हम ऊपर कर चुके। परन्तु पाणिनीय शास्त्र के व्याख्याता आचार्य कात्यायन और पतञ्जलि का मत भिन्न था। वे रुढ शब्दों को अव्युत्पन्न मानते थे। इसलिए उन्हें स्वरनिर्देश के

लिए ऐसे शास्त्र की आवश्यकता पड़ी, जो शब्दों को अखण्ड मान कर ही स्वर-निर्देश करता हो। इसी कारण उन्होंने यत्र तत्र अगत्या फिट्सूत्रों का साक्षात् अथवा परोक्षरूप से आश्रयण किया। उन्हें इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ, उन्होंने स्वमत को पाणिनि-सम्मत भी दर्शाने का प्रयत्न किया। अष्टाध्यायी ७।१।२ की व्याख्या में कात्यायन का वार्तिक है—[1]

प्रातिपदिकविज्ञानाच्च भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्।

इस पर पतञ्जलि ने लिखा है—

प्रातिपदिकविज्ञानाच्च भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्। उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि।

अर्थात्—पाणिनि के मत में औणादिक शब्द अव्युत्पन्न = अखण्ड प्रातिपदिक हैं।

महाभाष्य में ऐसे अनेक प्रसङ्ग हैं, जहाँ पर पतञ्जलि ने पाणिनीय सूत्रों की व्यांख्या पाणिनीय मन्तव्य से भिन्न की है। कहीं-कहीं तो भिन्नता इतनी अधिक और महत्त्वपूर्ण है कि उसे देखते ही आचार्य चाणक्य का एक वचन अनायास स्मरण आ जाता है—

दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणाम्।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च॥

हो सकता है, चाणक्य का संकेत पतञ्जलि की ओर ही हो। क्योंकि इतना सूत्रभाष्यकारों का मतभेद अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। ऐसा ही मतभेद औणादिक शब्दों के यौगिकत्व और अयौगिकत्व संबन्धी है।

अर्वाचीन पाणिनीय वैयाकरण—अर्वाचीन पाणिनीय वैयाकरण जिस प्रकार आँख मींचकर महाभाष्यकार प्रतिपादित सिद्धान्तों का अनुसरण करते हैं, उसी के अनुरूप उन्होंने पतञ्जलि के मतानुसार अव्युत्पन्न प्रातिपादिकों के स्वरपरिज्ञान के लिए फिट्सूत्रों का भी आश्रय लिया है। वस्तुतः पाणिनीय मतानुसार रूढ शब्दों के स्वरपरिज्ञान के लिए भी प्रकृति-प्रत्यय का ही आश्रयण उचित है।

फिट्-सूत्रों का प्रवक्ता—पाणिनीय सम्प्रदाय में फिट्-सूत्रों का प्रवक्ता

---

१. कात्यायन और पतञ्जलि ने फिट् सूत्रों का निर्देश कहां कहां किया है यह हम अनुपद लिखेंगे।

आचार्य शन्तनु माना जाता है। अत एव ये शान्तनव सूत्र कहाते हैं। हरदत्त ने तो स्पष्ट लिखा है—

स पुनः शन्तनुप्रणीतः फिष् इत्यादिकम्...। पदमंजरी भाग २ पृष्ठ ८०४।

नागेश ने भी बृहच्छब्देन्दुशेखर तथा लघुशब्देन्दुशेखर में फिट्-सूत्र व्याख्या के अन्त में हरदत्त के मत का अनुसरण किया है—

शन्तनुराचार्यः प्रणेतेति द्वारादीनां चेति सूत्रे हरदत्तः।

यह शन्तनु आचार्य कौन है? इसका काल क्या है? यह सब अंधकार से आवृत है। पुनरपि हमने इस विषय में जो कुछ विचार किया है, तदनुसार हम इसे भीष्म पितामह के पिता राजर्षि शन्तनु प्रोक्त मान सकते हैं। शन्तनु को वायुपुराण ९९।२३७ तथा मत्स्य पुराण ५०।४२ में विद्वान् कहा है। प्राचीन वाङ्मय में तथा पुराणों में विद्वान् शब्द का प्रयोग मन्त्र-द्रष्टा के लिए होता है।

फिट्-सूत्रों का प्रवचन काल—अब हम फिट्-सूत्रों के प्रवचन काल पर उपलब्ध सामग्री के आधार पर विचार करते हैं—

१—पतञ्जलि से पूर्ववर्ती—महाभाष्य में अनेक ऐसे स्थल हैं जिनसे विदित होता है कि फिट्सूत्र पतञ्जलि से पूर्ववर्ती हैं। यथा—

क—प्रत्ययस्वरस्यावकाशो यत्रानुदात्ता प्रकृतिः—समत्वं सिमत्वम्। ६।१।१५८।

यहाँ भाष्यकार ने सम सिम प्रातिपदिकों के सर्वानुदात्तत्व का निर्देश किया है। यह सर्वानुदात्तत्व त्वसमसिमेत्यनुच्चानि फिट् सूत्र से ही सम्भव है। पाणिनीय शास्त्र में इनके सर्वानुदात्तत्व का विधायक कोई लक्षण नहीं है।

ख—यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं समासान्तोदात्तत्वं बाधते—चप्रियः, वाप्रियः इत्यत्रापि बाधेत। ६।२।१॥

यहाँ भाष्यकार ने च वा शब्दों के अनुदात्तत्व की ओर संकेत किया है। च-वा का अनुदात्तत्व चादयोऽनुदात्ताः इस फिट् सूत्र से ही संभव है। (द्र० प्रदीप—चादयोऽनुदात्ता इति च वा शब्दावनुदात्तौ)।

ग—प्रातिपदिकस्वरस्यावकाशः आम्रा, शालः। ६।१।९१॥

यहाँ पतञ्जलि ने फिट् सूत्रों के प्रथम सामान्य अन्तोदात्तत्व विधायक

फिषः[1] सूत्र की ओर संकेत किया है।

घ—इदं पुनरस्ति प्रातिपदिकस्यान्तोदात्तो भवतीति । सोऽसौ-लक्षणेनान्तोदात्तः······। ६ । १ । १२३ ।

यहाँ भाष्यकार ने स्पष्ट ही फिषोऽन्तोदात्तः का अर्थतः अनुवाद किया है। ऐसा अर्थतः अनुवाद इसी सूत्र के भाष्य में पाणिनीय आद्युदात्तश्च (३ । १ । ३) सूत्र का इदं पुनरस्ति प्रत्ययस्याद्युदात्तो भवतीति रूप में किया है।

ङ—स्वरितकरणसामर्थ्यान्न भविष्यति—न्यङ्स्वरौ स्वरितौ इति । १ । २ । ३ ॥

इस उद्धरण में पतञ्जलि ने साक्षात् ही न्यङ्स्वरौ स्वरितौ इस फिट्सूत्र का निर्देश किया है।

इन उद्धरणों से इतना स्पष्ट है कि ये शान्तनव फिट्सूत्र महाभाष्यकार पतञ्जलि से पूर्ववर्ती हैं और पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा आदृत हैं।

२—कात्यायन से पूर्वभावी—वार्तिककार कात्यायन ने ६ । १ । १५८ पर वार्तिक पढ़ा है—

प्रकृतिप्रत्यययोः स्वरस्य सावकाशत्वाद् असिद्धिः ।

इस वार्तिक की व्याख्या में वार्तिककार द्वारा संकेतित प्रत्यय स्वर की सावकाशता दर्शाने के लिए भाष्यकार ने लिखा है—

प्रत्ययस्वरस्य अवकाशो यत्रानुदात्ता प्रकृतिः—समत्वम् सिमत्वम् ।

यहाँ सम सिम शब्दों को सर्वानुदात्त मानकर ही वार्तिककार ने प्रत्यय स्वर को सावकाश कहा है। यह सम सिम का सर्वानुदात्तत्व त्वसमसिमेत्यनुच्चानि फिट्सूत्र से ही सम्भव है। अतः स्पष्ट है कि उक्त वार्तिक का प्रवचन करते समय वार्तिककार के हृदय में त्वसमसिमेत्यंनुच्चानि सूत्र अवश्य विद्यमान था। इसलिए ये फिट्सूत्र वार्तिककार कात्यायन से भी पूर्ववर्ती हैं, यह सर्वथा व्यक्त है।

३—पाणिनि से पौर्वकालिक—नागेश ने ६।१।१५८ के प्रदीपोद्योत में पक्षान्तर के रूप में लिखा है—

---

१. फिट्-सूत्रों में सम्प्रति प्रथम सूत्र 'फिषोऽन्तोदात्तः' इस प्रकार पढ़ा जाता है। परन्तु इसमें 'अन्तोदात्तः' अनुवर्त्यमान पद है। मूल सूत्र केवल 'फिषः' इतना ही है। इसकी विवेचना आगे की जायगी।

यद्वा फिट्सूत्राणि पाणिन्यपेक्षया आधुनिककर्तृकाणीति ।

अर्थात्—फिट्सूत्र पाणिनि से अर्वाचीन हैं ।

वस्तुतः यह मत चिन्त्य है । फिट्सूत्र पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं । इस विषय में आचार्य चन्द्रगोमी का निम्न वचन द्रष्टव्य है—

एष प्रत्याहारः पूर्वव्याकरणेष्वपि स्थित एव । अयंतु विशेषः—ऐऔष् यदासीत् तद् ऐऔच् इति कृतम् । तथाहि—लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः (फिट् २।१९) तृणधान्यानां च द्व्यषाम् (फिट् २।४) इति पठ्यते । प्रत्याहार सूत्रों की व्याख्या के अन्त में ।

अर्थात्—यह प्रत्याहार पूर्व व्याकरणों में विद्यमान था । केवल इतना विशेष है कि पहले ऐऔष् सूत्र था उसे ऐऔच् कर दिया । इसीलिए लघावन्ते और तृणधान्यानां फिट् सूत्रों में अच् के स्थान में अष् का निर्देश उपलब्ध होता है ।

चन्द्रगोमी के इस निर्देश से स्पष्ट है कि पाणिनीय अच् प्रत्याहार के स्थान में अष् प्रत्याहार का प्रयोग करने वाला फिट्सूत्रप्रवक्ता पाणिनि से पूर्ववर्ती है ।[1]

४—आपिशलि से पूर्वतन—आपिशल व्याकरण में भी पाणिनि के समान ऐऔच् सूत्र और अच् प्रत्याहार का निर्देश था । अतः अष् प्रत्याहार का निर्देश करने वाले फिट्सूत्र आपिशलि से पूर्ववर्ती ही हो सकते हैं, उत्तरवर्ती कथमपि सम्भव नहीं ।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि फिट्सूत्रों का प्रवचन काल विक्रम से निश्चय ही ३१०० वर्ष पूर्वतन है । ऐसी अवस्था में फिट्सूत्र प्रवक्ता शन्तनु को राजर्षि शन्तनु मानना कुछ अनुचित नहीं कहा जा सकता । न्यूनातिन्यून २९०० वि० पूर्व तो अवश्य है ।

कीथ की भूल—कीथ ने अपने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ में फिट्सूत्रों के सम्बन्ध में लिखा है—

---

१. हमारे मित्र प्रा० कपिलदेव साहित्याचार्य ने भी चान्द्रवृत्ति के उक्त पाठ को उद्धृत करके फिट्सूत्रों को पाणिनि से पूर्ववर्ती माना है । द्र० संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि, पृष्ठ २९ । यह ग्रन्थ भी 'भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान' की ओर से अभी अभी प्रकाशित हुआ है ।

"वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के संबन्ध में स्वरों के नियमों का निरूपण शान्तनव ने, जो पतञ्जलि से परवर्ती हैं, फिट्सूत्र में किया है।"

इसकी टिप्पणी में एफ. कीलहार्न का प्रमाण दिया है। द्रष्टव्य संस्कृत साहित्य का इतिहास भाषानुवाद, पृष्ठ ५१०।

कीथ ने यहाँ दो भूलें की हैं। एक तो शान्तनव जो फिट्सूत्र का विशेषण है, जिसका अर्थ शन्तनु प्रोक्त होता है, को ग्रन्थकार का नाम मान लिया। दूसरी भूल उसने फिट्सूत्रों को पतञ्जलि से परवर्ती लिखने की की है। हम ऊपर स्पष्ट बता चुके हैं कि पतञ्जलि फिट्सूत्रों से परिचित ही नहीं है, अपितु वह उनको अर्थतः तथा साक्षात् पाठ रूप में उद्धृत भी करता है। इसलिए कीथ का फिट्सूत्रों को पतञ्जलि से परवर्ती मानना महती भूल है। यदि उसने उक्त निर्देश कीलहार्न के लेख के आधार पर किया है, तो कीलहार्न की भी भूल है।

हमने ऊपर जो प्रमाण दर्शाए हैं, उनके अनुसार तो फिट्सूत्र न केवल पतञ्जलि से पूर्ववर्ती हैं, अपितु पाणिनि और आपिशलि से भी पूर्ववर्ती हैं।

नामकरण का कारण—इन चतुःपादात्मक शान्तनव सूत्रों के फिट्सूत्र नाम का कारण, इनका प्रथम फिष् सूत्र है। पाणिनीय शास्त्र में जिन अर्थवान् शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है, उन्हीं की शान्तनव तन्त्र में फिष् संज्ञा थी। फिष् का ही प्रथमैकवचन तथा पूर्वपद में फिट् रूप है। इसी फिष् संज्ञा के कारण ये सूत्र फिट्सूत्र नाम से व्यवहृत होते हैं।

फिट्सूत्र बृहत्तन्त्र के एकदेश—सम्प्रति उपलभ्यमान चतुःपादात्मक फिट्सूत्र स्वतन्त्र तन्त्र नहीं है। यह किसी बृहत्तन्त्र का बचा हुआ एकदेश हैं। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१—फिट्सूत्रों में कई ऐसी संज्ञाएँ प्रयुक्त हैं, जिनका सांकेतिक अर्थ बताने वाले संज्ञा सूत्र इन उपलब्ध सूत्रों में नहीं हैं। अप्रसिद्ध एवं कृत्रिम संज्ञाओं का प्रयोग करने से पूर्व उन से संबद्ध निर्देशक सूत्रों की आवश्यकता होती है। ऐसी अप्रसिद्धार्थ निम्न संज्ञाएँ इन सूत्रों में प्रयुक्त हैं—

क—फिष (सूत्र १) = प्रातिपदिक।
ख—नप् (सूत्र २६, ६१) = नपुंसक।
ग—यमन्वा (सूत्र ४१) = वृद्ध (पाणिनीयानुसार)।
घ—शिट् (सूत्र २९) = सर्वनाम।
ङ—स्फिग् (सूत्र २९ पाठान्तर में) = लुप् = प्रत्यय-अदर्शन।

२—फिट् सूत्रों में कतिपय प्रत्याहारों का प्रयोग मिलता है। प्रत्याहारों से गृहीत अर्थ के परिज्ञान के लिए आपिशल तथा पाणिनीय शास्त्रवत् प्रत्याहार सूत्रों का निर्देश आवश्यक है। उनके विना तत्तत् प्रत्याहार से गृह्यमाण वर्णों का परिज्ञान कथमपि नहीं हो सकता। यथा—

क—अष् (सूत्र २७, ४२, ४९) = अच् पाणिनीय = स्वर।

ख—खय् (सूत्र ३१) = खय् पाणिनीय = वर्ग के प्रथम द्वितीय।

ग—हय् (सूत्र ४६, ६६) = हल् पाणिनीय = व्यञ्जन ('हय् इति हलां संज्ञा' लघुशब्देन्दुशेखर)।

३—फिट्सूत्रों की एक वृत्ति का हस्तलेख अडियार (मद्रास) के हस्तलेख संग्रह में विद्यमान है (द्र० सूचीपत्र व्याकरण विभाग, ग्रन्थाङ्क ४००)। इस में प्रथम सूत्र फिष् इतना ही है। और इस सूत्र की वृत्ति के अन्त में लिखा है—**स्वरविधौ अन्त उदात्त इति प्रक्रान्तम्**। लगभग ऐसा ही पाठ जर्मन मुद्रित फिट्सूत्रवृत्ति में भी है। इन पाठों से विदित होता है कि यह सूत्र पाठ किसी बृहत्तन्त्र का अवयव है। उस बृहत्तन्त्र में इन सूत्रों से पूर्व **अन्त उदात्तः** का प्रकरण विद्यमान था। अतः यहां भी **अन्त उदात्त** पदों की अनुवृत्ति आती है। इसलिए इन फिट्सूत्रों का प्रथम सूत्र केवल **फिष्** इतना ही है। **फिषोऽन्त उदात्तः** ऐसा वर्तमान पाठ अशास्त्रीय है, अनुवृत्त्यंश जोड़कर बनाया गया है। तथा **फिष्** का **फिषः** षष्ठ्यन्तरूप भी पाणिनीय शास्त्रानुसार घड़ा गया है। पाणिनीय तन्त्र में कार्यी (जिस को कार्य का विधान किया जाए) का षष्ठी विभक्ति से निर्देश होता है। परन्तु पूर्वपाणिनीय तन्त्रों में कार्यी का प्रथमा से निर्देश होता था, यह पतञ्जलि के **पूर्वसूत्रनिर्देशश्च चित्वान् चित इति** वचन और इसकी **पूर्वाचार्या कार्यभाजान् षष्ठ्या न निरदिक्षन्** व्याख्या से ध्वनित होता है।

४—पूर्वनिर्दिष्ट हस्तलिखित वृत्ति में शान्तनव तन्त्र के फिष् संज्ञा विधायक दो सूत्र उद्धृत हैं। यथा—

शान्तनवाचार्यः फिष् इति प्रातिपदिकसंज्ञां कृतवान्—अर्थवदधातुरप्रत्ययः फिष्, कृत्तद्धितसमासाश्च इति।

लगभग ऐसा ही पाठ जर्मनमुद्रित वृत्ति में भी है।

५—आचार्य चन्द्रगोमी ने अपनी वृत्ति में शान्तनव तन्त्र का एक प्रत्याहार सूत्र उद्धृत किया है और उस प्रत्याहार का प्रयोग दिखाने के लिए दो फिट् सूत्रों का निर्देश किया है—

एष प्रत्याहारः पूर्वव्याकरणेष्वपि स्थित एव। अयं तु विशेषः—ऐऔष् इति यदासीत् तद् ऐऔच् इति कृतम्। तथाहि लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः, तृणधान्यानां च द्व्यषाम् (फिट्सूत्र) इति पठ्यते। पृष्ठ ९, १०; नागराक्षर सं०।

६. न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि ने काशिका १।२।३० के विवरण में लिखा है—

त्वसमसिमेत्यनुच्चानि इति सर्वादिष्वेव पठ्यन्ते। भाग १, पृष्ठ १७०।

इसमें 'त्वसमसिमेत्यनुच्चानि' सूत्र का पाठ सर्वादि गण में माना है। पाणिनि के सर्वादि गण में उक्त सूत्र पठित नहीं है। उक्त सूत्र शान्तनवीय फिट्सूत्रों में उपलब्ध होता है। इससे प्रतीत होता है कि यह सूत्र शान्तनवीय सर्वादिगण में भी पठित था और फिट् स्वर प्रकरण में भी। पाणिनीय गणपाठ के सर्वादिगण में भी तीन सूत्र ऐसे पठित हैं, जो उसकी अष्टाध्यायी में भी हैं (अन्य गणों में भी ऐसे कई सूत्र हैं, जो उभयत्र पढ़े हैं)। इससे स्पष्ट है कि आचार्य शन्तनु ने अपने शब्दानुशासन में सर्वादीनि शिट् एतदर्थक कोई सूत्र पढ़ा था और तत्सबद्ध सर्वादिगण तथा अन्य गणों का प्रवचन गणपाठ में किया था।

न्यासकार के उक्त उद्धरण से एक बात और स्पष्ट होती है कि पूर्वाचार्य गणपाठ में शब्दों के स्वर-विशेष का भी विधान करते थे। काशिका में सर्वादिगण में त्व-त्वत् तथा स्वरादिगण में स्वर् पुनर् सनुतर् आदि शब्दों के स्वरों का निर्देश मिलता है। वह या तो किसी प्राचीन गणपाठ के स्वरनिर्देश के अनुसार है अथवा पाणिनि के गणपाठ में भी इनके स्वर निर्देशक गणसूत्र रहे हों और उनका व्याख्या-ग्रन्थों के हस्तलेखों से लोप हो गया हो। हमारे विचार में द्वितीय पक्ष अधिक युक्त है अर्थात् पाणिनि ने भी पूर्वाचार्यों के सदृश अपने गणपाठ में विशिष्ट शब्दों के स्वरनिर्देशक सूत्रों का प्रवचन किया था, जो सम्प्रति लुप्त हो गया है।

७—आचार्य शन्तनु प्रोक्त उणादि और लिङ्गानुशासन सूत्रों का उल्लेख हम पूर्व प्रकरणों में यथास्थान कर चुके हैं। जिस आचार्य ने उणादिपाठ और लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया हो, उसने व्याकरण के नाम पर इतना छोटा सा ही ग्रन्थ रचा हो, यह बुद्धिगम्य नहीं हो सकता।

इन सब हेतुओं से यह अति स्पष्ट है कि आचार्य शन्तनु ने किसी साङ्गोपाङ्ग बृहत् शब्दानुशासन का प्रवचन किया था और उसी में व्युत्पन्न-पक्षानुसार प्रातिपदिकों का स्वर-निर्देश करके अव्युत्पन्न पक्ष का आश्रय करके अखण्ड प्रातिपदिकों के स्वर-परिज्ञान के लिए इन सूत्रों की रचना की थी।

फिट्सूत्रों का पाठ—सम्प्रति फिट्सूत्रों की जितनी भी वृत्तियाँ उपलब्ध हैं, उनमें अनेक सूत्रों में पाठभेद उपलब्ध होता है। नागेश ने लघु और बृहत् शब्देन्दुशेखरों में अनेक पाठान्तरों का निर्देश किया है।

वृत्तिकार

अब हम फिट्सूत्रों की उपलब्ध अथवा ज्ञात वृत्तियों के रचयिताओं का वर्णन करते हैं—

१—अज्ञातनाम

एक अज्ञातनाम वैयाकरण की वृत्ति अडियार के हस्तलेख संग्रह में विद्यमान है। इसका उल्लेख हम पूर्व कर चुके हैं।

इस वृत्ति का जो अंश अडियार पुस्तकालय के सूचीपत्र में निदर्शनार्थ छपा है, उस का पाठ जर्मनमुद्रित वृत्ति के पाठ से प्रायः समानता रखता है। इस समानता के कारण दोनों वृत्तियों के पूरे पाठ की तुलना किए विना यह कहना कठिन है कि ये दोनों वृत्तियां एक हैं, अथवा भिन्न-भिन्न।

२—अज्ञातनाम

एक अज्ञातनाम वैयाकरण की वृत्ति चिरकाल पूर्व जर्मन से प्रकाशित हुई थी। इसके लेखक का नाम काल और देश अज्ञात है।

पाठभेद—इस वृत्ति में सिद्धान्तकौमुदी में आश्रीयमाण फिट्सूत्र पाठ से अनेक स्थानों पर पाठभेद तथा सूत्रभेद उपलब्ध होता है। सूत्रभेद यथा—

क–पृष्ठस्य च (१५) सूत्र के आगे वा भाषायाम् सूत्र अधिक उपलब्ध होता है, परन्तु यह सिद्धान्तकौमुदी (लाहौर संस्करण) का मुद्रण दोष है। उसमें यह सूत्र १५ वें सूत्र की वृत्ति के साथ ही छप गया है।

ख—सिद्धान्तकौमुदी में यथेति पादान्ते सूत्र के आगे उपलभ्यमान प्रकारादिद्विरुक्तौ परस्यान्त उदात्तः, शेषं सर्वमनुदात्तम् ये दो सूत्र इस वृत्ति में नहीं हैं। हो सकता है कि जिस हस्तलेख के आधार पर जर्मन संस्करण छपा हो, उसमें ये दो सूत्र त्रुटित हों।

ग—सिद्धान्तकौमुदी में वावादीनामुभावुदात्तौ पाठ को एक सूत्र माना है। नागेश ने वावादीनामुभौ इतना ही सूत्र माना है और उदात्तौ अंश को अनुवृत्त्यंश कहा है। जर्मन संस्करण में पाठ इस प्रकार है—

वावदादीनाम्। वावदादीनामन्त उदात्तो भवति। वावत्। वावादीनामुभावुदात्तौ। वावादीनामुभावावुदात्तौ भवतः। वाव।

इस पाठ से प्रतीत होता है कि इस वृत्तिकार के मत में वावदादीनाम् एक सूत्र है और वावादीनामुभावुदात्तौ दूसरा पाठ है। प्रतीत होता है दोनों सूत्रों के आरम्भ में सादृश्य होने से लेखक प्रमाद से वावादीनाम् प्रथम सूत्र नष्ट हो गया।

३—अज्ञातनाम

संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के सरस्वती भवन के संग्रह में फिट्सूत्र-वृत्ति का हस्तलेख विद्यमान है। इसे हमने सन् १९३४ में देखा था। यह उस समय संग्रह संख्या ६ के वेष्ठन संख्या २५ में रखा हुआ था।

४—विट्ठल (सं० १५२०)

विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी की टीका के स्वरप्रकरण में फिट्सूत्रों की भी एक संक्षिप्त व्याख्या की है।

विट्ठल के परिचय के लिए देखिए इस ग्रन्थ का प्रथम भाग, पृष्ठ ३८२ (प्र० सं०)।

५—भट्टोजि दीक्षित (सं० १५७५–१६३६)

भट्टोजि दीक्षित ने फिट्सूत्रों पर दो व्याख्याएँ लिखीं हैं। एक शब्द-कौस्तुभ के प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद के स्वर प्रकरण में और दूसरी सिद्धान्त-कौमुदी की स्वरप्रक्रिया में। दोनों में साधारण ही भेद है।

व्याख्याकार

१—भट्टोजि दीक्षित—भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदीस्थ फिट्सूत्र वृत्ति की स्वयं व्याख्या प्रौढमनोरमा में की है, परन्तु वहाँ केवल ७–८ सूत्रों पर ही विचार किया है।

२—जयकृष्ण—जयकृष्ण ने सिद्धान्तकौमुदी के स्वर वैदिक भाग की सुन्दर व्याख्या लिखी है। इसी के अन्तर्गत उसने फिट्सूत्रों की भट्टोजि-विरचित वृत्ति की व्याख्या की है।

परिचय—रामकृष्ण ने स्वरवैदिकप्रक्रिया के आदि और अन्त में जो परिचय दिया है, उससे इतना जाना जाता है कि इसके पितामह का नाम गोवर्धन और पिता का नाम रघुनाथ था। रघुनाथ के चार पुत्र थे महादेव, राम, कृष्ण, जयदेव चतुर्थ अज्ञातनाम। महादेव महाभाष्य का अच्छा विद्वान् था।

३—नागेश भट्ट—नागेश भट्ट ने सिद्धान्तकौमुदी पर लघु और बृहत् दो प्रकार के शब्देन्दुशेखर लिखे हैं। उन दोनों में सिद्धान्तकौमुदीस्थ फिट्-सूत्र-वृत्ति पर व्याख्या लिखी है। नागोजि भट्ट ने संख्या २ पर निर्दिष्ट अज्ञात-कर्तृक व्याख्या को अपने ग्रन्थ में कई स्थानों पर उद्धृत किया है।

तत्त्वबोधिनी और बालमनोरमा जैसी प्रसिद्ध टीकाओं के लिखने वाले ग्रंथ-कारों ने सिद्धान्तकौमुदी के स्वरवैदिकप्रकरण की व्याख्या नहीं की। स्वर वैदिक प्रकरण के साथ चिरकाल से की जानेवाली उपेक्षा का ही यह परिणाम प्रतीत होता है।

६—श्रीनिवास यज्वा (१७५० के समीप)

श्रीनिवास यज्वा ने पाणिनीय शब्दानुशासन के अन्तर्गत स्वर-सूत्रों पर स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका नाम्नी एक सुन्दर विशद व्याख्या लिखी है। इसी के अन्तर्गत श्रीनिवास ने फिट्सूत्रों की भी व्याख्या की है। यह व्याख्या पूर्व निर्दिष्ट सभी व्याख्याओं से अधिक विस्तृत तथा उपयोगी है।

परिचय—श्रीनिवास यज्वा ने स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका के आरम्भ में अपना जो परिचय दिया है, तदनुसार इसकी माता का नाम 'अनन्ता', पिता का 'कृष्ण' और गुरु का नाम 'रामभद्र यज्वा' था और इसका गोत्र संकृत्य था।

काल—श्रीनिवास के गुरु रामभद्र दीक्षित ने सीरदेवीय परिभाषावृत्ति पर एक व्याख्या लिखी है और उणादि सूत्रों की टीका की है। रामभद्र दीक्षित का काल सं० १७४४ के लगभग है। (द० उणादिव्याख्याकार प्रकरण पृष्ठ १९३) अतः श्रीनिवास यज्वा का भी यही काल होगा।

इस प्रकार इस अध्याय में फिट्सूत्र के प्रवक्ता और व्याख्याताओं का वर्णन करके अगले अध्याय में प्रातिशाख्यों के प्रवक्ता और व्याख्याता आचार्यों का वर्णन करेंगे।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

प्रातिशाख्य आदि के प्रवक्ता और व्याख्याता

वैदिक-लौकिक उभयविध तथा केवल लौकिक संस्कृत भाषा के साथ साक्षात् संबद्ध शब्दानुशासनों और उनके परिशिष्टों (= खिलपाठों) के प्रवक्ता और व्याख्याता आचार्यों का यथास्थान वर्णन करके अब हम उन प्रातिशाख्य आदि लक्षण ग्रन्थों का वर्णन करते हैं, जिनका संबन्ध केवल वैदिक संहिताओं के साथ है। इन ग्रन्थों में व्याकरण शास्त्र के मुख्य उद्देश्य भूत प्रकृतिप्रत्ययरूप व्याकृति का निर्देश न होने से यद्यपि इन्हें वैदिक व्याकरण नहीं कह सकते और ना ही किन्हीं प्राचीन आचार्यों ने इन्हें व्याकरण नाम से स्मरण किया है, तथापि इनमें व्याकरण के एकदेश सन्धि आदि का निर्देश होने से इनकी लोक में सामान्यरूप से वैदिक व्याकरणरूप में प्रसिद्धि है। इसलिए व्याकरण-शास्त्र के इतिहास में इन ग्रन्थों का भी संक्षेप से हम वर्णन करते हैं। विशेष वर्णन वैदिक लक्षण ग्रन्थों का इतिहास नामक ग्रन्थ में करेंगे।

पुरा काल में प्रातिशाख्य सदृश्य अनेक वैदिक लक्षण ग्रन्थ विद्यमान थे। सम्प्रति उपलभ्यमान प्रातिशाख्यों में लगभग ५७ वैदिक लक्षण शास्त्रों के प्रवक्ता आचार्यों के नाम उपलब्ध होते हैं। उन के नाम हम इस ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में पृष्ठ ५३-५५ (प्र० सं०) तक उद्धृत का चुके हैं। इस नाम सूची से भी इस बात की पुष्टि होती है कि पुरा काल में प्रातिशाख्य सदृश अनेक लक्षणग्रन्थ विद्यमान थे। परन्तु वे सब प्रायः काल कवलित हो गए, उनके नाम भी विस्मृति के गर्त में दब गए। इस समय निम्न ग्रन्थ ही ज्ञात तथा उपलब्ध हैं—

प्रातिशाख्य	प्रातिशाख्य
१—ऋक्प्रातिशाख्य	६—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
२—आश्वलायन प्रातिशाख्य	७—मैत्रायणीय प्रातिशाख्य
३—बाष्कल प्रातिशाख्य	८—चारायणीय प्रातिशाख्य
४—शांखायन प्रातिशाख्य	९—सामप्रातिशाख्य (पुष्प वा फुल्लसूत्र)
५—वाजसनेय प्रातिशाख्य	१०—अथर्व प्रातिशाख्य

अन्य लक्षण ग्रन्थ	अन्य लक्षण ग्रन्थ
११—अथर्व चतुरध्यायी	१५—लघुऋक्तन्त्र
१२—प्रतिज्ञासूत्र	१६—सामतन्त्र
१३—भाषिकसूत्र	१७—अक्षरतन्त्र
१४—ऋक्तन्त्र	१८—छन्दोग व्याकरण

इन में संख्या १–१० तक के ग्रन्थ साक्षात् प्रातिशाख्य हैं। इनमें भी २, ३, ४, ८ ये चार प्रातिशाख्य सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं। अगले आठ ग्रन्थ साक्षात् प्रातिशाख्य नहीं हैं, और ना ही प्रातिशाख्य नाम से व्यवहृत होते हैं। इनमें संख्या ११, १४, १५ में प्रातिशाख्य सदृश ही वैदिक संहिताओं के स्वर सन्धि आदि विशिष्ट कार्यों का विधान है। संख्या १२, १३ के ग्रन्थ वाजसनेय प्रातिशाख्य के परिशिष्ट ग्रन्थ हैं। संख्या १६, १७ में सामगान संबन्धी स्तोभ आदि का निर्देश मिलता है। संख्या १८ का ग्रन्थ विचारणीय है। इस नाम से इस ग्रन्थ का उल्लेख काशी के सरस्वती भवन संग्रह के सूचीपत्र में संख्या २०८५ पर मिलता है।

प्रातिशाख्य के पर्याय—प्रातिशाख्य के लिए प्राचीन ग्रन्थों में पार्षद शब्द का व्यवहार होता है। महाभाष्य ६।३।१४ में पारिषद शब्द का भी प्रयोग मिलता है।

प्रातिशाख्य शब्द का अर्थ—प्रातिशाख्य शब्द का अर्थ है—

शाखां शाखां प्रति प्रतिशाखम्, प्रतिशाखेषु भवं प्रातिशाख्यम्।

इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस ग्रन्थ में वेद की एक एक शाखा के नियमों का वर्णन हो, वह प्रातिशाख्य कहाता है।

परन्तु प्रातिशाख्यों के अध्ययन से विदित होता है कि इनमें किसी एक शाखा के ही नियमों का निर्देश नहीं है, अपितु इनमें एक एक चरण की सभी शाखाओं के नियमों का सामान्यरूप से उल्लेख मिलता है। आचार्य यास्क ने भी कहा है—

पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि। १।१७॥

अर्थात्—सभी चरणों के पार्षद पदप्रकृति वाले हैं।

यहाँ यास्क ने भी पार्षदों का सम्बन्ध चरण के साथ दर्शाया है, न कि प्रतिशाखा के साथ।

चरण और शाखाओं में भेद—चरण शब्द से उन सभी शाखाओं का बोध होता है जो किसी एक संहिता के विभिन्न आचार्यों के प्रवचन द्वारा पाठ-

भेद होने के कारण अवान्तर विभागों में विभक्त हुई हैं। यथा वाजसनेय याज्ञवल्क्य प्रोक्त एक मूल वाजसनेयी संहिता के माध्यन्दिनि, कण्व, गालव आदि १५ आचार्यों द्वारा विभिन्न रूप से प्रोक्त सभी संहिताएँ एक वाजसनेय सामान्य नाम से व्यवहृत होती हैं। यह वाजसनेय नाम उन सभी के चरण रूप प्रतिष्ठा = स्थिति का स्थान है। इस नाम से ज्ञात होता है कि माध्यन्दिनी काण्वी गालवी आदि शाखाओं की मूल स्थिति वाजसनेय याज्ञवल्क्य के प्रवचन पर आधृत है।

प्रतिशाखा का मूल अर्थ—प्राचीन काल में चरण के अर्थ में प्रतिशाखा शब्द का व्यवहार होता था और जिन्हें सम्प्रति शाखा नाम से पुकारते हैं, उनके लिए अवान्तरशाखा शब्द प्रयुक्त होता था। विष्णुपुराण अंश ३, अ० ४ में ऋग्वेद की चरणरूप संहिताओं का वर्णन करके उसकी शाखाओं के वर्णन के अनन्तर कहा है—

इत्येताः प्रतिशाखाभ्योऽप्यनुशाखा द्विजोत्तम ॥ २५ ॥

अर्थात्—शाकल्यशिष्य प्रोक्त पांच अनुशाखाओं को प्रतिशाखा से निसृत जानो।

विष्णुपुराण के व्याख्याता श्रीधर ने अनुशाखा का अर्थ इस प्रकार लिखा है—

अनुशाखा अवान्तरशाखाः।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि प्रतिशाखा पद का प्रयोग चरणरूप मूल संहिता के लिए और अनुशाखा का प्रयोग उसकी अवान्तर शाखाओं के लिए होता है। इस दृष्टि से प्रतिशाखा का अर्थ होगा—

शाखां प्रतिगता शाखा प्रतिशाखा।

अर्थात्—जो शाखा पुनः शाखा भाव को प्राप्त हुई, वह प्रतिशाखा कहाती है।

वेदों के जितने चरण अथवा अवान्तर शाखाओं की मूल संहिताएं हैं वे भी अपने अपने मूल वेदकी शाखारूप हैं। एक ही मूल ऋक्संहिता को पहले व्यास ने शाकल्य आदि पांच शिष्यों को पढ़ाया। पुनः उन्होंने स्वगुरु से प्राप्त संहिता को अपने अपने शिष्यों को विभिन्न रूपों में पढ़ाया। ये शाकल्य आदि के द्वारा प्रोक्त संहिताएँ मूल संहिता की शाखारूप हुईं। शाकल्य आदि के शिष्यों ने पुनः उनको विभिन्न प्रकार से अपने शिष्यों को पढ़ाया। वे शाखाओं की अवान्तर शाखाएँ हुईं। इसी प्रकार अन्य वेदों की मूल संहिता भी शाखा शाखान्तर रूप में प्रसृत हुईं। इसी इतिहास को ध्यान में रखकर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने

चरण और शाखाओं के लिए ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ २९४ (तृ० सं०) पर "शाखा शाखान्तर व्याख्या सहित चार वेद" वाक्य में शाखा-शाखान्तर शब्दों का व्यवहार किया है। यह व्यवहार अति प्राचीन व्यवहार के अनुरूप है।

प्रतिज्ञासूत्र का व्याख्याता अनन्तदेव याज्ञिक कात्यायन प्रातिशाख्य को वाजसनेय चरण की १५ शाखाओं का प्रातिशाख्य मानता हुआ प्रतिशाखा शब्द के उक्त अर्थ को न समझ कर लिखता है—

प्रतिशाखासु भवं प्रातिशाख्यमिति सम्भवाभिप्रायेण बहुवचनान्तयोगेनापि निर्वाह इत्यास्तां तावत्। २।१, काशी सं० पृष्ठ ४१५।

यतः अवान्तर शाखाओं की मूल शाखा ही शाखान्तर भाव को प्राप्त होने से प्रतिशाखा शब्द से व्यवहृत होती है। इसलिए प्रातिशाख्य का सबंध भी इसी प्रतिशाखा शब्द के साथ है। इस विवेचना से स्पष्ट है कि प्रातिशाख्यों का संबन्ध प्रतिशाखाओं अर्थात् चरणों की समस्त अवान्तर शाखाओं के साथ है।

आधुनिक विद्वानों की भूल—प्रत्येक प्रातिशाख्य अपने अपने चरणों की समस्त शाखाओं के संधि आदि नियमों का सामान्यरूप से उल्लेख करते हैं। इस तथ्य को न जान कर अनेक आधुनिक विद्वान् तत्तत्प्रातिशाख्यों को उन उन विशिष्ट शाखाओं के नियम बोधक समझते हैं। इस अज्ञान के कारण अनेक लेखकों ने भूलें की हैं। हम यहाँ निदर्शनार्थ एक ग्रन्थकार द्वारा की गई भूलों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं—

पूर्व नियम के अनुसार वर्तमान शौनक प्रोक्त ऋक्प्रातिशाख्य शाकल-चरण की सभी शाखाओं के नियमों का बोधक है, परन्तु ऋग्वेदकल्पद्रुम के लेखक केशव ने उक्त तात्पर्य को न जान कर ऋक्प्रातिशाख्य को ऋग्वेद की वर्तमान संहिता का ही नियम-बोधक मानकर ऋग्वेदकल्पद्रुम की भूमिका के अन्त में ऋक्संहिता में अनेक प्रमादपाठ = अपपाठ दर्शाए हैं[1] और अन्त में लिखा है—

एवमन्येऽपि प्रमादाः प्रातिशाख्यादिपर्यालोचनेन ज्ञेयाः।

इसी प्रकार माध्यन्दिन शाखा अध्येता एक संशोधक ने निर्णयसागर प्रेस से सं० २००९ के आस पास प्रकाशित संहिता के उन पाठों को जो वाजसनेय प्रातिशाख्य के अनुगुण नहीं थे, प्रातिशाख्य के अनुकूल बना दिया। इन संशोधक महानुभाव ने स्वयं हमें बम्बई में सेठ प्रतापजी शूरजी के चतुर्वेद पारायण यज्ञ के अवसर पर कहा था। हमें उक्त महानुभाव का नाम स्मरण नहीं है, और ना ही उनके द्वारा परिवर्तित संस्करण हमारे पास है।

---

१. हमारा हस्तलेख, पृष्ठ १७१–१८२।

इसलिए वैदिक संहिताओं के शोधकार्य में प्रवृत्त विद्वानों को प्रातिशाख्य ग्रन्थों से पाठ संशोधन में सहायता लेते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रातिशाख्य निर्दिष्ट नियम इसी शाखा के लिए (जिसका वे सम्पादन कर रहे हैं) अथवा अन्य शाखा के लिए। जो वैदिक संहिताओं के सम्पादन में इस बात का विशेष रूप से ध्यान नहीं रखेगा, वह उन संहिताओं के परम्परा प्राप्त पाठों को व्याकुलित कर देगा।

पार्षद पारिषद शब्द का अर्थ—पर्षत् और परिषत् दोनों शब्द समानार्थक हैं। दोनों का लोक प्रसिद्ध अर्थ सभा है। परन्तु पार्षद और पारिषद प्रयोगों की मूल प्रकृतियाँ सभा-सामान्य की वाचक नहीं हैं। इनसे एक चरण वाले विभिन्न शाखाध्येताओं की सभा का ही बोध होता है। इसलिए समान चरण की विभिन्न शाखाएँ भी लक्षणा से पर्षद अथवा परिषद् कही जाती हैं और उनके व्याख्या ग्रन्थ पार्षद अथवा पारिषद कहे जाते हैं।

अथर्वपार्षदोक्त अर्थ—अथर्व प्रातिशाख्य के अन्त में परिषत् शब्द का अर्थ इस प्रकार दर्शाया है—

आम्नातं परिषत् तस्य शास्त्रम्।

इस लक्षण के अनुसार परिषत् शब्द से आम्नात संहिता पठित शब्दों का निर्देश है। उसका यह शास्त्र है।

यही अर्थ अगले सूत्र से भी द्योतित होता है—

आम्नातव्यमनाम्नातं प्रपाठेऽस्मिन् क्वचित् पदम्।
छन्दसोऽपरिमेयत्वात् परिषत्तस्य लक्षणम्,
परिषत्तस्य लक्षणम्।

अर्थात्—पढ़ने योग्य शब्दों को नहीं पढ़ा इस प्रपाठ (प्रातिशाख्य) में कहीं पदों को, छन्दों के अपरिमेय होने से परिषत् संहिता पठित शब्द ही उसका लक्षण है अर्थात् संहिता के पाठ सामर्थ्य से उसको वैसा ही समझे।

अर्थ विशेष का कारण—अथर्व प्रातिशाख्य में किए गये इस अर्थ विशेष का एक विशिष्ट कारण है। अथर्वपार्षद किसी शाखा विशेष का है और अन्य आर्च याजुष आदि प्रातिशाख्य चरणों के हैं। एक एक चरण में कई कई शाखाएँ होने से चरण समूहावलम्बेन शाखाओं की सभा रूप होता है, अतः वहाँ लौकिक अर्थ से समानता बन जाती है। अथर्व शाखाओं में आर्च और याजुष शाखाओं के समान चरण विभाग नहीं है। इसलिए उसे परिषत् का भिन्न अर्थ बताना पड़ा।

ऋग्वेद के प्रातिशाख्य

ऋग्वेद के पाँच चरणों के पाँच प्रातिशाख्यों में से सम्प्रति एक प्रातिशाख्य ही उपलब्ध है। इसका संबन्ध शाकल चरण की संहिताओं के साथ है। अन्य आश्वलायन, वाष्कल, शाङ्खायन प्रातिशाख्य केवल नाम मात्र से विज्ञात हैं। अतः सम्प्रति ऋग्वेद संबन्धी एक ही प्रातिशाख्य उपलब्ध है, अतः इसके लिये लोक में सामान्य रूप से ऋक्प्रातिशाख्य शब्द का व्यवहार होता है।

१—शौनक (३००० वि० पूर्व)

आचार्य शौनक ने ऋग्वेद के शाकल चरण की शाखाओं से संबद्ध एक प्रातिशाख्य का प्रवचन किया है। यह सम्प्रति ऋक्पार्षद अथवा ऋक्प्रातिशाख्य नाम से प्रसिद्ध है।

प्रवक्ता—सम्प्रति उपलब्ध ऋक्प्रातिशाख्य का प्रवक्ता कुलपति = गृहपति[1] आचार्य शौनक है। इन्हें बह्वृचसिंह भी कहा जाता है। इस प्रातिशाख्य का शौनक प्रवक्तृत्व इसकी अन्तरङ्ग परीक्षा से भी स्पष्ट है। इस पार्षद के प्राचीन वृत्तिकार विष्णुमित्र ने अपनी वृत्ति के आरम्भ में लिखा है—

तस्मादादौ तावच्छास्त्रावतार उच्यते—

> शौनको गृहपतिर्वै नैमिषीयैस्तु दीक्षितैः।
> दीक्षासु चोदितः प्राह सत्रे तु द्वादशाहिके॥

इति शास्त्रावतारं स्मरन्ति।

अर्थात्—गृहपति शौनक ने सत्र में दीक्षित नैमिषारण्यस्थ मुनियों की प्रेरणा से द्वादशाह नामक सत्र में इस शास्त्र का प्रवचन किया। इस प्रकार शास्त्र का अवतरण पूर्वाचार्यों द्वारा स्मरण किया जाता है।

विष्णुमित्र के उपर्युक्त शास्त्रावतार निर्देश से स्पष्ट है कि इस पार्षद के प्रवचन का इतिहास पूर्व व्याख्याकार परम्परा से स्मरण करते चले आ रहे हैं। अतः यह इतिहास परम प्रामाणिक है। इसमें किसी प्रकार की आशंका को कोई स्थान नहीं है।

---

१. प्राचीन परिभाषा के अनुसार जो आचार्य १० सहस्र विद्यार्थियों का अन्न वस्त्र से भरण पोषण करता है, वह कुलपति अथवा गृहपति कहाता है।

काल—कुलपति शौनक के काल के सम्बन्ध में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में आचार्य पाणिनि के प्रकरण में (पृष्ठ १३९ प्र० सं०) विस्तार से लिख चुके हैं। तदनुसार पार्षद-प्रवक्ता शौनक का काल सामान्यतया भारत-युद्ध (३१०० वि० पूर्व) से लेकर महाराज अधिसीम के काल (भारतयुद्धोत्तर २५० वर्ष=३८५० वि० पूर्व) तक है। परन्तु यास्क ने अपनी तैत्तिरीय सर्वानुक्रमणी में शौनक के प्रातिशाख्य निर्दिष्ट छन्दोमत का नामपुरःसर निर्देश किया है।[1] अतः स्पष्ट है कि शौनक ने इस पार्षद का प्रवचन यास्क के सर्वानुक्रमणी के प्रवचन से पूर्व किया था। उधर शौनक ने भी इस प्रातिशाख्य में यास्क के किसी ऋक्संबन्धी ग्रन्थ से यास्कीय मत को उद्धृत किया है।[2] महाभारत से ज्ञात होता है कि यास्क ने निरुक्त का प्रवचन महाभारत के प्रवचन से पूर्व किया था।[3] इस लिए शौनक के पार्षद-प्रवचन का काल भारत युद्ध से लगभग १०० वर्ष से अधिक उत्तर नहीं माना जा सकता। इस प्रकार पार्षद-प्रवचन का काल विक्रम से ३००० तीन सहस्र वर्ष पूर्व रहा होगा।[4]

ऋक्प्रातिशाख्य का सामान्य परिचय—इस प्रातिशाख्य में १८ पटल हैं। प्रत्येक पटल में छन्दोबद्ध सूत्र हैं।

यह पार्षद अन्य पार्षदों से कुछ वैशिष्ट्य रखता है। अन्य पार्षदों में प्रायः सन्धि आदि के नियमों, पद-पाठ तथा क्रम-पाठ के नियमों का ही उल्लेख रहता है। यदि शिक्षा का किसी में वर्णन मिलता भी है, तो बहुत साधारण। इस पार्षद में १३ वें, १४ वें पटलों में विस्तार से शिक्षा का विषय वर्णित है। १६-१८ तक तीन पटलों में छन्दःशास्त्र का विस्तार के विधान है।

---

१. द्वादशिनस्त्रयोऽष्टाक्षराश्च जगती ज्योतिष्मती। साऽपि त्रिष्टुबिति शौनकः। छन्दोविचितिभाष्यकार पेत्ता शास्त्री (हृषीकेश) द्वारा उद्धृत। द्र० वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वेदों के भाष्यकार भाग, पृष्ठ २०५ पर निर्दिष्ट। शौनक का उक्त मत ऋक्प्राति० १६।७० में निर्दिष्ट है।

२. न दाशतय्येकपदा काचिदस्तीति वै यास्कः। ऋक्प्राति० १७।४२।

३. स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः। मत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान्॥ शान्ति० ३४२।७३॥

४. हमने इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ १३९ पर ऋक्प्रातिशाख्य का प्रवचन काल भारतयुद्ध से २५० वर्ष पश्चात् लिखा है, उसे सुधार लें।

काशिका ४।३।१०६ में शौनकीया शिक्षा का उल्लेख है। यह शौनकीया शिक्षा ऋक्प्रातिशाख्य अन्तर्गत १३-१४ पटल ही है अथवा शौनक ने किसी स्वतन्त्र शिक्षा ग्रन्थ का भी प्रवचन किया था, यह अज्ञात है।

ऋक्प्रातिशाख्य का आरम्भ—ऋक्प्रातिशाख्य का आरम्भ कहां से होता है, इस विषय में वृत्तिकार विष्णुमित्र और भाष्यकार उव्वट का मत-भेद है। डा. मंगलदेव शास्त्री के संस्करण के आरम्भ में विष्णुमित्र कृत वर्गद्वय-वृत्ति छपी है। इस वृत्ति के अनुसार ये दोनों वर्ग प्रातिशाख्य के आद्य अवयव हैं। **इति वर्णराशिक्रमश्च** (सूत्र १०) की व्याख्या में विष्णुमित्र ने वर्गद्वय अन्तर्गत वर्णसमाम्नाय अथवा वर्णक्रम निर्देश का प्रयोजन देते हुए लिखा है—

वर्णक्रमश्चाद्यमेव वेदितव्य उक्तप्रकारेण। वक्ष्यति—ऋकारादयो दश नामिनः स्वराः (१।६५) इति तथा परेष्वैकारमोजयोः (२।१८) औकारं युग्मयोः (२।१९) इति। अन्त्याः सप्त तेषामघोषाः (१।११) तथा प्रथमपञ्चमौ च द्वा ऊष्मणाम् (१।३९) इति एवमादिष्वयं क्रमो वेदितव्यः। (पृष्ठ २०)

इसमें वक्ष्यति क्रिया के निर्देश और वर्णक्रम का प्रयोजन बतलाने वाले सूत्रों के निर्देश से स्पष्ट है कि वृत्तिकार वर्गद्वय तथा उत्तर भाग का एक ही कर्ता मानता है। इतना ही नहीं, वह पुनः लिखता है—

एवं वर्णसमाम्नायमुक्त्वा तत्र लघुनोपायेन संज्ञापरिभाषाभ्यां शास्त्रे संव्यवहारसिद्धिं मन्यमानः संज्ञासंज्ञिसंबन्धार्थमाह— (पृष्ठ २०)

इससे भी यही ध्वनित होता है कि जिसने वर्गद्वय में समाम्नाय पढ़ा, वही संज्ञासंज्ञि-संबन्ध बताने के लिए अगले सूत्रों को पढ़ता है।

उव्वट ने शास्त्र का आरम्भ—

शिक्षाछन्दोव्याकरणैः सामान्येनोक्तलक्षणम्।
तदेवमिह शाखायामिति शास्त्रप्रयोजनम्॥

श्लोक से माना है। तदनन्तर **अष्टौ समानाक्षराण्यादितः** आदि संज्ञा-निर्देशक सूत्र का पाठ स्वीकार किया है।

डा० मङ्गलदेव जी की भूल—डा० मङ्गलदेव जी ने इस श्लोक को पार्षद का वचन न समझकर उव्वट का वचन स्वीकार कर छोटे अक्षरों में छापा है। परन्तु यह उनकी भूल है। हो सकता है, उन्हें यह भूल पूर्व संस्करणों से विरासत में मिली हो। अस्तु

उव्वट उक्त श्लोक को पार्षद का अङ्ग मानता है। वह इसके आरम्भ में लिखता है—किमर्थमिदमारभ्यते अर्थात् यह पार्षद किस लिए बनाया जा रहा है? इसके उत्तर में उक्त श्लोक पढ़कर लिखता है—

प्रातिशाख्यप्रयोजनमनेन श्लोकेन उच्यते।

अर्थात्—इस श्लोक से प्रातिशाख्य की रचना का प्रयोजन बताया है।

इससे भी यही ध्वनित होता है कि रचनाप्रयोजन का निर्देशक वचन प्रातिशाख्य का अंग है। इतना ही नहीं, **अष्टौ समानाक्षराण्यादितः** सूत्र से पूर्व वह लिखता है—

उक्तं शास्त्रप्रयोजनम्। प्रथम पटले तु संज्ञाः परिभाषाश्चोच्यन्ते। तदर्थमिदमारभ्यते—अष्टौ......।

इस वाक्य में **उक्तम्** और **उच्यन्ते** दोनों क्रियाओं का एक ही कर्ता होने पर ही वाक्य का सामञ्जस्य बनता है, अन्यथा **मयाभाष्यकृता शाप्रयोजनमुक्तम्, तदर्थमिदमारभ्यते पार्षदकृता** ऐसी कल्पना में महान् गौरव होता है और दोनों वाक्यों का परस्पर संबन्ध नहीं बनता।

और भी—उव्वट ने उक्त श्लोक की विस्तृत व्याख्या करके शास्त्रप्रयोजन बताते हुए लिखा है—

तथा चाथर्वणप्रातिशाख्य इदमेव प्रयोजनमुक्तम्—एवमिहेति च विभाषा प्राप्तं समान्येन (१।२)। पृष्ठ २३।

यहाँ उव्वट ने उक्त श्लोक निर्दिष्ट प्रयोजन ही शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है, इसकी पुष्टि के लिए अथर्व प्रातिशाख्य का वचन उद्धृत किया है। इससे भी यही विदित होता है कि जैसे अथर्व प्रातिशाख्य का प्रयोजन निर्देशक वचन उसका अवयव है, वैसे ही ऋक्पार्षद का प्रयोजन निर्देशक उक्त श्लोक भी ऋक्पार्षद का अवयव है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि उव्वट के मत में प्रातिशाख्य का आरम्भ उक्त श्लोक से होता है।

विष्णुमित्रवृत्ति में उक्त श्लोक है अथवा नहीं, हम नहीं कह सकते, क्योंकि इस समय हमारे पास विष्णुमित्र कृत पार्षदवृत्ति का हस्तलेख नहीं है। परन्तु विष्णुमित्र की वर्गद्वय वृति से हमें सन्देह होता है कि उसके ग्रन्थ में यह श्लोक नहीं रहा होगा। इसमें निम्न हेतु हैं—

(१) विष्णुमित्र वर्गद्वय के द्वितीय श्लोक की अवतरणिका में लिखता है—

एवं शास्त्रादौ नमस्कारं प्रतिज्ञां च कृत्वा शास्त्रप्रयोजनमाह—

माण्डूकेयः संहितां वायुमाह तथाकाशं चास्य माक्षव्य एव। इत्यादि।

इससे स्पष्ट है कि विष्णुमित्र के पार्षद ग्रन्थ में उव्वट स्वीकृत प्रयोजन-बोधक श्लोक नहीं था।

(२) आगे वर्गद्वय वृत्ति के अन्त में पुनः लिखता है—

एवं वर्णसमाम्नायमुक्त्वा तत्र लघुनोपायेन संज्ञापरिभाषाभ्यां शास्त्रे संव्यवहारसिद्धिं मन्यमानः संज्ञासंज्ञिसंबन्धार्थमाह—(पृष्ठ २०)

इस लेख से स्पष्ट है कि उसके पार्षद में इति वर्णराशिक्रमश्च (वर्गद्वय १०) और अष्टौ समानाक्षराण्यादितः सूत्रों के मध्य में कोई व्यवधायक वचन नहीं था।

विष्णुमित्र व्याख्यात वर्गद्वय पार्षद के अङ्ग—विणुमित्र द्वारा व्याख्यात वर्गद्वय ऋक्प्रातिशाख्य के अवयव हैं। इनमें निर्दिष्ट वर्ण-समाम्नाय अथवा वर्ण-क्रम का उपदेश किए विना ऋक्प्रातिशाख्य के उत्तरवर्ती कई सूत्रों का प्रवचन ही नहीं हो सकता। उव्वट जो कि इस वर्गद्वय को प्रातिशाख्य का अवयव नहीं मानता उसके सम्मुख यह भयङ्कर बाधा उपस्थित हुई कि अष्टौ समानाक्षराण्यादितः आदि सूत्रों में किस क्रम से वर्णों की गिनती की जाए। वह स्वयं लिखता है—

ननु कथं वर्णसमाम्नायमनुपदिश्यैव अष्टौ समानाक्षराण्यादित (१।१) इति। उपदिष्टस्य हि व्यपदेश एवमुपपद्यते आदित इति, नानुपदिष्टस्य। तथा—चत्वारि संध्यक्षराण्युत्तराणि (१।२) इत्युत्तरव्यपदेशो नैव घटते। पृष्ठ २५।

अर्थात्—अक्षर-समाम्नाय का उपदेश किए विना सूत्रों में आदितः तथा उत्तराणि निर्देश उपपन्न नहीं हो सकता।

इस शंका को उपस्थित करके उसने अत्यन्त क्लिष्ट कल्पनाएँ की हैं। यथा—

१—आचार्यप्रवृत्त्या क्रमोऽन्यथाऽनुमीयते। पृष्ठ २५।

२—सोऽयमाचार्यप्रवृत्त्या पाठक्रमोऽनुमीयमानो लौकिकवर्णसमाम्नायस्य द्विधापाठं गमयति। पृष्ठ २६।

अर्थात्—आचार्य की प्रवृत्ति से लौकिक क्रम से भिन्न वर्णसमाम्नाय क्रम का अनुमान होता है। आचार्य की प्रवृत्ति से अनुमीयमान पाठ-क्रम बतलाता है कि लौकिक वर्णसमाम्नाय का दो प्रकार का क्रम था।

ये क्लिष्ट कल्पनाएँ वर्गद्वय का ज्ञान न होने से ही उव्वट को करनी पड़ीं, यह स्पष्ट है।

उव्वट के काल में वर्गद्वय पार्षद के अंग नहीं थे—उव्वट के उक्त लेख से स्पष्ट है कि उस के काल में विष्णुमित्र व्याख्यात वर्गद्वय पार्षद के अंग नहीं थे। अन्यथा उसे उक्त क्लिष्ट कल्पनाएँ न करनी पड़तीं।

शौनक के अन्य ग्रन्थ—आचार्य शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य के अतिरिक्त अनेक ग्रन्थों का प्रवचन किया था। वैदिक वाङ्मय में—अथर्व की शौनक संहिता, अथर्व प्रातिशाख्य, बृहद्देवता, ऋग्वेद के ऋषि-देवता-छन्द-अनुवाक आदि से संबद्ध दश अनुक्रमणियां और शौनकी शिक्षा प्रसिद्ध हैं। वैदिकेतर वाङ्मय में ज्योतिष शास्त्र और चिकित्साशास्त्र आदि का प्रवचन किया था।

ज्योतिष संबधी शौनक संहिता का उल्लेख शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने 'भारतीय ज्योतिष शास्त्राचा इतिहास' के पृष्ठ ४७५ में किया है और पृष्ठ १८६, ४८२ टि०, ४८७ में शौनक-मत का निर्देश मिलता है। चिकित्साशास्त्र संबंधी शौनक संहिता का उल्लेख वाग्भट्ट ने **अधीते शौनकः पुनः** (अष्टाङ्गहृदय कल्प स्थान ६।१५) में किया है। इस पर सर्वाङ्गसुन्दरा टीका में **शौनकस्तु तन्त्रकृदधीते—एवं पठति**······। लिखकर शौनक का पाठ उद्धृत किया है।

व्याख्याकार

(१) भाष्यकार

ऋक्पार्षद के वृत्तिकार विष्णुमित्र ने स्ववृत्ति के आरम्भ में लिखा है—

सूत्रभाष्यकृतः सर्वान् प्रणम्य शिरसा शुचिः।

दक्खन कालेज के संग्रह में वर्तमान हस्तलेख (संख्या ५५) का पाठ इस प्रकार है—

तन्त्रभाष्यविदः सर्वान् प्रणम्यप्रयतः शुचिः।

दोनों पाठों में से मूलपाठ कोई भी हो। दोनों से एक ही बात स्पष्ट है कि ऋक्पार्षद पर किसी आचार्य ने कोई भाष्य ग्रन्थ लिखा था।

इस भाष्य के विषय में इस से अधिक हम कुछ नहीं जानते।

(२) आत्रेय

विष्णुमित्र की पार्षद-वृत्ति के आरम्भ के द्वितीय श्लोक का दक्खन कालेज के हस्तलेख का पाठ इस प्रकार है—

तस्य वृत्तिः कृता येन तम् आत्रेयं प्रणम्य च।
तेषां प्रसादेनास्याहं स्वशक्त्या वृत्तिमारभे ॥[1]

इस पाठ के अनुसार ऋक्पार्षद की किसी आत्रेय ने वृत्ति लिखी थी।

यह वृत्तिकार आत्रेय कौन है, यह अज्ञात है। एक आत्रेय तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ५।३०; १७।८ तथा मैत्रायणीय प्रातिशाख्य ५।३३; २।५; ६।८ में स्मृत है। एक आत्रेय तैत्तिरीय संहिता का पदकार है।[2] प्रातिशाख्यों में स्मृत और तैत्तिरीय संहिता का पदकार तो निश्चित रूप से एक है। ऋक्पार्षद वृत्तिकार यदि यही आत्रेय हो तो यह आर्षयुगीन व्यक्ति होगा। परन्तु इस विषय में निश्चित रूप से अभी कुछ नहीं कह सकते।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ५।१ की व्याख्या में त्रिभाष्यरत्न व्याख्याकार सोमार्य ने आत्रेय का एक पाठ उद्धृत किया है।[3] उससे विदित होता है कि किसी आत्रेय ने तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की व्याख्या की थी। ऋक्प्रातिशाख्य और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के व्याख्याकार आत्रेयों के एकत्व की संभावना अधिक है।

आत्रेय की एक शिक्षा भी है। इसका एक हस्तलेख विश्वेश्वरानन्द शोध-संस्थान होशियारपुर के संग्रह में है। द्र० संख्या ४३७१ पृष्ठ ३००।

(३) विष्णुमित्र

विष्णुमित्र ने ऋक्प्रातिशाख्य पर एक उत्तम वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति अभी तक केवल दो वर्गों पर ही मुद्रित हुई है। इसके हस्तलेख अनेक स्थानों पर विद्यमान हैं। इसका कुछ अंश श्री पं० भगवद्दत्तजी देहली के संग्रह में भी है।

---

१. दक्खन कालेज का हस्तलेख, संख्या ५५।

२. यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुंडिनः। तैत्तिरीय काण्डानुक्रमणी।

३. एकसमुत्थः प्राणः एकप्राणः, तस्य भावस्तद्भावः, तस्मिन् इत्यात्रेयमतम्। पृष्ठ १६२, मैसूर संस्क०।

परिचय—विष्णुमित्र ने अपनी वृत्ति के आरम्भ में जो परिचय दिया है वह इस प्रकार है—

> चम्पायां न्यवसत् पूर्वं वत्सानां कुलमृद्धिमत् ॥ ५ ॥
> देवमित्र इति ख्यातस्तस्मिञ्जातो महामतिः ।
> स वै पारिषदे श्रेष्ठः सुतस्तस्य महात्मनः ॥ ६ ॥
> नाम्ना विष्णुमित्रः स कुमार इति शस्यते ॥ ७ ॥

इस परिचय के अनुसार विष्णुमित्र का अपर नाम 'कुमार' था। इसके पिता का नाम देवमित्र था। देवमित्र पार्षद=प्रातिशाख्य ज्ञाताओं में श्रेष्ठ था। विष्णुमित्र वत्सकुल का था। यह कुल पहले चम्पा में निवास करता था।

पाठान्तर—डा० मङ्गलदेव के संस्करण में देवमित्र का वेदमित्र और विष्णुमित्र का विष्णुपुत्र पाठान्तर उपलब्ध होते हैं। परन्तु इस ग्रन्थ के जो अन्य हस्तलेख हैं, उनकी अन्तिम पुष्पिका के अनुसार देवमित्र और विष्णुमित्र नाम ही प्रामाणिक हैं।

काल—विष्णुमित्र का काल अज्ञात है।

वृत्ति का नाम—विष्णुमित्र कृत पार्षदवृत्ति का नाम ऋज्वर्था है। दक्खन कालेज के हस्तलेख संख्या ५६ का अन्त का पाठ इस प्रकार है—

इति देवमित्राचार्यपुत्रश्रीकुमारविष्णुमित्राचार्यविरचितायाम् ऋज्वर्थायां पार्षदव्याख्यायाम् अष्टादशपटलं समाप्तम्।

इस हस्तलेख का लेखन काल शक सं० १५६२=वि० सं १६९७ है।

विशेष—इस हस्तलेख के पत्रा ८६ ख. तथा कुछ अन्य पटलों के अन्त में व्याख्याकार वज्रट पुत्र उव्वट का नाम मिलता है। सम्भव है लिपिकर को जिन अंशों पर विष्णुमित्र का ग्रन्थ न मिला होगा, वहां उसने उव्वट व्याख्या को लिख कर ग्रन्थ को पूरा किया होगा।

इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने की महती आवश्यकता है। इस वृत्ति से अनेक रहस्यों के प्रकट होने की सम्भवना है।

(४) उव्वट (सं ११०० के समीप)

उव्वट ने ऋक्प्रातिशाख्य का भाष्य नाम से व्याख्यान किया है। इस का भाष्य अनेक स्थानों से प्रकाशित हो चुका है। इन में डा० मङ्गलदेव का

संस्करण यद्यपि उत्तम है, पुनरपि इस में अभी पाठ संशोधन की महती स्थिति है।

परिचय—उव्वट ने प्रातिशाख्यभाष्य में अपने को आनन्दपुर का रहने वाला और वज्रट का पुत्र कहा है।

काल—उव्वट ने अपने यजुर्वेद भाष्य के अन्त में भोजराज के काल में मन्त्रभाष्य लिखने का उल्लेख किया है।[1] भोज का राज्यकाल सामान्यतया सं० १०७५–१११० तक माना जाता है।

देश—वज्रट उव्वट आदि नामों से विदित होता है कि यह कश्मीरी ब्राह्मण था। काशी के सरस्वती भवन के हस्तलेख के अनुसार काशी से मुद्रित यजुर्भाष्य के १३ वें अध्याय के अन्त में लिखा है कि यजुर्वेद भाष्य उज्जयिनी में लिखा गया है।[2] यही भाव अन्य हस्तलेखों के पाठों का भी है। उनमें 'अवन्ती' का निर्देश है।

अन्य ग्रन्थ—उव्वट ने ऋक्प्रातिशाख्य के अतिरिक्त माध्यन्दिनी संहिता शुक्लयजुः प्रातिशाख्य और ऋक्सर्वानुक्रमणी पर भी अपने भाष्य लिखे हैं।

(५) सत्ययशाः

ऋक्प्रातिशाख्य पर सत्ययशाः नाम के किसी व्यक्तिने एक व्याख्या लिखी है। इस का एक हस्तलेख विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान होशियारपुर के संग्रह में विद्यमान है। द्रष्टव्य संख्या ४१३१, सूचीपत्र पृष्ठ ५०।

यह हस्तलेख पूर्ण है। इसमें २०४ पत्रे हैं। इसका ग्रन्थमान ३५०० श्लोक है। यह केरल लिपि में लिखा हुआ है।

इससे अधिक हम इसके विषय में कुछ नहीं जानते

(६) अज्ञातनाम

मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र भाग ५ खण्ड १ B के पृष्ठ ६३२७, संख्या ४३०१ पर वाक्यदीपिका नाम्नी ऋक्प्रातिशाख्य-व्याख्या का एक हस्तलेख निर्दिष्ट है।

इसके लेखक का नाम अज्ञात है। हस्तलेख पूर्ण है।

---

१. ऋष्यादींश्च नमस्कृत्य अवन्त्यामुव्वटो वसन्। मन्त्राणां कृतवान् भाष्यं महीं भोजे प्रशासति ॥

२. उवटेन कृतं भाष्यमुज्जयिन्यां स्थितेन तु।

(७) अज्ञातनाम

मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र भाग ६ खण्ड १ के पृष्ठ ७३८१, संख्या ५३४९ पर एक ऋक्प्रतिशाख्य-व्याख्या निर्दिष्ट है। इसका उदाहरण-मण्डिका नाम से संकेत है। इसी ग्रन्थ के तीन हस्तलेख ट्रिवेण्ड्रम के संग्रह में भी हैं। द्र० सूचीपत्र भाग ५ संख्या ७,८,९। यहां इन का निर्देश "पार्षदव्याख्या उदाहरण-मण्डिता" नाम से है।

इस ग्रन्थ के लेखक का नाम तथा देश काल अज्ञात है।

(८) पशुपतिनाथ शास्त्री

पशुपतिनाथ शास्त्री ने चिन्ताहरण शर्मा के साहाय्य से उव्वट-भाष्य के आधार पर ऋक्पार्षद की एक व्याख्या लिखी है।[1] यह संस्कृत साहित्य परिषद् ग्रन्थमाला कलकत्ता से सन् १९२९ में प्रकाशित हुई है।

यह व्याख्या संक्षिप्त है। इस में उव्वट द्वारा अस्वीकृत आद्य वर्गद्वय को (जिन पर विष्णुमित्र की टीका छपी हैं) ग्रन्थ के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया है। यह उचित ही किया है।

२—आश्वलायन (३००० विक्रम पूर्व)

ऋग्वेद की आश्वलायन शाखा का एक प्रातिशाख्य अनन्त की वाजसनेय प्रातिशाख्य की टीका में निर्दिष्ट है। अनन्त का पाठ इस प्रकार है—

नाप्याश्वलायनाचार्यादिकृतप्रातिशाख्यसिद्धत्वम्। १।१ ॥

अनन्त के इस पाठ से विदित होता है कि इस प्रातिशाख्य का प्रवक्ता आश्वलायन आचार्य है।

यह प्रातिशाख्य इस समय प्राप्त नहीं है और इसका अन्यत्र कहीं उल्लेख भी प्राप्त नहीं होता।

अन्य ग्रन्थ—आचार्य आश्वलायन प्रोक्त निम्न ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

संहिता-ब्राह्मण—इस संहिता और ब्राह्मण के लिए पं० भगवद्दत्तजी कृत वैदिक वाङ्मय का इतिहास प्रथम भाग पृष्ठ २०३-२०६ (द्वि० सं०) तक देखना चाहिए।

पदपाठ—आश्वलायन पदपाठ का एक हस्तलेख दयानन्द कालेज लाहौर के संग्रह में संख्या ४१३९ पर निर्दिष्ट है। द्र० वै० वा० का इतिहास भाग १ पृष्ठ २०६ (द्वि० सं०)।

---

१. उव्वटकृतभाष्यानुसारिण्या व्याख्यया समलंकृत्य……। मुखपृष्ठ।

श्रौत-गृह्य—आश्वलायन श्रौत और गृह्य सूत्र प्रसिद्ध हैं।

अनुक्रमणी—आश्वलायन अनुक्रमणी का निर्देश अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणी के ११ वें पटल के आरम्भ में उपलब्ध होता है—

ॐ अथाथर्वणे विंशतितमकाण्डस्य सूक्तसंख्या सम्प्रदायाद् ऋषिदैवतछन्दांस्याश्वलायनानुक्रमानुसारेणानुक्रमिष्यामः।

सामवेद की नैगेयानुक्रमणी में कोऽद्य (साम मन्त्र सं० ३४१) के विषय में लिखा है—

कायीत्याहाश्वलायनः।

अर्थात्—आश्वलायन ने कोऽद्य ऋचा को कायी=क-देवतावाली कहा है। यह ऋचा ऋग्वेद १।८४।१६ में भी है। अतः नैगेय अनुक्रमणी के प्रवक्ता ने इस ऋचा का देवता संबन्धी आश्वलायन-मत उसकी ऋगनुक्रमणी से ही संगृहीत किया होगा।

काल—संहिता ब्राह्मण आदि के प्रवक्ता आचार्य आश्वलायन का काल वि० पूर्व ३१००-३००० तक है। भगवान् वेदव्यास ने भारत युद्ध से पूर्व शाखाओं का प्रवचन किया था। उसके कुछ काल पश्चात् ही उनके शिष्यों ने स्व-स्व शाखा का प्रवचन किया। इस प्रकार २८ वें व्यास कृष्णद्वैपायन तथा उसके शिष्य प्रशिष्यों का शाखाप्रवचन काल वि० पूर्व ३२००-३००० तक है।

पाश्चात्य विद्वानों की भ्रान्ति—बौद्ध त्रिपिटकों में आश्वलायन आदि के नाम अनेक स्थानों पर उपलब्ध होते हैं। उन्हें देखकर पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय आर्ष वाङ्मय को अर्वाक्कालिक सिद्ध करने के लिए यह मत प्रसारित किया है कि बौद्ध ग्रन्थों में स्मृत आश्वलायन आदि ब्राह्मण ही आश्वलायन आदि श्रौत सूत्रों और गृह्य सूत्रों के प्रवक्ता हैं। परन्तु यह मत सर्वथा भ्रान्त है।। बौद्धों के ग्रन्थों में उल्लिखित आश्वलायन आदि को श्रौत गृह्य आदि का प्रवक्ता कहीं नहीं लिखा। वस्तुतः बौद्ध ग्रन्थों में प्राचीन भारतीय पद्धति के अनुसार उस काल में विद्यमान विशिष्ट विद्वानों का, जो महात्मा बुद्ध के सम्पर्क में आए, उनका गोत्रनामों से उल्लेख किया है। अतः त्रिपिटकों में प्रयुक्त आश्वलायन आदि नाम गोत्र-नाम हैं, आद्य व्यक्ति के नहीं हैं।

३—बाष्कल-पार्षद का प्रवक्ता

बाष्कल चरण के प्रातिशाख्य का यद्यपि प्रत्यक्ष निर्देश नहीं मिलता, तथापि शांखायन श्रौत १२।१३।५ के वरदत्त सुत आनर्त्तीय के भाष्य के एक वचन से उसकी अतिशय सम्भावना होती है। वह वचन इस प्रकार है—

उपद्रुतो नाम सन्धिर्बाष्कलादीनां प्रसिद्धः। तस्योदाहरणम्।

इसमें बाष्कल चरण की शाखाओं में निर्दिष्ट उपद्रुत नाम की सन्धि का उल्लेख है। निश्चय ही इस सन्धि का विधान उसके प्रातिशाख्य में रहा होगा।

इसी प्रकार शांखायन श्रौत १।२।५ के भाष्य में निम्न वचन द्रष्टव्य है—

किन्तु बाष्कलानामप्रगृह्यः, तदर्थं वचनम्।

बाष्कल पार्षद के सम्बन्ध में इससे अधिक हमें कुछ ज्ञात नहीं है।

४—शाङ्खायन-पार्षद का प्रवक्ता

अलवर के राजकीय संग्रह में प्रातिशाख्य का एक हस्तलेख विद्यमान है। उसके अन्त में पाठ है—

इति प्रातिशाख्येऽष्टादशं पटलम्। तृतीयोऽध्यायः समाप्तः। सांखायन शाखायां प्रातिशाख्यं समाप्तम्।.........

द्र० सूचीपत्र ग्रन्थाङ्क १७। पाठनिर्देशक खण्ड पृष्ठ ३ संख्या ४।

इस प्रातिशाख्य के आद्यन्त के पाठ से तो प्रतीत होता है कि यह शाकल पार्षद है। परन्तु अन्तिम श्लोक के अन्त्यचरण—स्वर्गं जयत्येभिरथामृतत्वम् ॥३८॥७॥ के साथ ३८॥७ संख्याविशेष का निर्देश होने से सन्देह होता है कि यह पार्षद शाकल पार्षद से कुछ भिन्नता रखता हो और इसका प्रवचन भी शौनक ने ही किया हो। वस्तुतः इस हस्तलेख का पूरा पाठ मिलाने पर ही किसी निर्णय पर पहुँचा जा सकता है।

४—कात्यायन (३००० विक्रम पूर्व)

शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेय प्रातिशाख्य के प्रवक्ता वेदविद्याविचक्षण आचार्य कात्यायन हैं। यह प्रातिशाख्य अनेक व्याख्याओं सहित उपलब्ध है।

परिचय—इस प्रातिशाख्य के प्रवक्ता आचार्य कात्यायन वाजसनेय याज्ञवल्क्य के पुत्र हैं। इस कात्यायन का वर्णन हमने इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ २११-२१२ (प्र० सं०) पर वार्तिककार के प्रसंग में किया है। पाठक वहीं देखें।

काल—याज्ञवल्क्य के साक्षात् पुत्र होने के कारण इस कात्यायन का काल लगभग ३०००–२९०० वि० पूर्व है।

अन्य ग्रन्थ—आचार्य कात्यायन के नाम से अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। कात्यायन नाम के आचार्य भी अनेक हैं। अतः कौन सा ग्रन्थ किस कात्यायन

का है, यह कहना कठिन है, परन्तु निम्न ग्रन्थ तो अवश्य ही इसी कात्यायन के हैं।

संहिता ब्राह्मण—इस कात्यायन ने पञ्चदश वाजसेनय शाखाओं में अन्यतम कात्यायनी शाखा और उसके कात्यायन शतपथ का प्रवचन किया था। कात्यायन शतपथ के प्रथम तीन काण्डों का एक हस्तलेख हमने लाहौर के लालचंद पुस्तकालय के संग्रह में देखा था।

श्रौत—कात्यायन श्रौत प्रसिद्ध ही है।

गृह्य—कात्यायन गृह्य का एक हस्तलेख 'सेण्ट्रल प्रावेंसी आफ बरार' के हस्तलेख सूची-पत्र में निर्दिष्ट है। इस गृह्य का पाठ पं० जेष्ठाराम बम्बई द्वारा प्रकाशित पारस्करगृह्य के साथ छपा था, ऐसा हमें ज्ञात हुआ है। यह संस्करण हमारे देखने में नहीं आया।

स्वामी दयानन्द द्वारा उद्धृत—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कारविधि के सं० १९३२ के संस्करण में इस गृह्य के अनेक लम्बे लम्बे पाठ उद्धृत किए हैं। द्वितीयवार संशोधित सं० १९४० की संस्कारविधि में भी क्वचित् इस गृह्य का नामतः उल्लेख मिलता है।

कात्यायन और पारस्करगृह्य की समानता—ऋग्वेद के जैसे शांखायन और कौषीतकि गृह्यसूत्रों के पाठ प्रायः समान हैं, उसी प्रकार कात्यायन और पारस्कर गृह्यसूत्रों के पाठ भी परस्पर बहुत समानता रखते हैं। पुनरपि इन दोनों में पर्याप्त वैलक्षण्य है।

धर्मसूत्र—कल्प शास्त्र के तीन अवयव होते हैं, श्रौत गृह्य और धर्म। कात्यायन के श्रौत और गृह्य तो उपलब्ध हैं, परन्तु धर्मसूत्र उपलब्ध नहीं हैं। कात्यायन के नाम से एक स्मृति अवश्य मिलती है, परन्तु वह कात्यायन कृत प्रतीत नहीं होती। सम्भवतः उसे कात्यायन के धर्मसूत्र के आधार पर किसी ने बनाया हो।

इनके अतिरिक्त और कौन कौन से ग्रन्थ इस कात्यायन के हैं, यह कहना कठिन है। श्रौतपरिशिष्ट तथा प्रातिशाख्य-परिशिष्ट इसी कात्यायन के प्रवचन हैं अथवा अन्य व्यक्ति के यह निर्णय करना कठिन है, परन्तु हैं ये अवश्य प्राचीन। इसी प्रकार भ्राज नाम के श्लोक जिनका पतञ्जलि ने महाभाष्य के आरम्भ में उल्लेख किया है, वे इसी कात्यायन के हैं अथवा वार्तिककार कात्यायन के यह भी अज्ञात है।

पाणिनीय अष्टाध्यायी पर लिखे गए वार्तिक इस कात्यायन के पुत्र वररुचि कात्यायन के हैं। यह हम इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ २१२ (प्र० सं०) पर लिख चुके हैं।

प्रातिशाख्य-परिशिष्ट—कात्यायन प्रातिशाख्य के परिशिष्ट रूप में प्रतिज्ञासूत्र और भाषिकसूत्र प्रसिद्ध हैं। इनके विषय में हम स्वतन्त्र रूप से आगे लिखेंगे।

व्याख्याकार

कात्यायन प्रातिशाख्य पर अनेक विद्वानों ने व्याख्याएँ लिखी हैं। हम नीचे उन का निर्देश करते हैं—

(१) उव्वट (सं ११००)

उव्वट कृत वाजसनेय प्रतिशाख्य की भाष्य नाम्नी व्याख्या कई स्थानों से प्रकाशित हो चुकी है।

परिचय—उव्वट के देशकाल आदिका परिचय हम ऋक्प्रातिशाख्य के व्याख्याकारों के प्रकरण में पूर्व लिख चुके हैं।

इस टीका के संस्करण—इस टीका के तीन संस्करण हमारी दृष्टि में आए हैं। एक जीवानन्द विद्यासागर द्वारा प्रकाशित सं० १९५० (सन् १८८३) का है। दूसरा युगलकिशोर सम्पादित काशी का संस्करण है, जो सं० १९६४ में प्रकाशित हुआ है। इस संस्करण में प्रतिज्ञासूत्र, भाषिकसूत्र, जटादिविकृतिलक्षण ऋग्यजुःपरिशिष्ट तथा अनुवाकाध्याय परिशिष्ट भी अन्तमें छपे हैं। तृतीय संस्करण वि० वेंकटराम शर्मा द्वारा सम्पादित मद्रास विश्वविद्यालय से सं १९९१ (सन् १९३४) में प्रकाशित हुआ है। इसमें अनन्त भट्ट की भी व्याख्या साथ में छपी है।

तीनों भ्रष्ट—उव्वटभाष्य के तीनों संस्करण अत्यन्त भ्रष्ट हैं। वि. वेङ्कटराम शर्मा का संस्करण पुराने संस्करणों से भी निकृष्ट है। पुराने संस्करणों में उव्वट भाष्य में उदाहरण रूप से दिये गए याजुष मन्त्रों के पते छपे थे, परन्तु इस संस्करण में उन्हें भी हटाकर सम्पादक ने न जाने कौन सी प्रगति की है।

आदर्श संस्करण की आवश्यकता—उक्त संस्करणों को देखते हुए इस ग्रन्थ के विशुद्ध आदर्श संस्करण की महती आवश्यकता है। इस संस्करण के लिए आगे निर्दिष्ट हस्तलेखों का उपयोग करना अत्यावश्यक है।

अति प्राचीन हस्तलेख—दक्खन कालेज पूना के संग्रह में उव्वटभाष्य के दो अति प्राचीन हस्तलेख हैं। एक संख्या २७९ का सं० १५३८ का है और दूसरा सं २८३ का संवत् १५६३ का है। इसी संग्रह में संख्या २८६ का एक हस्तलेख और है। यद्यपि इस पर लेखन काल निर्दिष्ट नहीं है, तथापि इसमें पृष्ठ-मात्राओं का प्रयोग होने से यह हस्तलेख भी पर्याप्त प्राचीन है। पृष्ठ-मात्राओं का प्रयोग लगभग ४०० वर्ष पूर्व नागराक्षरों में होता था।

(२) अनन्त भट्ट (सं० १६३०–१६८२)

अनन्त भट्ट विरचित प्रातिशाख्य व्याख्या मद्रास विश्वविद्यालय की ग्रन्थमाला से निःसृत वाजसनेय प्रातिशाख्य में उव्वट टीका के साथ छपी है।

परिचय—अनन्त भट्ट ने अपनी व्याख्या के अन्त में स्वपरिचय इस प्रकार दिया है—

अम्बा भागीरथी यस्य नागदेवात्मजः सुधीः।
तेनानन्तेन रचितं प्रातिशाख्यस्य वर्णनम्॥

इस उल्लेख के अनुसार अनन्त की माता का नाम भागीरथी, पिता का नाम नागदेव था। यह काण्वशाखा का अनुयायी था।

ऐसा ही परिचय अनन्त ने अपने काण्वसंहिता भाष्य में भी दिया है। अनन्त के पुत्र का नाम राम था। इसने पञ्चोपाख्यान-संग्रह नामक ग्रन्थ सं० १६६४ में लिखा था।[1]

देश—अनन्त ने अपने ग्रन्थ काशी में लिखे हैं। काण्वयाजुष भाष्य के पूना के कोश के अन्त में लेख है—

काश्यां वासः सदा यस्य चितं यस्य रमाप्रिये ॥८॥

विधानपारिजात ग्रन्थ के अन्त में भी काशी में ग्रन्थ की पूर्ति का उल्लेख है।

काल—श्री पं० भगवद्दत्त जी ने वैदिक वाङ्मय का इतिहास के वेदों के भाष्यकार नामक भाग में पृष्ठ १०० पर अनन्त का काल सं० १७०० के समीप लिखा है। पुनः पृष्ठ १०२ पर लिखा है—"काशीवासी महीधर भी अपने भाष्य को वेददीप कहता है। सम्भव है अनन्त और महीधर समकालिक हों।"

निश्चित काल—अनन्त देव विरचित विधानपारिजात ग्रन्थ का एक

---

1. द्र० इण्डिया आफिस पुस्तकालय सूचीपत्र, पृष्ठ ६८५।

हस्तलेख इण्डिया आफिस लन्दन के संग्रह में है।[1] उसके अन्त में निम्न श्लोक पठित है—

> चन्द्राच्चन्द्रकलेव शुद्धगुणभृच्छ्रीनागदेवाभिधः
> तस्माच्छ्रीमदनन्तदेव आविरभवद् यद्यज्ज्ञानभक्त्यादिके—
> ष्वन्तो नास्ति गुणेषु यस्य च हरिः प्रेष्ठो वरीवर्तते
> तेनायं रचितो विधानदिविषद्वृक्षो ऽर्थिसर्वप्रदः
> काले द्व्यष्टषडेकलांककमिते (?) काश्यामगात् पूर्णताम् ॥

इसके अन्तिम चरण में विधानदिविषद् वृक्ष अर्थात् विधानपारिजात का रचना काल सं० १६८२ लिखा है। प्रथम श्लोक में 'चन्द्रात्' पद श्लेष से नागदेव के पिता के नाम का निर्देशक है। ऐसा हमारा विचार है।

अनन्त ने प्रतिज्ञासूत्र परिशिष्ट १।३ की व्याख्या में[2] महीधर का उल्लेख किया है—

वाजमन्नं सनिर्दानमस्यास्तीति वाजसनिरिति महीधराचार्याः मन्त्रभाष्ये व्याख्यातवन्तः। वाज० प्राति० काशी सं० पृष्ठ ४०६।

यह पंक्ति महीधर के यजुर्वेदभाष्य के उपोद्घात में इस प्रकार पठित है—

वाजस्यान्नस्य सनिर्दानं यस्य स वाजसनिः।

प्रतिज्ञासूत्र-भाष्य का पाठ भ्रष्ट है।

महीधर का काल निश्चित है। उसने सं० १६४५ में मन्त्रमहोदधि ग्रन्थ लिखा था। उसने यह काल स्वयं ग्रन्थ के अन्त में दिया है।

इस प्रकार महीधर का उल्लेख करने से, विधानपारिजात का लेखन काल सं० १६८२ होने से और अनन्तपुत्र राम के पञ्चोपाख्यान संग्रह का लेखन समय सं० १६६४ निश्चित होने से स्पष्ट है कि अनन्त का काल वि० सं० १६३०—१६९० के मध्य है।

व्याख्या का नाम—अनन्त भट्ट के प्रातिशाख्य भाष्य का नाम पदार्थ-प्रकाश है।

---

१. द्र० इण्डिया आफिस पुस्तकालयसूचीपत्र भाग ३, पृष्ठ ४३७ सं० १४६८।

२. प्रतिज्ञासूत्र का व्याख्याता अनन्त नहीं है, ऐसा हमारा विचार है। द्र० इसी अध्याय में आगे प्रतिज्ञासूत्र के प्रकरण में।

व्याख्या का महत्त्व—अनन्त ने अपनी व्याख्या में काण्व संहिता के उदाहरण दिए हैं। इसके काण्वपाठानुसारी होने से काण्व संहिता और उसके पदपाठ पर इससे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

मुद्रित ग्रन्थ—अनन्त के पदार्थप्रकाश (प्रातिशाख्यभाष्य) का जो संस्करण मद्रास से प्रकाशित हुआ है, वह अत्यन्त भ्रष्ट है। अनेकत्र पाठ त्रुटित हैं, बहुत्र पाठ आगे पीछे हो गये हैं। ग्रन्थ के महत्त्व को देखते हुए इसके शुद्ध संस्करण की महती आवश्यकता है।

(३) श्रीराम शर्मा (सं० १८०२ से पूर्व)

श्रीराम शर्मा नाम के व्यक्ति ने कात्यायन प्रातिशाख्य पर ज्योत्स्ना नाम्नी एक विवृति लिखी थी।[1] इसका एक हस्तलेख दक्खन कालेज के हस्तलेख संग्रह में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र संख्या २८८।[2]

परिचय—ग्रन्थकार ने अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया है। अतः इस के वंश आदि के विषय में हम कुछ भी लिखने में असमर्थ हैं।

काल—ग्रन्थकार द्वारा अपना परिचय न देने से इसका काल भी अनिश्चित है। बालकृष्ण गोडशे द्वारा सं० १८०२ में लिखी गई प्रातिशाख्यप्रदीप शिक्षा में ज्योत्स्ना का दो स्थानों पर निर्देश मिलता है। यथा—

क—ज्योत्स्नायां प्रकारत्रयेण रथ उक्तः स तत्रैव द्रष्टव्यः। पृष्ठ ३०५।

ख—शेषं ज्योत्स्नादिषु ज्ञेयम्। पृष्ठ ३०६।

इन निर्देशों से स्पष्ट है कि श्रीराम शर्मा प्रणीत ज्योत्स्ना का काल वि० सं० १८०२ से पूर्ववर्ती है।

(४) राम अग्निहोत्री (सं० १८१३)

राम अग्निहोत्री नाम के किसी विद्वान् ने कात्यायन प्रातिशाख्य पर प्रातिशाख्यदीपिका नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसका एक हस्तलेख दक्खन कालेज पूना के संग्रह में है। इसकी संख्या २८७ है।

---

१. माध्यन्दिनानुसारिणा ज्योत्स्नाख्या विवि (वृ) तिर्लघुः। क्रियते सुखबोधार्थं मन्दानां रामशर्मणा ॥ २ ॥ ग्रन्थारम्भे।

२. इसका एक हस्तलेख श्री गुरुवर पं. भगवत्प्रसाद मिश्र प्रा० सं० वि० वि० वाराणसी के संग्रह में भी है।

परिचय—राम अग्निहोत्री ने स्वव्याख्या के आरम्भ में अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया। ग्रन्थ के अन्त में निम्न पाठ मिलता है—

इति सदाशिवाग्निहोत्रिसुतरामाग्निहोत्रिकृता प्रातिशाख्यदीपिका समाप्ता। संख्या ३०१९। शाकः षोडशसप्ताष्टभूयो हरिहरात्मको···।

इससे इतना ज्ञात होता है कि राम अग्निहोत्री के पिता का नाम सदाशिव अग्निहोत्री था।

श्री गुरुवर भगवत्प्रसाद वेदाचार्य प्रा० सं० वि० वि० वाराणसी के संग्रह में भी शाके १७०९ सं० १८४४ में लिखे किसी हस्तलेख की एक प्रतिलिपि है।···

उसके अन्त के श्लोकों का पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है। पुनरपि उससे यह विदित होता है कि सदाशिव के पिता का नाम गोविन्द था, गोविन्द का भाई नृसिंह था। इनके पिता का नाम बालकृष्ण था और गोत्र पराशर। गुरु का नाम वैद्यनाथ था।

काल—पूना के हस्तलेख के अन्त में शक सं० १६७८ अर्थात् वि० सं १८१३ का निर्देश है। यह ग्रन्थरचना का काल है, अथवा प्रतिलिपि करने का यह अज्ञात है। परन्तु इससे इतना निश्चित है कि उक्त ग्रन्थ सं० १८१३ से उत्तरवर्ती नहीं है।

हम अनुपद ही सदाशिव-तनूजन्मा बालकृष्ण विरचित प्रातिशाख्यप्रदीप शिक्षा का वर्णन करेंगे। उसका लेखनकाल सं० १८०२ है। दोनों ग्रन्थकारों के पिता का समान नाम होने तथा दोनों का समान काल होने से हमारे विचार में बालकृष्ण और राम अग्निहोत्री दोनों औरस भ्राता हैं। राम अग्निहोत्री ने प्रातिशाख्यदीपिका के आरम्भ में—

नानाग्रन्थान् समालोक्य उव्वटादिकृतानपि।
शिक्षाश्च सम्प्रदायांश्च····················॥ २॥

शिक्षाओं का निर्देश किया है। सम्भव है यहाँ शिक्षा शब्द से बालकृष्ण शर्मा कृत प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा का भी निर्देश हो। प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा में क्रम विशेष से प्रातिशाख्य के सूत्रों का ही प्राधान्येन व्याख्यान है। इस शिक्षा से प्रातिशाख्य के अनेक प्रकरणों का आशय अच्छे प्रकार स्पष्ट होता है।

विशेष—संख्या ३, ४, के लेखकों द्वारा लिखे गये ग्रन्थ सीधे प्रातिशाख्य के व्याख्यारूप नहीं हैं, अपितु जैसे अष्टाध्यायी पर प्रक्रियानुसारी सिद्धान्त-

कौमुदी आदि व्याख्यान ग्रन्थ बने, उसी प्रकार प्रातिशाख्य के भी ये प्रकरणानुसारी व्याख्यान ग्रन्थ हैं। आगे निर्दिश्यमान बालकृष्ण गोडशे का प्रातिशाख्य-प्रदीपशिक्षा ग्रन्थ भी इसी प्रकार का है।

(५) शिवराम (?)

संस्कृत विश्वविद्यालय काशी के सरस्वती भवन के संग्रह में शुक्लयजुः प्रातिशाख्य पर शिवाख्य भाष्य का एक हस्तलेख है। हमने सन् १९३४ में इसे देखा था। यह महीधर संग्रह के २८ वें वेष्टन में रखा हुआ था। ग्रन्थकार का नाम सन्दिग्ध है।

सरस्वती भवन के अधिकारियों ने महीधर के कुल में सम्प्रति वर्तमान व्यक्ति के घर से महीधर के सम्पूर्ण संग्रह को प्राप्त करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। इस संग्रह में वर्तमान सभी ग्रन्थ महीधर के काल के हैं अथवा इनमें उत्तरोत्तर भी कुछ ग्रन्थों की वृद्धि हुई है, यह कहना कठिन है। यदि इस संग्रह के सभी ग्रन्थ महीधर के काल के मान लें तो इस व्याख्या का काल सं० १६४० से पूर्ववर्ती होगा। हमारा अनुमान है कि यह व्याख्या शिवरामेन्द्र सरस्वती की है जिनका संन्यास से पूर्व शिवराम—शिवरामचन्द्र नाम था। यदि हमारा अनुमान ठीक हो तो इसका काल सं० १६०० के लगभग होगा।[1]

(६) विवरणकार

वाजसनेय प्रातिशाख्य पर किसी विद्वान् ने एक विवरण नाम की व्याख्या लिखी थी। इसका उल्लेख प्रतिज्ञासूत्र के व्याख्याता अनन्तदेव याज्ञिक ने इस प्रकार किया है—

एतेषां स्वरितभेदानां हस्तप्रदर्शनं तु "स्वरितस्य चोत्तरो देशः प्रतिहण्यते" (४।१४०) इति सूत्रे प्रातिशाख्यविवरणे स्पष्टम्। तद्यथा—

उदात्तादनुदात्ते तु वामाया भ्रुव आरभेत्।
उदात्तात् स्वरितोदात्ते क्रमाद्दक्षिणतो न्यसेत्॥१॥

प्रणिघातः प्रकृष्टो निघातः। नितरामतितरां मनुष्यदानवद् हस्तो न्युब्जापरपर्यायः। केषुचिद् भेदेषु पितृदानवद् इति।

---

१. इस के विषय में देखिए सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १ पृ० २९८ (प्र० सं०)।

यह पाठ प्रातिशाख्य के उव्वट और अनन्त भट्ट के व्याख्यान में नहीं मिलता। इससे स्पष्ट है कि यह विवरण उनके भाष्यों से पृथक् है।

प्रतिज्ञासूत्र का व्याख्याता नागदेव सुत अनन्त देव है, अथवा अन्य याज्ञिक अनन्त देव है, इस का सन्देह होने[1] से इस विवरण का काल भी सन्दिग्ध है।

प्रातिशाख्यानुसारिणी शिक्षा

कतिपय विद्वानों ने वाजसनेय प्रातिशाख्य को दृष्टि में रखकर कुछ शिक्षा ग्रन्थ रचे हैं। यतः उनका सामीप्येन वा दूरतः प्रातिशाख्य के साथ सम्बन्ध है, अतः हम उनका यहाँ निर्देश करते हैं—

१—बालकृष्ण शर्मा (सं १८०२)

बालकृष्णनाम के विद्वान् ने प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा नाम की एक शिक्षा बनाई है। यह काशी से प्रकाशित शिक्षासंग्रह में छप चुकी है।

परिचय—ग्रन्थकार ने शिक्षा के आरम्भ में अपने पिता का नाम सदाशिव लिखा है और अन्त में अपना उपनाम गोडशे बताया है। इस से विदित होता है कि यह ग्रन्थकार महाराष्ट्रीय है।

काल—बालकृष्ण ने ग्रन्थ लेखन काल अन्त में इस प्रकार लिखा है—

शाके द्वयभ्राष्टभूमिते शुभे विक्रमवत्सरे।
माघे मासि सिते पक्षे प्रतिपद्भानुवासरे॥

इसके अनुसार यह शिक्षा ग्रन्थ वि० सं० १८०२ माघ शुक्ल प्रतिपद् रविवार को पूर्ण हुआ था।

वैशिष्ट्य—इस शिक्षा में प्रधानतया कात्यायन प्रातिशाख्य के सूत्रों की क्रम विशेष से व्याख्या की है। इसमें प्रातिशाख्य के लगभग तीन चौथाई सूत्र व्याख्यात हैं।

उद्धृत ग्रन्थ वा ग्रन्थकार—इस शिक्षा में निम्न ग्रन्थ वा ग्रन्थकार उद्धृत हैं—

याज्ञवल्क्य—पृष्ठ २१०, २१२, २२६, २३४, २९७

---

१. द्रष्टव्य—प्रतिज्ञासूत्र के व्याख्याता अनन्तदेव के प्रकरण में।

माध्यन्दिनशिक्षा—पृष्ठ २१५ ❀
औजिहायनक (माध्यन्दिन मतानुसारी)—पृष्ठ २१५
कात्यायन शिक्षा—पृष्ठ २२५, २९७
अमोघनन्दिनी शिक्षा—पृष्ठ २२५, २८२ ❁
मल्ल कवि—पृष्ठ २२५
हस्तस्वर-प्रक्रिया ग्रन्थ †—पृष्ठ २२५
पाराशरीय चपला ‡—पृष्ठ २९१
प्रतिज्ञासूत्र—२८२, २९३
अनन्त याज्ञिक—२९३
ज्योत्स्ना—पृष्ठ ३०४,३०५

२—अमरेश

अमरेश नाम के विद्वान् ने प्रातिशाख्यानुसारिणी वर्णरत्नदीपिकाशिक्षा का प्रणयन किया है। यह शिक्षा काशी से प्रकाशित शिक्षासंग्रह में पृष्ठ ११७-१२७ तक मुद्रित है।

अमरेश ने अपना कोई परिचय नहीं दिया। आरम्भ में केवल अपने को भारद्वाज कुल का कहा है। वह लिखता है—

अमरेश इति ख्यातो भारद्वाजकुलोद्वहः।
सोऽहं शिक्षां प्रवक्ष्यामि प्रातिशाख्यानुसारिणीम् ॥

इस शिक्षा में निम्न ग्रन्थ ग्रन्थकार वा मत निर्दिष्ट हैं—

वैयाकरण सम्मत—पृष्ठ १२४
कातीय—पृष्ठ १२४
याज्ञवल्क्य—पृष्ठ १२४
वाजसनेयक मन्त्र—पृष्ठ १२४

❀ माध्यन्दिनशिक्षा के नाम से यहाँ उद्धृत श्लोक माध्यन्दिन शिक्षा के लघु और बृहत् दोनों पाठों में उपलब्ध नहीं होता।

❁ यहां अमोघनन्दिनी को प्रतिज्ञासूत्र की शेषभूता कहा है।

† यह ग्रन्थ शिक्षासंग्रह में पृष्ठ १५३–१६० तक छपा है।

‡ यहाँ 'चपला' शब्द का अभिप्राय विचारणीय है। पाराशरी शिक्षा में पाणिनीय शिक्षा का भी निर्देश है। द्र० शिक्षासंग्रह पृष्ठ ६०।

गार्ग्यमत—पृष्ठ १३१
माध्यन्दिन—पृष्ठ १३१
कात्यायन—पृष्ठ १३६

६—तैत्तिरीय प्रातिशाख्यकार

कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय चरण[1] से संबद्ध एक प्रातिशाख्य उपलब्ध होता है। यह तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के नाम से प्रसिद्ध हैं।

ग्रन्थकार—इस प्रातिशाख्य का प्रवक्ता कौन आचार्य है, यह अज्ञात है।

काल—हरदत्त कृत पदमञ्जरी भाग २ पृष्ठ १०३६ से विदित होता है कि यह प्रातिशाख्य पाणिनि से पूर्ववर्ती है। हमारे विचार में सभी प्रातिशाख्य पाणिनि से प्राचीन हैं।

ह्विट्नि के आक्षेप—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा इस के त्रिभाष्यरत्न पर ह्विट्नि ने अनेक आक्षेप किए हैं, अनेक दोष दर्शाए हैं।

आक्षेपों का समाधान—ह्विट्नि द्वारा प्रदर्शित दोषों का तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के मैसूर संस्करण के सम्पादक पण्डितरत्न कस्तूरि रङ्गाचार्य ने अत्यन्त प्रौढ, युक्तियुक्त और मुंह तोड़ विस्तृत उत्तर दिया है।

कस्तूरि रङ्गाचार्य का सत्साहस—आज से लगभग ५५ वर्ष पूर्व पाश्चात्य विद्वानों के पदचिह्नों का अनुगमन न करके ह्विट्नि के आक्षेपों का निराकरण करके और आर्षमत की युक्तियुक्तता दर्शाने का पं० कस्तूरि रङ्गाचार्य ने अद्भुत सत्साहस दर्शाया है। अपनी भूमिका के अन्त में ह्विट्नि के उपसंहार वचन का निर्देश करके पण्डितरत्न ने लिखा है—

इति दूषणं न केवलं त्रिभाष्यरत्नकारं प्रति अपितु सर्वान् भारतीयान् प्रति च निगमितं, तदिदं समुचितमेव भारतीयज्ञानविज्ञानकौशलासहिष्णूनाम् इति विजानन्त्येव विवेचकाः।

अर्थात्–[ह्विट्नि द्वारा दशार्या गया अन्तिम] दूषण केवल त्रिभाष्यरत्न के

---

१. वर्तमान में तैत्तिरीय संहिता के नाम से प्रसिद्ध संहिता वस्तुतः आपस्तम्बी संहिता है। तैत्तिरीय चरण की अन्य संहिताओं का उच्छेद हो जाने से एक मात्र बची आपस्तम्बी संहिता का भी चरण नाम से व्यवहार होने लग गया। इसके प्राचीन हस्तलेखों में भी प्रायः आपस्तम्बी संहिता नाम उपलब्ध होता है।

लेखक के प्रति ही नहीं है, अपितु समस्त भारतीयों के प्रति दर्शाया है। भारतीय ज्ञान विज्ञान के कौशल के प्रति असहिष्णु पाश्चात्यों का ऐसा दूषण दर्शाना समुचित ही है।

यदि हमारे नवनवोदित तथा अनुसन्धान क्षेत्र में प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् पाश्चात्य विद्वानों द्वारा जानबूझ कर अन्यथा प्रसारित मतों का आंख मींचकर अन्ध अनुसरण करने की प्रवृत्ति का परित्याग करके भारतीय वाङ्मय का भारतीय दृष्टिकोण से अध्ययन करें, अनुसन्धान करें, तो देश और जाति का महाकल्याण हो, परन्तु दुर्दैव से आज भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर भी भारतीय विद्वान् पाश्चात्यों का अन्ध अनुकरण करने में अपना व्यक्तिगत कल्याण समझते हुए भारतीय वाङ्मय और देश तथा जाति के प्रति जो घोर विद्रोह कर रहे हैं, उस से भारतीय न जाने कितने समय तक पाश्चात्यविद्वानों के बौद्धिक पारतन्त्र्य निबद्ध बने रहेंगे, इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर वे विचार ही नहीं करते।

यदि भारतीय वाङ्मय के अनुसन्धान क्षेत्र में महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री, साम्बशास्त्री, कस्तूरि रङ्गाचार्य, पण्डित भगवद्दत्त सदृश प्रतिभाशाली विद्वान् पाश्चात्य मन घड़न्त कल्पनाओं का प्रतिकार न करते तो अनेक विषयों में भारतीय प्राचीन इतिहास का गौरव प्राप्त न होता।

व्याख्याकार

(१) आत्रेय

आत्रेय नाम के किसी महानुभाव ने तैत्तिरीय प्रतिशाख्य पर भाष्य लिखा था। तैत्तिरीय प्रतिशाख्य की सोमयार्य कृत त्रिभाष्यरत्न व्याख्या में इस भाष्यकार आत्रेय का दो स्थानों पर उल्लेख मिलता है—

१—सोमयार्य अपने त्रिरत्नभाष्य के आरम्भ में लिखता है—

व्याख्यानं प्रतिशाख्यस्य वीक्ष्य वाररुचादिकम्।
कृतं त्रिभाष्यरत्नं यद्भासते भूसुरप्रियम्॥

इस श्लोक में त्रिभाष्यरत्न संज्ञा से संकेतित तीन भाष्यों का निर्देश करते हुए वाररुचादिक भाष्यों का उल्लेख किया है। वाररुचादिक में आदि पद से किन भाष्यों का ग्रहण अभिप्रेत है इसका निर्देश स्वयं व्याख्याकार करता है—

आदिपदेन आत्रेयमाहिषेये गृह्येते। पृष्ठ १।

अर्थात् आदि पद से आत्रेय और माहिषेय के भाष्य अभिप्रेत हैं।

२—एकसमुत्थः प्राणः एकप्राणः, तस्य भावस्तद्भावः, तस्मिन् इत्यात्रेयमतम्। ५।१, पृष्ठ १६३।

इस स्थल के पाठ से स्पष्ट है कि किसी आत्रेय ने तैत्तिरीय प्रातिशाख्य पर कोई व्याख्या लिखी थी।

काल—वररुचि, आत्रेय और माहिषेय के भाष्य सोमयार्य से प्राचीन हैं, इतना उसके वचन से व्यक्त है। परन्तु इनका काल क्या है, यह अज्ञात है।

सोमयार्य ने यदि वररुचि-आत्रेय-माहिषेय नाम कालक्रम ये उल्लिखित किए हों तब तो मानना होगा कि आत्रेय वररुचि से उत्तरभावी है। परन्तु हमारा विचार है कि सोमयार्य ने तीनों का निर्देश कालक्रम से नहीं किया है।

अनेक आत्रेय—आत्रेय नाम के अनेक आचार्य हैं। तैत्तिरीय सम्प्रदाय में भी पदकार आत्रेय[1], तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ५।३१०, १७,८ में स्मृत आत्रेय और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य भाष्यकार आत्रेय इस प्रकार तीन आत्रेय प्रसिद्ध हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में स्मृत आत्रेय ही प्रातिशाख्य का भाष्यकार नहीं हो सकता यह स्पष्ट है। पदकार आत्रेय शाखा प्रवचन कालका व्यक्ति है। इसलिए वह सुतरां अति प्राचीन है। हां, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में स्मृत आत्रेय पदकार आत्रेय हो सकता है।

ऋक्पार्षद का व्याख्याता आत्रेय—एक आत्रेय ऋक्पार्षद का व्यख्याता है। इसका वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं। हमारा विचार है कि दोनों पार्षदों का व्याख्याता आत्रेय एक ही है।

आत्रेय गोत्र नाम—आत्रेय यह गोत्र नाम है। व्याख्याकार का निजनाम अज्ञात है।

इस प्रकार पार्षद व्याख्याता आत्रेय के संबन्ध में कुछ भी परिज्ञान न होने से इसका काल भी अज्ञात है।

(२) वररुचि

वररुचि विरचित प्रातिशाख्य-व्याख्यान का उल्लेख त्रिभाष्यरत्न के कर्ता सोमयार्य ने १।२८; २।१४,१९; ८।४०; ४।१९, २०,२२; १८।७; २१।१५ आदि सूत्रों के व्याख्यान में किया है।

---

१. यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः। तैत्तिरीय काण्डानुक्रमणी।

वररुचि का भाष्य साक्षात् अनुपलब्ध है। इसलिए इसके विषय में यह भी ज्ञात नहीं कि यह कौनसा वररुचि है। संस्कृत वाङ्मय में वार्तिककार वररुचि कात्यायन और विक्रमार्क सभ्य वररुचि प्रसिद्ध हैं।

(३) माहिषेय

माहिषेय विरचित प्रातिशाख्य मद्रास विश्वविद्यालय की ग्रन्थमाला में छप चुका है।

इस भाष्य में साक्षात् किसी आचार्य का नाम उल्लिखित नहीं है। और ना ही ग्रन्थकार ने अपना कुछ परिचय दिया है। इसलिए इसका देश काल आदि अज्ञात है।

मुद्रित माहिषेय भाष्य का कोश अ० २३ सूत्र १५ से अ० २४ सू० ३ तक खण्डित है। अतः इन सूत्रों पर वैदिकभूषण अथवा भूषणरत्न नाम्नी व्याख्या जोड़कर ग्रन्थ को पूरा किया है।

(४) सोमयार्य

सोमयार्य विरचित त्रिभाष्यरत्न व्याख्या का मैसूर से सुन्दर संस्करण प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक पं० कस्तूरि रङ्गाचार्य के लेखानुसार मैसूरराजकीय कोशागार से उपलब्ध तालपत्रमय एक हस्तलेख में ही निम्न पद्य उपलब्ध होता है—[1]

त्रिलोचनध्यानविशुद्धकौमुदी विनिन्द्रचेतः कुमुदः कलानिधिः।
स सोमयार्यो विततान सम्मतं विपश्चितां भाष्यमिदं सुबोधकम्॥

सोमयार्य ने किस वंश, देश और काल को अपने जन्म से अलंकृत किया, यह सर्वथा अज्ञात है।

सोमयार्य द्वारा उद्धृत ग्रन्थों और ग्रन्थकारों में प्रायः सभी प्राचीन हैं। केवल १८।१ में उद्धृत कालनिर्णय शिक्षा ही ऐसी है जिसके आधार पर कदाचित् सोमयार्य के काल की पूर्व सीमा निर्धारित की जा सके। कालनिर्णय शिक्षा अनन्ताश्रित मुक्तीश्वराचार्य कृत है। मुक्तीश्वराचार्य का भी काल आदि सम्प्रति अज्ञात हैं।

गार्ग्य गोपाल यज्वा ने वैदिकाभरण में सोमयार्य के त्रिभाष्यरत्न के पाठों को

---

१. मैसूर संस्करण, भूमिका पृष्ठ १६।

बहुधा उद्धृत करके उनका खण्डन किया है। इससे ज्ञात होता है कि सोमयार्य गार्ग्य गोपाल यज्वा से प्राचीन है। यह सोमयार्य के काल की उत्तर सीमा है।

इससे अधिक सोमयार्य के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं।

(५) गार्ग्य गोपाल यज्वा

गार्ग्य गोपाल यज्वा ने तैत्तिरीय पार्षद पर वैदिकाभरण नाम्नी एक व्याख्या लिखी है। यह मैसूर के संस्करण में छपी है।

गार्ग्य गोपाल यज्वा ने अपना कोई परिचय नहीं दिया, इसलिए इसका सारा इतिवृत्त अन्धकारावृत है। गार्ग्य गोत्र नाम प्रतीत होता है। यज्वा कुलोपाधि है। अतः मूल नाम गोपाल इतना ही है।

काल—गार्ग्य गोपाल यज्वा का काल भी अनिश्चित है। इसके वैदिकाभरण में कोई भी ऐसा ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकार निर्दिष्ट नहीं है जिस के आधार पर इस का काल निर्णय हो सके।

इस ग्रन्थ के सम्पादक पं० कस्तूरि रङ्गाचार्य ने गोपाल के काल निर्णय के लिए भूमिका में जो कुछ लिखा है उसका सार इस प्रकार है—

गार्ग्य गोपाल यज्वा ने वृत्तरत्नाकर की ज्ञानदीप नाम्नी व्याख्या लिखी है। यह मद्रास से आन्ध्राक्षरों में मुद्रित हुई है। इसमें वदन्त्यपरवक्त्राख्यम सूत्र की व्याख्या में

चपलावक्त्रस्य यथा—

गोपालमिश्ररचिते व्याख्याने ज्ञानदीपाख्ये।
वेद्यं रहस्यमखिलं वृत्तानां सूरिभिः सम्यक्॥

विपरीतपथ्यावक्त्रस्य यथा—

वेदार्थतत्त्ववेदिनि गार्ग्ये गोपालमिश्रेऽन्यैः।
कार्या नैव कदाचन धीरैः सर्वाधिकेऽसूया॥

स्वयं अपने गौरव का उल्लेख किया है। इस से स्पष्ट है कि गार्ग्य गोपाल वृत्तरत्नाकर के कर्त्ता भट्ट केदार से अर्वाचीन है।

गार्ग्य गोपाल वृत्तरत्नाकर के व्याख्या कवि शार्दूल श्रीनाथ से भी अर्वाचीन है। क्योंकि उपजाति लक्षण श्लोक व्याख्या में श्रीनाथ समर्थित 'नानाछन्दोभवों के योग में भी उपजाति छन्द होता है', इस मत का अन्ये तु ब्रुवते

नाना छन्दस्यानामपि वृत्तानां संकरादुपजातयो भवन्तीति तदयुक्तम्'''।
सन्दर्भ में गार्ग्य गोपाल द्वारा श्रीनाथ मत का प्रत्याख्यान उपलब्ध होता है।

श्रीनाथ का काल भी अनिर्णीत है।

गार्ग्य गोपाल यज्वा विरचित भारद्वाजीय पितृमेधभाष्य सूत्र उपलब्ध होता है। इसमें लोष्ट-चयन प्रकरण में यल्लाजी नाम के विद्वान् द्वारा विरचित धर्म शास्त्रनिबन्धोक्त अर्थ को उद्धृत करके उसका खण्डन किया है। यल्लाजी का भी काल विवेचनीय है।

मैसूर से प्रकाशित आपस्तम्ब श्रौत सूत्र के प्रथम भाग की भूमिका पृष्ठ ३० से ज्ञात होता है कि गार्ग्य गोपाल ने आपस्तम्ब कल्प के पितृमेध की व्याख्या की थी।

इस प्रकार गार्ग्य गोपाल यज्वा का काल अनिर्णीत ही रहता है।

अन्यग्रन्थ—गार्ग्य गोपाल विरचित वृत्तरत्नाकर की ज्ञानदीप टीका भारद्वाजीय पितृमेध और आपस्तम्बीय पितृमेध सूत्र व्याख्या का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त गार्ग्य गोपाल ने **स्वरसम्पत्** नाम का ग्रन्थ भी लिखा था। वैदिकाभरण १४।२९ में

अस्यार्थोऽस्माभिः स्वरसम्पदि विवृतः।

का उल्लेख मिलता है।

गोपालकारिका नाम से प्रसिद्ध श्रौत कारिका और गोपालसूरि नाम से उल्लिखित बौधायन सूत्रगत प्रायश्चित्त सूत्र व्याख्यारूप प्रायश्चित्तदीपिका इसी गोपाल यज्वा विरचित हैं अथवा अन्यकृत यह भी अज्ञात है।

(६) वीरराघव कवि

वीरराघव कवि कृत तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की **शब्दब्रह्मविलास** व्याख्या का एक हस्तलेख मद्रास के राजकीय हस्तलेख संग्रह में विद्यमान है। द्र० सूचीपत्र भाग ३ खण्ड १ A पृष्ठ ३३९९ संख्या २४५०।

इस व्याख्या में आत्रेय-माहिषेय-वररुचि के साथ त्रिरत्नभाष्य और वैदिकाभरण भी उद्धृत है। अतः यह व्याख्या वैदिकाभरण से भी पीछे की है।

(७) भैरवाचार्य

तैत्तिरीय पार्षद पर भैरव आर्य नाम के व्यक्ति ने **वर्णक्रमदर्पण** नाम्नी एक व्याख्या लिखी है। इस का एक हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्त-

काल्य के सूचीपत्र भाग २९ पृष्ठ १०५६८ ग्रन्थाङ्क १६२०८ पर निर्दिष्ट है। इसका प्रारम्भिक श्लोक इस प्रकार है—

तैत्तिरीयवेदस्य वर्णानां क्रमदर्पणम्।
वैमानभैरवार्येण बालोपकृतये कृतम्॥

इस ग्रन्थ और इसके रचयिता के विषय में हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

(८) पद्मनाभ

अडियार हस्तलेख संग्रह में पद्मनाभ कृत तैत्तिरीय प्रातिशाख्य विवरण का एक हस्तलेख है। द्रष्टव्य सूचीपत्र भाग १।

इस के विषय में हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

(९) अज्ञातनामा

माहिषेय भाष्य के सम्पादक वेङ्कटराम शर्मा ने स्वीय निवेदना में अडियार के हस्तलेख संग्रह में वैदिकभूषण अथवा भूषणरत्न नाम्नी प्रातिशाख्य व्याख्या का निर्देश किया है। सम्पादक ने इस व्याख्या को वैदिकाभरण से भी अर्वाक्कालिक वताया है। इस व्याख्या का कुछ अंश माहिषेय भाष्य के त्रुटित अंश में मुद्रित है।

इस ग्रन्थ के रचयिता का नाम अज्ञात है।

७—मैत्रायणीय प्रातिशाख्य

मैत्रायणीय चरण[1] का एक प्रातिशाख्य इस समय भी सुरक्षित है। इस प्रातिशाख्य का उल्लेख श्री पं० दामोदर सातवलेकर द्वारा सम्पादित मैत्रायणी शाखा के प्रस्ताव में नासिकवासी श्री पं० श्रीधरशास्त्री वारे ने पृष्ठ १६ पर किया है। उसे देखकर मैंने अपने 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' के प्रथम

---

१. सम्प्रति मैत्रायणी संहिता के नाम से प्रसिद्ध संहिता मैत्रायणीय चरण की कोई विशिष्ट शाखा है। मैत्रायणी चरण की शाखाओं के विनष्ट हो जाने और एकमात्र अवशिष्ट शाखा मैत्रायणीय चरण के नाम पर मैत्रायणी संहिता के रूप में प्रसिद्ध हो गई। जैसे तैत्तिरीय चरण की एकमात्र अवशिष्ट आपस्तम्बी शाखा तैत्तिरीय संहिता नाम से प्रसिद्ध है।

भाग के मुद्रणकाल में मैत्रायणीय प्रातिशाख्य के विषय में माननीय श्रीधरशास्त्री वारे को १२।९।४९ को एक पत्र लिखा उसका आपने जो उत्तर दिया वह इस प्रकार है—

भाद्र. कृ. गुरौ श्रीः नाशिक
शके १८७० क्षेत्रतः

सन्तु भूयांसि नमांसि। भावत्कं १२।९।४८ तनीनं कृपापत्रं समुपालभम्। आशयश्च विदितः। मैत्रायणीसंहिताप्रस्तावे 'आग्निवेश्यः ९।४, शांखायनः २।३।७, एवं क्वचित् द्वे संख्ये क्वचिच्च तिस्रः संख्याः निर्दिष्टाः सन्ति। सोऽयं संकेतः मैत्रायणीयप्रातिशाख्यस्य अध्याय-कण्डिका-सूत्राणामनुक्रम-प्रत्यायक इति ज्ञेयम्। मैत्रायणीयं प्रातिशाख्यं मत्सविधे नास्ति, मयाऽन्यत आनीतमासीत्। मूलमात्रमेव वर्तते। यदि तत्र भवताऽपेक्ष्यते मैत्रायणीयं प्रातिशाख्यं तर्हि निम्नलिखितस्थलसंकेतेन पत्रव्यवहारं कृत्वा प्रयत्नो विधेयः। श्री. रा० रा० भाऊ साहेब तात्या साहेब मुठे पञ्चवटी, नासिक अथवा श्री. रा० रा० शंकर हरि जोशी अभोणकर जि० नासिक, ता० कुळवण, पो० मु० अभोणे। एतस्मिन् स्थानद्वये मैत्रायणीयं प्रातिशाख्यमस्ति। एते महाभागा-स्तच्छाखीया एव। तत एवानीतं मया, कार्यनिर्वाहोत्तरं प्रत्यर्पितं तेभ्यः। एवमेव कदाचित् स्मर्तव्योऽयं जनः। किमतोऽधिकमिति विज्ञप्तिः।

भावत्कः
श्रीधर अण्णाशास्त्री वारे

इस पत्र से स्पष्ट है कि पत्र में लिखे दो स्थानों में यह प्रातिशाख्य विद्यमान है। मैं अभी तक इसकी प्रतिलिपि प्राप्त नहीं कर सका।

इस प्रातिशाख्य के प्रवक्ता का नाम अज्ञात है। इसमें निम्न ऋषियों का उल्लेख मिलता है[1] —

१—आत्रेय—५।३३; २।५; ६।८;
२—वाल्मीकि—५।३८; २।६, ३०; ९।४;
३—पौष्करसादि—५।३९,४०; २।१।१६; २।५।६;
४—प्लाक्षि—५।४०; ९।६; २।६;
५—कौण्डिन्य—५।४०; २।५।४; २।६।३; २।६।९;
६—गौतम—५।४०;
७—सांकृत्य—८।२०; १०।२२; २।४।१७;
८—उख्य—८।२१; १०।२१; २।४।२५;
९—काण्डमायन—९।१; २।३।७;
१०—अग्निवेश्य—९।४;

१. द्र०—मैत्रायणी संहिता श्रीधरशास्त्री लिखित प्रभाव, पृष्ठ १६

११—प्लाक्षायण—९।६; २।६।२७२;
१२—वात्सप्र—१०।२३;
१३—अग्निवेश्यायन २।२।३२;
१४—शांखायन २।३।६;
१५—शैत्यायन—२।५।१,६; २।६।२,३;
१६—कौहलीयपुत्र—२।५।२;
१७—भारद्वाज—२।५।३;

इससे अधिक हम इस पार्षद के विषय में कुछ नहीं जानते।

८—चारायणि

आचार्य चारायणि-प्रोक्त चारायणीय प्रातिशाख्य सम्प्रति अनुपलब्ध है। लौगाक्षिगृह्यसूत्र के व्याख्याता देवपाल ने पञ्चमी कण्डिका में कृच्छ्र शब्द की व्याख्या में लिखा है—

कृतस्य पापस्य छूदनं वा कृच्छ्रमिति निर्वचनम्। वर्णलोपश्छान्दसत्वात् कृच्छ (? कृत) शब्दस्य। तथा च चारायणिसूत्रम्—"पुरुकृते च्छच्छ्र्योः" इति पुरुशब्दः कृतशब्दश्च लुप्यते यथासंख्यं छे छ्रे परतः। पुरु च्छदनं पुच्छम्, कृतस्य छदनं विनाशनं कृच्छ्रमिति। भाग १, पृष्ठ १०१, १०२।

इस उद्धरण से इतना स्पष्ट है कि चारायणि आचार्य प्रोक्त कोई लक्षण-ग्रन्थ अवश्य था, जिसमें पुच्छ-कृच्छ्र शब्दों का साधुत्व दर्शाया गया था। यह लक्षण-ग्रन्थ पार्षद रूप था अथवा व्याकरण रूप, यह कह सकना कठिन है।

चारायणीय शिक्षा काश्मीर से प्राप्त हुई थी। इसका उल्लेख अध्यापक कीलहार्न ने इण्डिया एण्टीक्वेरी जुलाई सन् १८७६ में किया है।

चारायणि का ही नामान्तर चारायण भी है। काशकृत्स्न और काशकृत्स्नि के समान अथवा पाणिन पाणिनि के समान चारायण और चारायणि में भी अण् और इञ् दोनों प्रत्यय देखे जाते हैं।

चारायण के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ७६-७८ (प्र० सं०) तक विस्तार से लिख चुके हैं।

९—सामप्रातिशाख्य-प्रवक्ता

सामवेद का प्रातिशाख्य पुष्पसूत्र अथवा फुल्लसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है। पुष्पसूत्र का प्रवक्ता—हरदत्त ने सामवेदीय सर्वानुक्रमणी में लिखा है—[1]

१. द्र०—आगे उद्ध्रियमाण हरदत्तवचन।

सूत्रकारं वररुचिं वन्दे पाणिञ्च वेधसम्।
फुल्लसूत्रविधानेन खण्डप्रपाठकानि च॥

अर्थात् फुल्लसूत्र का विधाता सूत्रकार वररुचि है। आगे पुनः लिखा है—

वन्दे वररुचिं नित्यमूहाब्धेः पारदृश्वनम्।
पोतो विनिर्मितो येन फुल्लसूत्रशतैरलम्॥ पृष्ठ ७।

अर्थात् ऊहगान रूपी समुद्र के पारदृश्वा वररुचि ने फुल्लसूत्र की रचना की।

यह वररुचि कौन है यह विचारणीय है। अधिक सम्भावना यही है कि यह याज्ञवल्क्य का पौत्र कात्यायन का पुत्र सूत्रकार वररुचि हो।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने स्वसंपादित पुष्पसूत्र की भूमिका में लिखा है—

एतस्यैव तार्त्तीयकं सूत्रमेकमवलम्ब्यारचितं मीमांसादर्शननवमाध्यायनवमाधिकरणम्। तथा चोक्तम् अधिकरणमालायामपि—तथा च सामगा आहुः—वृद्धं तालव्यमाइ भवति इति।

अर्थात्—इस पुष्पसूत्र के तृतीय अध्याय के एक सूत्र का अवलम्बन करके जैमिनि ने मीमांसादर्शन के नवमाध्याय का नवमाधिकरण रचा है। जैसा कि अधिकरणमाला में कहा है—जैसा सामगान करनेवाले आचार्य कहते हैं—वृद्ध तालव्य आइ होता है।

अधिकरणमाला में जिस सूत्र का संकेत किया है वह पुष्पसूत्र ३।१ का इस प्रकार है—

तालव्यमायि यद्वृद्धम् अवृद्धं प्रकृत्या।

पं० सत्यव्रतसामश्रमी के इस लेख से विदित होता है कि पुष्पसूत्र जैमिनि से पूर्ववर्ती है।

पुष्पसूत्र के दो पाठ—पुष्पसूत्र के उपाध्याय अजातशत्रु के भाष्य से प्रतीत होता है कि पुष्पसूत्र के दो प्रकार के पाठ हैं। एक पाठ वह है जिस पर उपाध्याय अजातशत्रु का भाष्य है और दूसरा पाठ वह है जिसमें आरम्भ के वे चार प्रपाठक भी सम्मिलित हैं, जिन पर अजातशत्रु की व्याख्या नहीं है।

उपाध्याय अजातशत्रु का पाठ—पुष्पसूत्र पर उपाध्याय अजातशत्रु का भाष्य काशी से प्रकाशित हुआ है। काशीसंस्करण में प्रपाठक १–४

तक अजातशत्रु का भाष्य नहीं है। भाष्य का आरंभ पंचम प्रपाठक से होता है।

अजातशत्रु के पंचम प्रपाठक के भाष्य के आरंभ में मंगलाचरण उपलब्ध होता है। अगले किन्हीं प्रपाठकों के भाष्य के आरंभ में मंगलाचरण नहीं है। इससे स्पष्ट है कि अजातशत्रु का भाष्य यहीं से आरंभ होता है और उसके पुष्पसूत्र के पाठ का आरंभ भी वर्तमान में मुद्रित पञ्चम प्रपाठक से होता है। इस बात की पुष्टि पञ्चम षष्ठ सप्तम प्रपाठकों की प्रत्येक कण्डिका के अन्त के पाठ से होती है। यथा—

पञ्चम प्रपाठक की प्रत्येक कण्डिका के अन्त में पाठ है—

इति उपाध्यायाजातशत्रुकृते पुष्पसूत्रभाष्ये प्रथमस्य प्रथमी (द्वितीया-तृतीया—चतुर्थी—द्वादशी) कण्डिका समाप्ता।

षष्ठ प्रपाठक की प्रत्येक कण्डिका के अन्त में—

इति उपाध्यायाजातशत्रुकृते पुष्पसूत्रभाष्ये द्वितीयस्य प्रथमी (—द्वादशी) कण्डिका समाप्ता।

सप्तम प्रपाठक की प्रत्येक कण्डिका के अन्त में—

इति......भाष्ये तृतीयस्य प्रथमी (—द्वादशी) कण्डिका समाप्ता।

इसी प्रकार अष्टम प्रपाठक की प्रथम कण्डिका के अन्त में—

इति......पुष्पसूत्रभाष्ये चतुर्थस्य प्रथमकण्डिका समाप्ता।

पाठ मिलता है परन्तु अगली कण्डिका के अन्त से चतुर्थस्य के स्थान में अष्टमस्य पाठ आरंभ में हो जाता है। प्रतीत होता है इतना भाग मुद्रित हो जाने पर संपादक को ध्यान आया होगा कि प्रतिपृष्ठ ऊपर तो पंचमः षष्ठः सप्तमः अष्टमः छप रहा है और भाष्य में प्रथमस्य द्वितीयस्य तृतीयस्य चतुर्थस्य छप रहा है इस विरोध का परिहार करने के लिए संपादक ने आगे सर्वत्र भाष्यपाठ में मूलपाठवत् प्रपाठक का निर्देश कर दिया।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि अजातशत्रु के आधारभूत ग्रन्थ का पाठ मुद्रित पुष्पसूत्र के पञ्चम प्रपाठक से आरम्भ होता था।

व्याख्याकार

उपाध्याय अजातशत्रु की व्याख्या के अवलोकन से विदित होता है कि उससे पूर्व पुष्पसूत्र पर कई व्याख्याएँ लिखी जा चुकी थीं। यथा—

(१) भाष्यकार

अजातशत्रु दशमप्रपाटक की सप्तमी कण्डिका की व्याख्या में लिखता है–

उच्यते। सत्यं न प्राप्नोति। किं तर्हि भाष्यकारेण अकारचोद्यन प्रापितम्।

पृष्ठ २३९।

इससे स्पष्ट है कि अजातशत्रु से पूर्व पुष्पसूत्र पर किसी अज्ञातनामा विद्वान् ने कोई भाष्य ग्रन्थ लिखा था।

(२) अन्ये शब्दोदाहृत

अजातशत्रु ने नवम प्रपाटक की अष्टम कण्डिका के भाष्य में लिखा है—

अन्ये पुनरिहापि एक इति अधिकारमनुसारयन्ति। पृष्ठ २२०

यहां अन्ये पद से संकेतित यदि पूर्व निर्दिष्ट भाष्यकार न हो तो निश्चय ही कोई अन्य व्याख्याकार अभिप्रेत होगा।

हमारे विचार में तो जिस ढंग से अन्य शब्द का और वह भी बहुवचन में प्रयोग किया है उससे प्रतीत होता है कि अजातशत्रु के सम्मुख पुष्पसूत्र की कई व्याख्याएँ थीं जिनमें कुछ व्याख्याकारों ने एके पद की अनुवृत्ति मानी थी, कुछ ने नहीं मानी थी।

(३) उपाध्याय अजातशत्रु

उपाध्याय अजातशत्रु कृत पुष्पसूत्र भाष्य काशी से छप चुका है। इसका उल्लेख हरदत्तविरचित सामवेदसर्वानुक्रमणी में भी मिलता है—

भाष्यकारं भट्टपूर्वमुपाध्यायमहं सदा। ऋक्तन्त्र परिशिष्ट पृष्ठ ४।

यहां स्मृत भट्ट उपाध्याय सम्भवतः उपाध्याय अजातशत्रु ही है।

इससे अधिक उपाध्याय अजातशत्रु के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

(४) रामकृष्ण दीक्षित सूरि

सामवेद की सर्वानुक्रमणी के लेखक हरदत्त ने पुष्पसूत्र के प्रकरण के अन्त में पुनः लिखा है—

इदं फुल्लस्य सूत्रस्य बृहद्भाष्यं हि यत्कृतम्।
नानाभाष्याख्यया रामकृष्णदीक्षितसूरिभिः॥ ऋक्तन्त्र परि० पृष्ठ० ७।

इससे विदित होता है कि रामकृष्णदीक्षित सूरि ने फुल्लसूत्र पर नानाभाष्य नाम बृहद्भाष्य लिखा था।

इससे अधिक इस के विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं।

सम्प्रति पुष्पसूत्र पर अजातशत्रु का भाष्य ही उपलब्ध है।

१०—अथर्वपार्षद-प्रवक्ता

अथर्ववेद से संबन्ध रखने वाले दो ग्रन्थ हैं—एक प्रातिशाख्य और दूसरा शौनकीय चतुरध्यायी अथवा कौत्स व्याकरण। अथर्व प्रातिशाख्य के भी दो पाठ हैं—एक पं० विश्वबन्धु शास्त्री सम्पादित दूसरा डा० सूर्यकान्त सम्पादित। दोनों पाठों के प्रकाश में आजाने पर प्रथम पाठ का व्यवहार लघुपाठ के नाम से और द्वितीय का बृहत्पाठ के नाम से किया जाता है। शौनकीय चतुरध्यायी के सम्बन्ध में हम आगे लिखेंगे।

प्रवक्ता—अथर्व प्रातिशाख्य का प्रवक्ता कौन आचार्य है, यह कहना कठिन है क्योंकि दोनों पाठों के अन्त में प्रवक्ता के नाम का उल्लेख नहीं मिलता।

काल—डा० सूर्यकान्त जी ने स्वसम्पादित प्रातिशाख्य की भूमिका में इस के काल निर्धारण के विषय में विस्तार से लिखा है। उसका आशय संक्षेप से इस प्रकार है—

कात्यायन ने पाणिनि के ६।३।८ पर **आत्मनेभाषा** और **परस्मैभाषा** रूप बनाए हैं। अथर्व प्रातिशाख्य सूत्र २२३ में आत्मनेभाषा और परस्मैभाषा शब्द प्रयुक्त हैं। कातन्त्र में **परस्मै** और **आत्मने** का प्रयोग भी मिलता है। कात्यायन ने **अद्यतनी** और **श्वस्तनी** का प्रयोग किया है। कातन्त्र में इनके अतिरिक्त लङ् के लिए **ह्यस्तनी** का प्रयोग भी होता है। अथर्व प्रातिशाख्य में **अद्यतनी** (सूत्र ७८) **ह्यस्तनी** (सूत्र १६७) शब्दों का प्रयोग मिलता है। कातन्त्र ३।१।१४ **भूतकरणवत्पश्च** में भूतकरण का प्रयोग उपलब्ध होता है। उसी अर्थ में अथर्वप्रातिशाख्य (सूत्र ४९७) में **भूतकर** का निर्देश मिलता है। अतः अथर्व प्रातिशाख्य का समय पाणिनि के पश्चात् और पतञ्जलि से पहले है। द्र० भूमिका पृष्ठ ६३-६४।

आलोचना—पाणिनीय सूत्र ६।३।८ पर कात्यायन के वार्त्तिक द्वारा **आत्मनेभाषा** और **परस्मैभाषा** पदों के साधुत्व का निर्देश होने से यह कथमपि सिद्ध नहीं होता कि ये शब्द पाणिनि से पूर्व व्यवहृत नहीं थे, उसके पश्चात् ही व्यवहार में आए। इसीलिए कात्यायन को इनका निर्देश करने के लिए वार्तिक बनाना पड़ा। वास्तविकता तो यह है कि **आत्मनेभाषा परस्मैभाषा**

शब्द प्राक्पाणिनीय हैं। पाणिनीय धातुपाठ में इनका प्रयोग मिलता है। यथा—

भू सत्तायाम् उदात्तः परस्मैभाषः।

इस पर धातुप्रदीपकार मैत्रेय रक्षित लिखता है—

परस्मैभाषा इति परस्मैपदिनः पूर्वाचार्यसंज्ञा। पृष्ठ १।

सायण भी धातुवृत्ति में लिखता है—

परस्मैभाषा–परस्मैपदीत्यर्थः। पृष्ठ २।

इतना ही नहीं, जो लोग कात्यायनीय वार्त्तिकों में निर्दिष्ट प्रयोगों को उत्तरपाणिनीय मानते हैं वे महती भूल करते हैं। हमने इस भूल के निदर्शन के लिए इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ३४-३५ (प्र० सं०) पर एक उदाहरण दिया है। पाणिनि के चक्षिङः ख्याञ् (२।४।५४) सूत्र पर कात्यायन का वार्त्तिक है चक्षिङः क्शाञ्ख्याञौ। इस वार्त्तिक में चक्षिङ् के स्थान पर पाणिनिनिर्दिष्ट ख्याञ् आदेश के साथ क्शाञ् आदेश का भी विधान किया है। यदि आधुनिक शास्त्र रहस्य अनभिज्ञ लोगों की बात मानी जाए तो कहा जाएगा कि क्शाञ् के रूप पाणिनि से पूर्व अथवा पाणिनि के समय प्रयुक्त नहीं होते थे, पीछे से प्रयुक्त होने लगे तो कात्यायन को पाणिनीयसूत्र में सुधार करना पड़ा। परन्तु यह है सर्वथा अशुद्ध। पाणिनि से सर्व सम्मति से पूर्वकालिक स्वीकार की जानेवाली मैत्रायणी संहिता में ख्याञ् के प्रसङ्ग में सर्वत्र क्शाञ् के प्रयोग मिलते हैं, काठक में भी उभयथा प्रयोग उपलब्ध होते हैं। तो क्या ये संहिताएं भी पाणिनि से उत्तरकालीन हैं? इसलिए जो भी विद्वान् कात्यायन और पतञ्जलि के प्रयोगों को देख कर उन्हें उत्तर कालीन मानते हैं और उसी के आधार पर इतिहास की कल्पना करते हैं, वे स्वयं धोखे में रहते हैं और अपनी अशास्त्रीय कल्पनाओं से शास्त्रसम्मत सिद्धान्त और परम्पराप्राप्त सत्य इतिहास का गला घोंट कर अज्ञान का प्रसार करते हैं।

पाणिनीय तन्त्र में पाणिनि द्वारा अनिर्दिष्ट तथा कात्यायन और पतञ्जलि द्वारा निर्दिष्ट शतशः ऐसे प्रयोग हैं जिनका साधुत्व प्राचीन व्याकरणों में उपलब्ध है अथवा प्राचीन वाङ्मय में वे उसी रूप में व्यवहृत हैं। इसकी विशेष मीमांसा हमने अपने अपाणिनीयपदसाधुत्वमीमांसा ग्रन्थ में की है (यह अभी अप्रकाशित है)।

दो पाठ— अथर्वपार्षद के लघु और बृहद् दो प्रकार के पाठ उपलब्ध

होते हैं। इन दोनों पाठों की विस्तृत तुलना करके डा० सूर्यकान्त जी ने लिखा है कि लघु पाठ बृहत् पाठ से उत्तर कालीन है। उनका यह मत सम्भवतः ठीक ही है। उनकी एतद्विषयक युक्तियां पर्याप्त बलवती हैं। इस विषय पर अधिक उनकी भूमिका में ही देखें।

शाखा संबन्ध—डा० सूर्यकान्त जी ने अथर्व प्रातिशाख्य तथा शौनकीय चतुरध्यायी के नियमों की राथ, ह्विटनी तथा शंकर पाण्डुरङ्ग सम्पादित अथर्व संहिताओं के साथ तुलना करके यह परिणाम निकाला है कि शङ्कर पाण्डुरङ्ग द्वारा संगृहीत हस्तलेख अथर्व प्रातिशाख्य के नियमों का अनुसरण करते हैं, शौनकीय चतुरध्यायी के नियमों का अनुसरण नहीं करते। इसलिए शङ्कर-पाण्डुरङ्ग के हस्तलेख शौनक शाखा के नहीं थे। राथ-ह्विटनी का पाठ शौनकीय चतुरध्यायी के अनुसार है। दोनों प्रकार की संहिताओं में अतिस्वल्प भेद होने के कारण दोनों के हस्तलेखों का मिश्रण हो गया है।

शौनकीय अथर्व संहिता पर भावी कार्य करने वालों को इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

पार्षद चतुरध्यायी से उत्तरवर्ती—डा० सूर्यकान्त जी का यह भी मत है कि अथर्व प्रातिशाख्य शौनकीय चतुरध्यायी से उत्तरवर्ती है। हम अभी निश्चित रूप से इस विषय में कुछ नहीं कह सकते।

बृहत्पाठ का संस्करण—पार्षद के बृहत्पाठ का जो संस्करण डा० सूर्यकान्त जी ने प्रकाशित किया वह उनके अत्यधिक प्रयत्न का फल है, इसमें किसी को भी विमति नहीं हो सकती। तथापि उसके पाठों में संशोधन की पर्याप्त आवश्यकता है। उदाहरणार्थ हम दो स्थल उपस्थित करते हैं—

(१)—सूत्र संख्या १७३ का डा० सूर्यकान्त सम्पादित पाठ इस प्रकार है—

ख्यातौ श्वयौ शुशुखीति बो धौ शुचेः।

इसका शुद्ध पाठ होना चाहिए—

ख्यातौ खयौ शुशुग्धीति गधौ शुचेः।

सूत्र का अर्थ है—ख्याधातु के प्रयोगों में ख-य का संयोग होता है और शुच के शुशुग्धि में ग-ध का संयोग।

इस अर्थ की पुष्टि पार्षद के अगले पाठ में निर्दिष्ट उदाहरणों से होती है। डा० सूर्यकान्त के पाठ का कोई अर्थ नहीं बनता। पं० विश्वबन्धु जी

सम्पादित लघुपाठ में इस सूत्र का पाठ—ख्यातौ खयौ शुशुषीति बाधौ शुचेः कुछ अंश में (स्वयौ=खयौ) शुद्ध है।

२—पृष्ठ ४ पर 'आबाध' के उदाहरणों में—

शाखान्तरेऽपि तन्नस्तप उत सत्यं च वेत्तु—तम्। नः। अकारान्तं पुंसि वचनम्। नपुंसकं तकारान्तं शौनके।

यहां अकारान्तं के स्थान पर मकारान्तं पाठ होना चाहिए।

हमारे द्वारा सुझाए संशोधन की पुष्टि सूत्र सं० १४०८ के......'तन्नस्तप ...'षण् मकरान्तानि नकाराबाधे पाठ से होती है। इस पाठ में तन्नस्तप में तम् मकारान्त पाठ दर्शाया है।

अन्यथा संशोधन—डा० सूर्यकान्तजी के संस्करण में कतिपय स्थल ऐसे भी हैं जिनमें हस्तलेखों का पाठ अन्यथा होते हुए भी डाक्टरजी ने मुद्रित अथर्व संहिताओं के पाठों के आधार पर हस्तलेखों के पाठ परिवर्तित कर दिए। यथा—

१—सूत्र संख्या ५८ का पाठ है—

......'पश्चात् पृदाकवः सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चाच्चित्तिरा'...
......।

यहां सूत्रपाठ में दोनों स्थानों पर पश्चात् पाठ है, परन्तु इनके जो उदाहरण छपे हैं, उनमें—

इमे पश्चा पृदाकवः—पश्चा १०।४।११।।

सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा—पश्चा २।१०।८।७; ११।४।२१।।

में पश्चा पाठ है। परन्तु डाक्टर जी के हस्तलेख में दोनों स्थानों में पश्चात् पाठ ही है, इसका निर्देश उन्होंने स्वयं किया है। समझ में नहीं आता कि हस्तलेख में सूत्र और उदाहरण दोनों में पश्चात् एक जैसा ही होने पर भी सूत्र में पश्चात् और उदाहरणों में पश्चा पाठ देकर वैषम्य क्यों उत्पन्न कर दिया ?। इसी प्रकार

२—सूत्र संख्या ११४ का पाठ है—

विश्वमन्यामभीवार जागरत् प्रविशिवँसमित्यभ्यासस्यापवादः।

इस पाठ में जागरत् पाठ माना है। परन्तु उदाहरण में—

न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन। ५।१९।१०।।

में **जागार** पाठ बना दिया, जब कि उनके हस्तलेख में **जागरत्** पाठ उदाहरण में भी विद्यमान है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी बहुत्र डाक्टर जी ने मूल कोष के पाठों को बदलकर मुद्रित संहितानुसारी बनाया है। यह कार्य अशास्त्रीय है। आश्चर्य तो इस बात का है कि डाक्टरजी ने सूत्रपाठ को तो हस्तलेखानुसार रहने दिया और उदाहरण पाठ में ही परिवर्तन किया और दोनों में जो वैषम्य उनके द्वारा उत्पन्न हो गया उस पर ध्यान नहीं दिया।

हमारा विचार है कि अथर्वप्रातिशाख्य की मूल संहिता न शंकर पाण्डुरङ्ग वाली है और ना ही राथ-ह्विटनी वाली। यह किसी अन्य संहिता का ही प्रतिनिधित्व करती है।

पं० विश्वबन्धु जी की भूल— पं० विश्वबन्धु जी ने अपनी लघुपाठ के संस्करण की भूमिका में **देवताद्वन्द्वानि चानामन्त्रितानि** १।२।४८ सूत्र को उद्धृत करके लिखा है—

The provision makes for a deficiency even in Panini. पृष्ठ ३४

अर्थात्—यह विधान पाणिनि की न्यूनता की पूर्ति कर देता है।

यहां श्री पं० विश्वबन्धु जी का अभिप्राय है कि पाणिनि ने **देवताद्वन्द्वे च** (६।२।१४१) सूत्र में उभय पद प्रकृतिस्वर का विधान करते हुए आमन्त्रित देवता द्वन्द्व का निषेध नहीं किया, इसलिए आमन्त्रित देवता द्वन्द्व में भी उभय पद प्रकृतिस्वर की प्राप्ति होगी। प्रातिशाख्यकार ने **अनामन्त्रितानि** पद द्वारा उसका निषेध करके पाणिनि की त्रुटि की पूर्ति की है।

वस्तुतः अथर्व प्रातिशाख्य का उक्त नियम पाणिनीय विधान की पूर्ति नहीं करता। श्री पं० विश्वबन्धुजी ने पाणिनीय तन्त्र के एतद्विषयक पौर्वापर्य क्रम को भली प्रकार हृदयंगम नहीं किया। अतः आपको पाणिनीय शास्त्र में यह न्यूनता प्रतीत हुई। वस्तुतः पाणिनीय तन्त्र की व्यवस्था के अनुसार देवताद्वंद्व के भी आमंत्रित होने पर दो स्थानों में पढ़े **आमन्त्रितस्य च** (६।१।१९८; ८।१।१९) सूत्रों द्वारा उभयपद प्रकृतिस्वर को बाधकर यथायोग्य आमन्त्रित स्वर की प्राप्ति हो जाती है।

पुनः पं० विश्वबन्धु जी लिखते हैं:—

Reserving further elaboration of this interesting, though thorny, of comparative study of this literature for the subsequent instalment of this work, this much may be safely stated that our Pratisakhya depends to a considerable extent for its material on other kindred works and that, though indebted to old grammarians, does not bear the stamp of Panini. पृष्ठ ३४ ।

अर्थ:—इस साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन के इस रोचक, किन्तु तीखे, विषय के और अधिक विस्तार को इस ग्रन्थ की आगामी क़िस्त के लिये सुरक्षित रखते हुए, इतना तो कहा ही जा सकता है कि हमारा प्रातिशाख्य अपनी सामग्री के लिये विचारणीय सीमा तक अन्य सजातीय ग्रंथों पर आधृत है और यद्यपि प्राचीन वैयाकरणों का ऋणी है, किन्तु इसके ऊपर पाणिनि की छाप नहीं ।

श्री पण्डितजी के इस लेख से प्रतीत होता है कि आप अथर्व प्रातिशाख्य को पाणिनि से उत्तर कालीन मानते हुए, उस पर पणिनि की छाप का प्रतिषेध कर रहे हैं । वस्तुतः यह ठीक नहीं है । अथर्व प्रातिशाख्य पाणिनि से पूर्ववर्ती है । इसलिए उसपर पाणिनि की छाप का तो कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता ।

अथर्वप्रातिशाख्यभाष्य

अलवर के राजकीय हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र में संख्या ३२८ पर प्रातिशाख्यभाष्य का एक हस्तलेख निर्दिष्ट है । इस हस्तलेख के आद्यन्त का जो पाठ सूचीपत्र के अन्त में पृष्ठ २९ पर छपा है उसके अवलोकन से तो यही प्रतीत होता है कि यह हस्तलेख बृहत्पाठ का है । इसके अन्त्य पाठ में अथर्ववेदे प्रातिशाख्ये तृतीयः प्रपाठकः समाप्तः ही पाठ निर्दिष्ट है । इससे सन्देह होता है कि सूचीपत्र निर्माता ने इस पाठ में उदाहरणों का सन्निवेश देखकर इसके नाम के साथ भाष्य शब्द का प्रयोग कर दिया है ।

११—अथर्व चतुरध्यायी-प्रवक्ता

अथर्व संबंधी पार्षद सदृश एक ग्रन्थ और है जो प्रायः शौनकीय चतुर-

ध्यायी नाम से सम्प्रति व्यवहृत हो रहा है। यह ग्रंथ चार अध्यायों में विभक्त है।

प्रवक्ता—इस ग्रंथ के प्रवक्ता का नाम संदिग्ध है। ह्विटनी के हस्तलेख के अन्त में शौनक का नाम निर्दिष्ट होने से उसने इसे शौनकीय कहा है। बालशास्त्री गदरे ग्वालियर के संग्रह से प्राप्त चतुरध्यायी के हस्तलेख के प्रत्येक अध्याय के अन्त में—

इत्यथर्ववेदे कौत्सव्याकरणे चतुरध्यायिकायां...

पाठ उपलब्ध होता है। यह हस्तलेख प्राचीन हस्तलेख पुस्तकालय उज्जैन में सुरक्षित है। इस हस्तलेख के विषय में पं० सदाशिव एल० कात्रे का न्यू इण्डियन एण्टीक्वेरी सितम्बर १९३८ में एक लेख छपा है, वह द्रष्टव्य है।

कौत्स व्याकरण के नाम से निर्दिष्ट एक हस्तलेख काशी के सरस्वतीभवन के संग्रह में भी है। इसकी संख्या २०८६ है। इसके प्रथमाध्याय के प्रथम पाद के अन्त में निम्न पाठ है—

इत्यथर्ववेदे कौत्सव्याकरणे चतुरध्यायिकायां प्रथमः पादः

हमारे विचार में शौनकीय चतुरध्यायी का प्रवक्ता कौत्स है और अथर्ववेद की शौनक शाखा से इसका संबंध होने से यह शौनकीया विशेषण से विशेषित होती है।

काल—भारतीय वाङ्मय में कौत्स नाम के अनेक आचार्य हो चुके हैं। एक कौत्स वरतन्तु का शिष्य था। इसका उल्लेख रघुवंश ५।१ में मिलता है। एक कौत्स निरुक्त १।१५ में स्मृत है। महाभाष्य ३।२।१०८ में किसी कौत्स को पाणिनि का शिष्य कहा है। गोभिलगृह्यसूत्र ३।१०।४, आपस्तंब धर्मसूत्र १।१९।४; १।२८।१, आयुर्वेदीय कश्यपसंहिता (पृष्ठ ११५) और सामवेदीय निदानसूत्र २।१।१०; ३।११; ८।१० आदि में भी कौत्स का निर्देश मिलता है। इनमें से चतुरध्यायिका का प्रवक्ता कौन सा कौत्स है यह कहना अभी कठिन है।

कौत्स का स्मार्तवचन—कौत्स का एक स्मार्त वचन चतुर्वर्ग चिंतामणि परिशेष खंड काल निर्णय पृष्ठ २५१ पर निर्दिष्ट है।

अथर्वचतुरध्यायी अथर्वपार्षद से पूर्ववर्ती है, यह डा० सूर्यकान्त का मत है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

१२—प्रतिज्ञासूत्रकार

शुक्ल यजुः सम्प्रदाय में प्रतिज्ञासूत्र नाम के दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। एक का सम्बन्ध कात्यायन प्रातिशाख्य के साथ है और दूसरे का कात्यायन श्रौत के साथ। कात्यायन प्रातिशाख्य तथा श्रौत दोनों से संबद्ध परिशिष्टों का रचयिता भी कात्यायन ही माना जाता है। यह परंपरा कहां तक प्रामाणिक है यह हम नहीं जानते। अन्यकृत होने पर भी कात्यायनीय ग्रन्थों से सम्बद्ध होने के कारण इनका कात्यायन परिशिष्ट के नाम से व्यवहार हो सकता है। यदि परिशिष्ट प्रातिशाख्य और श्रौतसूत्र प्रवक्ता आचार्य कात्यायन के ही हों तो इनका काल विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व होगा।

कात्यायन प्रातिशाख्य से संबद्ध प्रतिज्ञासूत्र के विषय में व्याख्याकार अनन्त देव लिखता है—

प्रातिशाख्यकथनान्तरं चैतस्यावसरो यतस्तन्निरूपितकर्मनियुक्तमन्त्रेषु स्वरसंस्कारनियमावश्यंभावतयाऽनुपदिष्टस्वरसंस्थानसंस्कराकांक्षैतदर्थमयमारंभः।

अर्थात् प्रातिशाख्य में अनुपदिष्ट स्वरसंस्कार आदि का वर्णन करने के लिए इस का आरंभ है।

इस प्रतिज्ञासूत्र में तीन कण्डिकाएं हैं। प्रथम में स्वर विशेष के नियमों का वर्णन है। द्वितीय में य-ज, ष-ख और स्वरभक्ति आदि के उच्चारण का विधान है। तृतीय में अयोगवाहों के शिशिष्ट उच्चारण की विधि कही है।

व्याख्याकार

अनन्तदेव याज्ञिक की व्याख्या में अनेक स्थानों पर प्राचीन व्याख्याकारों के मत उद्धृत हैं। उनसे विदित होता है कि इस ग्रन्थ पर कई व्याख्यान ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। यथा—

१—प्रतिज्ञानं प्रतिज्ञा। समधिगम्येऽर्थे प्रतिज्ञा शब्दो भाक्त इत्याहुः। १।१; पृष्ठ ४०२।

२—केचित्तु पाठादेवानन्तर्यसिद्धौ मङ्गलार्थ एवाथ शब्द इत्याहुः। १।१, पृष्ठ ४०२।

इन प्राचीन व्याख्यानों में से एक भी सम्प्रति प्राप्त नहीं है।

अनन्तदेव याज्ञिक

काशी से प्रकाशित वाजसनेय प्रातिशाख्य के अन्त में पृष्ठ ४०१ से ४३१ तक प्रतिज्ञासूत्र व्याख्या सहित छपा है।

व्याख्याता का नाम—इस सूत्र की प्रत्येक कण्डिका के अन्त में—

इत्यनन्तदेवयाज्ञिकविरचिते प्रतिज्ञापरिशिष्टे सूत्रभाष्ये......। ऐसा पाठ प्रायः उपलब्ध होता है।

प्रतिज्ञासूत्र भाष्य के आद्यन्त पाठ से यह प्रतीत नहीं होता कि यह अनन्त कौन सा है। याजुष प्रातिशाख्य तथा काण्व संहिता का व्याख्याकार नागदेव भट्ट का पुत्र अनन्तभट्ट अथवा अनन्त देव नहीं है। क्यों कि यह अनन्त भट्ट अपने प्रत्येक ग्रन्थ के आदि अथवा अन्त में अपने माता-पिता और शाखा के नामों का उल्लेख करता है। प्रतिज्ञासूत्र व्याख्या के आद्यन्त में ऐसा निर्देश उपलब्ध नहीं होता। इतना ही नहीं, नागदेव सुत अनन्त देव अपने अन्यग्रन्थों में याज्ञिक विशेषण नहीं देता, प्रतिज्ञासूत्र व्याख्या के अन्त में 'याज्ञिक' विशेषण मिलता है।

वि० सं० १८०२ में लिखी गई बालकृष्ण शर्मा की प्रातिशाख्यदीपिका (पृष्ठ २९२ शिक्षा संग्रह) में भी प्रतिज्ञासूत्र भाष्यकार का **अनन्त याज्ञिक** नाम से निर्देश मिलता है।

वैदिक ग्रन्थ व्याख्याताओं में एक देव याज्ञिक प्रसिद्ध है, क्या उसका मूल नाम अनन्तदेव तो नहीं ! सम्भव है दो अनन्त देवों के भेद परिज्ञान के लिए एक को अनन्तदेव तथा दूसरे को देव याज्ञिक नाम से व्यवहार करने की परिपाटी रही हो। इस की सम्भावना देवयाज्ञिकविरचित कात्यायन सर्वानुक्रम-भाष्य के काशी संस्करण के मुख पृष्ठ से होती है। उस पर **याज्ञिकानन्तदेव-विरचितभाष्यसहितम्** निर्देश छपा है।

वस्तुतः जब तक उक्त समस्या का समाधान नहीं हो जाता, तब तक इस व्याख्या का कालनिर्णय करना अशक्य है।

व्याख्या में अत्युपयोगी निर्देश—प्रतिज्ञासूत्र की व्याख्या में कुछ अत्युपयोगी निर्देश मिलते हैं जिनसे प्राचीन वर्णराशि तथा उच्चारण विषय पर नया प्रकाश पड़ता है। यथा—

१—अतः सम्प्रदायविद एवंविधे यकारे स्पृष्टप्रयत्नज्ञापनाय मध्ये

विन्दुं प्रक्षिपन्ति। स्पृष्टप्रयत्नं स्थानैक्याच्चवर्गतृतीयसदृशं यकारं पठन्ति च। २।२, पृष्ठ ४१९।

२—षटौ मूर्धनीति (प्रा० १।६७) सूत्रात् षकारो मूर्धन्यः स्थान-करणपरित्यागेनार्धस्पृष्टषकारस्थाने कवर्गीयप्रतिरूपकं खकारोच्चारणं कर्तव्यम् २।११, पृष्ठ ४२४।

३—संज्ञाभेदो निमित्तभेदो लिपिभेदश्च। तृतीयस्तु इदानीं प्रायशः परिभ्रष्टस्तथापि प्राचीनसम्प्रदायानुरोधाद् विज्ञायते। ३।२७ पृष्ठ ४२४।

इन उद्धरणों में क्रमशः—

प्रथम में—माध्यन्दिन प्रातिशाख्याध्येताओं के द्वारा य के स्थान में ज उच्चारण पर प्रकाश पड़ता है। इस उद्धरण से विदित होता है कि शुद्ध ज उच्चारण अशुद्ध है जसदृश उच्चारण होना चाहिए। अर्थात् यह स्वतन्त्र वर्ण है, न य है और न ज। दोनों के मध्यवर्ती उच्चारण वाला है। इसी बात को व्यक्त करने के लिए चवर्गतृतीयसदृशं में सदृश शब्द का उपादान किया है।

द्वितीय में—माध्यन्दिन शाखाध्यायियों के द्वारा ष के स्थान में उच्चार्य-माण ख उच्चारण पर प्रकाश पड़ता है। यह भी न ष है और न ख, अपितु ष-ख मध्यवर्ती स्वतन्त्र वर्ण है। इसी बात को व्यक्त करने के लिए कवर्गीय-प्रतिरूपकं खकारोच्चारणं में प्रतिरूपक शब्द का प्रयोग किया है। अन्यथा प्रतिरूप शब्द व्यर्थ है, खकारोच्चारणं इतना ही कहना पर्याप्त है।

तृतीय में—ह्रस्व, दीर्घ और गुरु संज्ञक त्रिविध ꣳ का उल्लेख और तृतीय प्रकार के वर्ण का उच्चारण परिभ्रंश अर्थात् नाश का उल्लेख है।

हमारा विचार है कि प्राचीन काल में संस्कृत भाषा में ऐसे कई स्वतन्त्र वर्ण थे जो उत्तर काल में उच्चारण दोष से नष्ट हो गए। इसी प्रकार के वर्णों के नाश के कारण सम्प्रति वर्णों की ६३ संख्या उपपन्न नहीं होती। साम्प्रतिक विद्वान् इस संख्या की पूर्ति एक एक स्वर को ह्रस्व दीर्घ प्लुत भेद से तीन प्रकार का (संध्यक्षरों को दो प्रकार का) गिनकर करते हैं। यह चिन्त्य है। यदि एक ही अकार को कालभेद के कारण ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत भेद से तीन प्रकार का गिना जाए तो उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और सानुनासिक भेदों की गिनती क्यों नहीं की जाती? उन्हें स्वरभेद से पृथक् क्यों नहीं माना जाता?

प्रतिज्ञा परिशिष्ट २।६ में वकार के भी गुरु-मध्य-लघु तीन भेद कहे हैं।

याज्ञवल्क्य शिक्षा श्लोक १५५, १५६ में व-य दोनों के गुरु, लघु और लघुतर भेद कहे हैं। पाणिनि ने भी व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य (८।३।१८) सूत्र में य, व के लघुतर रूप का निर्देश किया है।

प्राचीन संस्कृत भाषा में प्रयुक्त वर्णों के विभागों तथा उच्चारण के विषय में अनुसन्धान करने की महती आवश्यकता है। प्राचीन वर्णों के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान होने पर भाषाविज्ञान के क्षेत्र में एक नई क्रान्ति हो सकती है। भाषाविज्ञान के अनेक नियमों पर नए रूप से विचार करना पड़ेगा।

१३—भाषिक सूत्रकार

कात्यायन प्रातिशाख्य के परिशिष्टों में एक भाषिक सूत्र भी है। इसमें शतपथ ब्राह्मण के स्वरसंचार पर प्राधान्येन विचार किया गया है। इस में तीन कण्डिकाएँ हैं।

शतपथ ब्राह्मण के स्वरों का विधान करते हुए इस परिशिष्ट से उन ब्राह्मणों के विषय में भी प्रकाश पड़ता है जो सम्प्रति लुप्त हो गए हैं। अथवा जिनमें स्वरसम्प्रदाय नष्ट हो गया है। यथा—

१—शतपथवत् ताण्डिभाल्लविनां ब्राह्मणस्वरः ॥ ३।१५ ॥

२—मन्त्रस्वरवद् ब्राह्मणस्वरश्चरकाणाम् ॥ ३।२५ ॥

३—तेषां खाण्डिकेयौखेयानां चातुःस्वर्यमपि क्वचित् ॥ ३ २६ ॥

४—ततोऽन्येषां ब्राह्मणस्वरः ॥ ३।२७ ॥

इस परिशिष्ट से स्वरविषय पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। यत् आदि के योग में कितने वर्णों के व्यवधान में तिङ् स्वर होता है अर्थात् निघातस्वर का प्रतिषेध होता है, इस पर अच्छा विचार उपलब्ध होता है।

व्याख्याकार

(१) महास्वामी

महास्वामी नाम के एक विद्वान् ने भाषिक सूत्र पर एक भाष्य लिखा था। इस भाष्य का सम्पादन वैवर ने (इण्डीश स्टडीन) किया है। आगे निर्दिश्यमान अनन्त भाष्य इस महास्वामी भाष्य की छाया मात्र है। इसलिए महास्वामी का काल वि० सं० १६५० से पूर्व होगा।

(२) अनन्त देव

इस परिशिष्ट पर नागदेव सुत अनन्तदेव की व्याख्या वाजसनेय प्रातिशाख्य के काशी संस्करण में पृष्ठ ४३२-४७१ तक छपी है।

इसके काल आदि के विषय में वाजसनेय प्रातिशाख्य के व्याख्याकार प्रकरण में लिख चुके हैं।

१४—ऋक्तन्त्र

सामवेदीय ग्रन्थों में ऋक्तन्त्र नाम का एक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसमें सामवेद की किसी शाखा विशिष्ट के स्वर, सन्धि आदि नियमों का विधान मिलता है।

प्रवक्ता—ऋक्तन्त्र का प्रवक्ता कौन आचार्य है, इस विषय में प्राचीन ग्रन्थकारों में मतभेद है। कुछ ग्रन्थकार ऋक्तन्त्र का प्रवक्ता शाकटायन को मानते हैं और कुछ औदव्रजि को। यथा—

शाकटायन—नागेशभट्ट लघुशब्देन्दुशेखर के आरम्भ में लिखता है—

१—ऋक्तन्त्रव्याकरणे शाकटायनोऽपि—इदमक्षरं छन्दो......।

भाग १ पृ० ७

किसी हरदत्त नाम के व्यक्ति की एक सामसर्वानुक्रमणी मिलती है। इसे डा० सूर्यकान्त जी ने अपने ऋक्तन्त्र संस्करण के अन्त में छपवाया है। उसमें लिखा है—

२—ऋचां तन्त्रव्याकरणे पञ्चसंख्याप्रपाठकम्।
शाकटायनदेवेन द्वात्रिंशद् खण्डकाः स्मृताः॥ पृष्ठ २॥

३—ऋक्तन्त्र के अन्त में पाठ मिलता है—

इति शाकटायनोक्तमृक्तन्त्रव्याकरणं सम्पूर्णम्।

४—इसी प्रकार ऋक्तन्त्रवृत्ति के अन्त में पाठ मिलता है—

छन्दोगशाखायामृक्तन्त्राभिधानव्याकरणवृत्तिः समाप्ता। ऋक्तन्त्रव्याकरणं शाकटायनादिभिः कृतम्। सूत्राणां संख्या २८० अशीत्यधिकशतद्वयं सूत्राणि।

औदव्रजि—भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ (मुखनासिका सूत्रे) में लिखा है—

१—तथा च ऋक्तन्त्रव्याकरणस्य छान्दोग्यलक्षणस्य प्रणेता औद्व्रजिरप्यसूत्रयत्—अनन्त्यान्त्यसंयोगे मध्ये यमः पूर्वस्य गुण इति। पृष्ठ १४३।

श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा की 'पञ्जिका' नाम्नी व्याख्या[1] का अज्ञातनामा लेखक लिखता है—

२—अनन्त्यान्त्यसंयोगे मध्ये यमः पूर्वगुण इत्यौदव्रजिः। पृष्ठ १०।

३—तथा चौदव्रजिः—तत्र स्पृष्टं प्रयतनं करणं स्पर्शानाम्, दुःस्पृष्टमन्तःस्थानाम् इति। पृष्ठ ११।

४—तथा चौदव्रजिः—अनुस्वारावं आं इत्यनुस्वारौ, ह्रस्वाद्दीर्घो दीर्घाद्ध्रस्वो वर्णौ इति। पृष्ठ १२।

५—द्वौ नादानुप्रदानौ इत्यौदव्रजिः। पृष्ठ १४, १९।

६—निमेषः कालमात्रा स्याद् इत्यौदव्रजिः। पृष्ठ।

७—औदव्रजिरपि—स्पर्शे वर्गस्य स्पर्शग्रहणे च ज्ञेयं वर्गस्य ग्रहणं स्थानेष्वित्यधिकार इति। पृष्ठ १७।

८—तथा च औदव्रजिः—अयोगवाहाः अः इति विसर्जनीयः, क: इति जिह्वामूलीयः, प: इत्युपध्मानीयः, अं इत्यनुस्वारः नासिक्य इति। पृष्ठ १८।

श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा की 'प्रकाश' व्याख्या[2] का अज्ञातनामा लेखक भी लिखता है—

९—अनन्तसंयोगे मध्ये यमः पूर्वगुण इत्यौदव्रजिरपि। पृष्ठ २६।

इन उद्धरणों में से कतिपय सर्वथा अभिन्नरूप से, कतिपय स्वल्प भेद से ऋक्तन्त्र में उपलब्ध होते हैं और कतिपय नहीं भी मिलते। यथा—

संख्या १, २ तथा ९ का उद्धरण ऋक्तन्त्र प्रपाठक १ खण्ड २ के अन्त में मिलता है। संख्या १ तथा ९ का पाठ कुछ भ्रष्ट है। पाणिनीयशिक्षा के

---

१. आगे इस व्याख्या की निर्दिष्ट पृष्ठसंख्या मनोमोहन घोष द्वारा सम्पादित तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९३८ में प्रकाशित संस्करण के अनुसार है।

२. इसकी पृष्ठसंख्या भी पूर्वनिर्दिष्ट संस्करण के अनुसार दी है।

सम्पादक मनोमोहन घोष ने इस उद्धरण का पृष्ठ १० पर शुद्ध पाठ देकर भी पृष्ठ २६ पर पाठ का शोधन नहीं किया, यह चिन्त्य है।

संख्या ३ का उद्धरण प्रपा० १ खण्ड ३ में स्वल्पपाठान्तर से मिलता हैं।

संख्या ४ के उद्धरण का पूर्व भाग, प्रपा० १ खण्ड २ के अन्त में और उत्तर भाग खण्ड ३ के आरम्भ में स्वल्पभेद से मिलता है। पाणिनीय शिक्षा के काशी संस्करण में उत्तर भाग का पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है।

संख्या ८ का उद्धरण प्रपा० १ खण्ड २ में मिलता है, परन्तु पञ्जिका का पाठ कुछ भ्रष्ट है।

संख्या ५,६ का पाठ मुद्रित ऋक्तन्त्र में नहीं मिलता।

प्रवक्तृत्व पर विचार—ऊपर प्राचीनग्रन्थकारों के दो मत उद्धृत किए हैं। एक के अनुसार ऋक्तन्त्र का प्रवक्ता शाकटायन है और दूसरे के मतानुसार औदव्रजि। ऋक्तन्त्र के आरम्भ में **श्वासो नाद इति शाकटायनः** सूत्र में शाकटायन का मत निर्दिष्ट है और प्रपा० २ खण्ड ६ सूत्र १० **न्यायेनौदव्रजिः** में औदव्रजि का नामतः उल्लेख है। नारदीय शिक्षा प्रपा० २ कण्डिका ८ श्लोक ५ (पृष्ठ ४४२ काशी शिक्षासंग्रह) में किसी प्राचीन औदव्रजि का मत निर्दिष्ट है।[1]

डा० सूर्यकान्त का विचार—डा० सूर्यकान्त जी का विचार है कि ऋक्तन्त्र का प्रथम प्रणयन औदव्रजि ने किया था, उसका थोड़े से परिवर्तन और परिवर्धन के साथ द्वितीय संस्करण शाकटायन ने किया। ऋक्तन्त्र का जो संस्करण सम्प्रति मिलता है वह उसका तृतीय संस्करण है और यह निश्चित ही पाणिनि से उत्तरवर्ती है।[2]

डा० सूर्यकान्तजी के इस विचार का आधार ऋक्तन्त्र में औदव्रजि और शाकटायन दोनों नामों का कण्ठतः निर्देश प्रतीत होता है।

हमारा विचार—नारदशिक्षा (२।८।५) में औदव्रजि के साथ प्राचीन विशेषण मिलता है। इस विशेषण से इतना स्पष्ट है कि औदव्रजि नाम के दो आचार्य हुए हैं, उनमें भेद निर्देश के लिए नारदशिक्षा में 'प्राचीन' विशेषण

१. तेनास्यकरणं सौक्ष्म्यं माधुर्यं चोपजायते। वर्णांश्च कुरुते सम्यक् प्राचीनौदव्रजिर्यथा ॥

२. डा० सूर्यकान्त सम्पा० ऋक्तन्त्र भूमिका, पृष्ठ ३९-४३।

दिया है।[1] सम्भवतः ऋक्तन्त्र २।६।१० में निर्दिष्ट औदव्रजि भी प्राचीन औदव्रजि ही है। ऋक्तन्त्र प्रवक्ता के सम्बन्ध में जो दो मत उद्धृत किये हैं, उससे यह सम्भावना प्रतीत होती है कि ऋक्तन्त्र का प्रवक्ता द्वितीय औदव्रजि है और वह शाकटायन गोत्रज है (ऋक्तन्त्र के आरम्भमें निर्दिष्ट शाकटायन आद्य शाकटायन है)। इसीलिए ऋक्तन्त्र के विषय में नामद्वय का निर्देश प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है।

ऋक्तन्त्र का वर्तमान स्वरूप निश्चय ही पाणिनि से पूर्ववर्ती है। इस विषय में हम डा० सूर्यकान्त जी के विचारों से सहमत नहीं, जिनके द्वारा उन्होंने पाणिनि को उत्तरकालीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया। इस पर विस्तृत विचार लक्षण ग्रन्थों के इतिहास में करेंगे।

औदव्रजि का देश—पाणिनीय अष्टाध्यायी २।४।५९ के अनुसार औदव्रजि अप्राग्देशीय है (सम्भवतः औदीच्य)। काशिकाकार लिखता है—

अन्ये पैलादय इञन्तास्तेभ्य इञः प्राचाम् (२।४।६०) इति लुकि सिद्धेऽप्रागर्थः पाठः।

ऋक्तन्त्र का शाखाविशेष से संबन्ध—गोभिल गृह्यसूत्र का व्याख्याता भट्ट नारायण लिखता है—

राणायनीयानामृक्तन्त्रप्रसिद्धा विसर्जनीयस्याभिनिष्ठानाख्या।
(पृष्ठ ४२०)

इस उद्धरण से विदित होता है कि ऋक्तन्त्र का संबन्ध सामवेद की राणायनीय संहिता के साथ है।

ऋक्तन्त्र का द्विविध पाठ—हरदत्त की ऋक्सर्वानुक्रमणी के पूर्व उद्धृत पाठ के अनुसार ऋक्तन्त्र में ५ प्रपाठक हैं। मुद्रित ग्रन्थ में भी पांच प्रपाठक उपलब्ध होते हैं। इस पाठ में शिक्षा रूप प्रथम प्रपाठक भी सम्मिलित है। ऋक्तन्त्र प्रपाठक का सन्निवेश के दूसरे पाठ में शिक्षा रूप प्रथम प्रपाठक नहीं है। इसलिए इस पाठमें चार ही स्वीकार किए जाते हैं। कुछ हस्तलेखों में पञ्चम प्रपाठक के स्थान में चतुर्थः प्रपाठकः समाप्तः पाठ भी मिलता है (द्र० डा० सूर्यकान्त संस्क०)। मुद्रित वृत्ति ग्रन्थ में प्रथम प्रपाठक की व्याख्या उपलब्ध नहीं होती।

---

१. अष्टाध्यायी ४।२।५९ के अनुसार औदव्रजि के पुत्र (युवापत्य) के लिए भी 'औदव्रजि' का ही प्रयोग होता है। अर्थात् औदव्रजि से उत्पन्न युव प्रत्यय का लोप हो जाता है।

वृत्तिग्रन्थ की विवृत्ति में स्पष्ट रूप से द्वितीय प्रपाठक के स्थान में ऋक्तन्त्रविवृत्तौ प्रथमः प्रपाठकः पाठ मिलता है (द्र० डा० सूर्यकान्त संस्करण, परिशिष्ट) इस से भी यही विदित होता है कि वृत्ति और विवृत्ति ग्रन्थ ऋक्तन्त्र के जिस पाठ पर लिखे गए उसमें शिक्षात्मक प्रपाठक सम्मिलित नहीं था अर्थात् शेष चार ही प्रपाठक थे।

औदव्रजि का अन्य ग्रन्थ—सामगान से संबद्ध एक सामतन्त्र नाम का प्राचीन ग्रन्थ है। इस का प्रवक्ता भी औदव्रजि माना जाता है। इस विषय में सामतन्त्र के प्रकरण में लिखेंगे।

व्याख्याता

(१) अज्ञातनामा भाष्यकार

ऋक्तन्त्र की जो व्याख्या डा० सूर्यकान्त जी ने प्रकाशित की है उसमें तीन स्थानों पर किसी प्राचीन भाष्य का उल्लेख मिलता है। यथा—

१—नृभिर्यतः इति भाष्यम्। पूर्ण सूत्र संख्या १४३।

२—अयमु ते (१।१८३) भाष्यम्। पूर्णसंख्या २४५।

३—जनयत (१।७२) भाष्यम्। पूर्णसंख्या २४५।

इन उद्धरणों से विदित होता है कि ऋक्तन्त्र पर पुरा काल में कोई भाष्य ग्रन्थ लिखा गया था। उसके विषय में इससे अधिक हम कुछ नहीं जानते।

(२) अज्ञातनामा वृत्तिकार

ऋक्तन्त्र की जो वृत्ति प्रकाशित हुई है उसके कर्त्ता का नाम और देश काल आदि कुछ भी परिज्ञात नहीं है।

यह वृत्ति ऋक्तन्त्र के शिक्षात्मक प्रथम प्रपाठक पर नहीं है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

इस वृत्ति में भाष्य के अतिरिक्त निम्न आचार्यों के वचन उपलब्ध होते हैं—

१—नकुलमुख—

तद्वच्चैवाचार्यस्य नकुलमुखस्य वचनं श्रूयते—

प्रक्रमते मकारकरणेन ततो हकारादिमनुस्वारं गायति ततो मकार इति नकुलमुखः। पूर्णसंख्या ९०।

२—ऐतिकायनः— ३—नैगि[1]—

षट्त्स्वैतिकायनः, प्रकृत्या नैगिः। पूर्ण संख्या १८८।

४—जालकाक ? जानकक ?—

जालकाकेन (जानककेन–पाठा०) गरणीषु च मत्स्यकामानाहन-नांसकस्य विदिशानि सामकम्। पूर्णसंख्या ३८।

तुलना करो—हरदत्तविरचित सामसर्वानुक्रमणी—

कर्णसूत्रं[2] जालाननं स्मृतम्।

यहां 'जालानन' पाठ है। इन तीनों पाठों की पाठशुद्धि चिन्त्य है।

५—कटाहपतनीयकपिलोलान्तानां गुरुलघुतुल्यानामिति वाच्यम्। पूर्ण संख्या २२९।

इस पाठ में किसी अज्ञातनामा आचार्य का वचन उद्धृत किया है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि यह वृत्ति किसी प्राचीन ग्रन्थकार की लिखी हुई है।

विवृत्तिकार

ऋक्तन्त्र की उक्त वृत्ति पर एक विवृत्ति भी है। इसका उपयोगी अंश डा० सूर्यकान्त जी ने स्वसंपादित ऋक्तन्त्र के अन्त में छापा है। इस विवृत्ति-कार के नाम, देश, काल आदि का भी कुछ परिचय नहीं मिलता।

विवृत्तिकार की शाखा—विवृत्तिकार ने पूर्ण संख्या ५८ सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—

तेस्तकारात् परोऽनुदात्तोऽकार उदात्तमापद्यते। अस्माकं पाठः स्वरितः। तोऽघेस्तेम्॥

इस उद्धरण से प्रतीत होता है कि विवृत्तिकार की शाखा राणायनीय शाखा से भिन्न थी।

---

१. नैगि आचार्य का उल्लेख मूल ऋक्तन्त्र के "नैगिनोभयथा" (पूर्ण संख्या ५९) में भी मिलता है।

२. यह पाठ ऋक्तन्त्र के पञ्चम प्रपाठक के प्रथम सूत्र की ओर संकेत करता है।

(३) अज्ञातनामा व्याख्याता

पूर्ण संख्या ५ की पूर्वनिर्दिष्ट विवृत्ति में लिखा है—

ऋक्तन्त्रकारतद्व्याख्यातृभिः स्वरितस्योच्चनीचव्यतिरेकेण·····

यहां पर बहुवचन निर्देश से व्यक्त होता है कि विवृत्तिकार की दृष्टि में ऋक्तन्त्र की कोई अन्य वृत्ति भी थी। उसी को दृष्टि में रखकर उसने बहुवचन का प्रयोग किया है।

१५—लघु ऋक्तन्त्र

ऋक्तन्त्र के आधार पर एक लघु ऋक्तन्त्र का प्रवचन भी किसी आचार्य ने किया था। इस के प्रवक्ता का नाम अज्ञात है।

लघु ऋक्तन्त्र (मुद्रित) पृष्ठ ४६ पर पाणिनि का नामोल्लेख पूर्वक स्मरण किया है। अतः ऋक्तन्त्र का प्रवचन पाणिनि से उत्तरवर्ती है, यह स्पष्ट है।

हरदत्तीय सामसर्वानुक्रमणी का एक पाठ है—

नैगाख्यं लघुऋक्तन्त्रञ्चन्द्रिकाख्यं स्वरस्य तु।

यह पाठ विवेचनीय है।

१६—सामतन्त्र प्रवक्ता

सामवेद से संबन्ध रखनेवाला एक सामतन्त्र नाम का प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध होता है। यह छप चुका है।

सामतन्त्र का प्रवक्ता—सामतन्त्र का प्रवक्ता कौन आचार्य है, इस विषय में मतभेद है। हरदत्त ने स्वीय सामवेदीय सर्वानुक्रमणी में 'सामतन्त्रका प्रवक्ता आचार्य औदव्रजि है' ऐसा लिखा है—

सामतन्त्रं प्रवक्ष्यामि सुखार्थं सामवेदिनाम्।
औदव्रजिकृतं सूक्ष्मं सामगानां सुखावहम्॥

आचार्य औदव्रजि के विषय में ऋक्तन्त्र के प्रकरण में लिख चुके हैं। पं० सत्यव्रत सामश्रमीं ने अक्षरतन्त्र की भूमिका में लिखा है कि सामतन्त्र का प्रवचन आचार्य गार्ग्य ने किया है, ऐसी अनुश्रुति है—

सामतन्त्रं तु गार्ग्येणेति वयमुपदिष्टाः प्रामाणिकैः। पृष्ठ २।

हमारे विचार में पं० सत्यव्रत सामश्रमी की अपेक्षा हरदत्त का कथन अधिक प्रामाणिक है।

विषय—सामतन्त्र में सामगानों की योनिभूत ऋचाओं में होने वाले अक्षरविकारविश्लेष-विकर्षण-अभ्यास-विराम आदि कर्मों का विधान किया है।

भाष्यकार—भट्ट उपाध्याय

हरदत्त ने सामवेदीय सर्वानुक्रमणी में सामतन्त्र का निर्देश करके अन्त में लिखा है—

भाष्यकारं भट्टपूर्वमुपाध्यायमहं सदा।

अर्थात् सामतन्त्र का भाष्य किसी भट्ट उपाध्याय ने किया था।
इसके विषय में हमें और कुछ भी ज्ञात नहीं।

हरदत्त ने फुल्लसूत्र और उसके भाष्यकार का उल्लेख करके लिखा है—

सामतन्त्रस्य यद्भाष्यमयमेवैव चिन्तितम्।

इस पंक्ति का पाठ भ्रष्ट होने से इस का अभिप्राय अज्ञात है। पाठशुद्धि के अनन्तर इस का वास्तविक अभिप्राय ज्ञात हो सकता है। उक्त भ्रष्ट पाठ से दो बातें सूचित हो सकती हैं—

१—सामतन्त्र का भाष्य अ॰॰ नैव (पाठ मानकर) अर्थात् रामकृष्ण दीक्षित ने बनाया।

२—सामतन्त्र का भाष्य मयैव (पाठ मान कर) मैंने ही बनाया।

१७—अक्षरतन्त्रप्रवक्ता

सामवेद से सम्बन्ध रखने वाला अक्षरतन्त्र नाम का एक लघुकाय ग्रन्थ उपलब्ध होता है। इसका प्रकाशन पं॰ सत्यव्रत सामश्रमी ने चिरकाल पूर्व किया था। यह ग्रन्थ एकमात्र स्थान पर खण्डित हस्तलेख के आधार पर छपा है।

अक्षरतन्त्र का प्रवक्ता—अक्षर तन्त्र के प्रकाशक पं॰ सत्यव्रत सामश्रमी ने इसकी भूमिका में लिखा है—

ग्रन्थोऽयं ऋक्तन्त्रप्रणेतुः शाकटायनस्य समकालिकेन महामुनिना भगवता आपिशलिना प्रोक्तः। भूमिका पृष्ठ २।

अर्थात्—अक्षरतन्त्र का प्रवचन ऋक्तन्त्र प्रवक्ता शाकटायन के समकालिक महामुनि आपिशलि ने किया है।

ऐसा ही उल्लेख पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने निरुक्तालोचन पृष्ठ ११५ पर भी किया है।

अक्षरतन्त्र का विषय—अक्षरतन्त्र में सामगानों में प्रयुज्यमान स्तोभ आदि का निर्देश किया है। पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने सामतन्त्र से अक्षर-तन्त्र के विषय का भेद दर्शाते हुए लिखा है—

सामतन्त्रे खलु साम्नां योनिगता एवाक्षरविकारविश्लेषविकर्षणाभ्यासविरामादयश्चिन्तिताः। इह तु साम्नां स्तोभगता ।पातास्वरादयो वान्तपर्वादयश्च बोधिता इति भेदः। अक्षरतन्त्र की भूमिका पृष्ठ १।

वृत्तिकार

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने अक्षरतन्त्र पर एक वृत्ति भी प्रकाशित की है। इसके विषय में सामश्रमी जी ने लिखा है—

वृत्तिरनतिप्राचीनाऽपि लेखकप्रमादादित एवाद्यन्तदुष्टा दृश्यते ....'तामेव संस्कर्तुमयमारम्भः।

इस वृत्ति के आद्यन्तहीन होने से इस के लेखक आदि का कुछ भी ज्ञान नहीं होता।

१८—छन्दोग व्याकरण

सरस्वती भवन काशी के संग्रह में छन्दोगव्याकरण नाम से एक हस्तलेख निर्दिष्ट है। इसकी संख्या २०८७ है।

हमने यह हस्तलेख देखा नहीं। ऋक्तन्त्र को भी छन्दोगों (सामवेदियों) का व्याकरण कहा जाता है। अतः अधिक सम्भावना यही है कि यह हस्तलेख ऋक्तन्त्र का होगा। विशेष ज्ञान हस्तलेख के देखने पर ही हो सकता है।

इस प्रकार इस अध्याय में प्रातिशाख्य आदि वैदिक व्याकरणों के प्रवक्ता और व्याख्याताओं का वर्णन करके अगले अध्याय में व्याकरण के दार्शनिक ग्रन्थों के लेखकों का वर्णन किया जाएगा।

उनतीसवां अध्याय

व्याकरण के दार्शनिक ग्रन्थकार

यद्यपि व्याकरण शास्त्र का मूल प्रयोजन भाषा में प्रयुज्यमान शब्दों के साधुत्व असाधुत्व की विवेचना करना और भाषा को अपभ्रंश से बचाना मात्र है, तथापि जब भाषा में प्रयुज्यमान पदों के प्रयोग कारणों का चिन्तन, पदार्थ और तत्सामर्थ्य का चिन्तन किया जाता है तब व्याकरण शास्त्र दर्शन शास्त्र का रूप ग्रहण कर लेता है। इस दृष्टि से व्याकरण शास्त्र के दो विभाग हो जाते हैं। एक शब्द-साधुत्वासाधुत्व विषयक और दूसरा पद-पदार्थ-तत्सामार्थ्य चिन्तन विषयक।

इस ग्रन्थ के पूर्व २८ अध्यायों में व्याकरणशास्त्र के प्रथम विभाग के ग्रन्थों वा ग्रन्थकारों का इतिहास लिखा है। अब इस अध्याय में हम व्याकरण शास्त्र के द्वितीय विभाग अर्थात् दार्शनिक ग्रन्थों वा ग्रन्थकारों का वर्णन करते हैं।

व्याकरणशास्त्र के प्रथम विभाग का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है, परन्तु द्वितीय विभाग के इतिहास का आरम्भ अर्थात् व्याकरण शास्त्रसंबद्ध विषयों पर दार्शनिक ग्रन्थों का प्रवचन कब से आरम्भ हुआ, यह अज्ञात है। हां, पाणिनि के एक सूत्र अवङ् स्फोटायनस्य (६।१।१२३) से तथा यास्क के शब्दनित्यत्वा-नित्यत्व विचार (निरुक्त १।१) से यह अवश्य ध्वनित होता है कि व्याकरण शास्त्र का दार्शनिकरूप से चिन्तन भी पाणिनि और यास्क से बहुत पूर्व आरम्भ हो गया था।

स्फोट का निर्देश भागवत पुराण १०।८५।९ में इस प्रकार मिलता है—

दिशां त्वमवकाशोऽपि दिशः खं स्फोट आश्रयः।
नादो वर्णत्वमोङ्कार आकृतीयं पृथक् कृतिः॥

व्याकरण शास्त्र के उपलब्ध दार्शनिक ग्रन्थों में प्रायः निम्न विषयों पर विचार किया गया है—

१—भाषा की उत्पत्ति
२—शब्द की अभिव्यक्ति
३—शब्द के दोरूप स्फोट और ध्वनि
४—अपभ्रंश के कारण
५—पदमीमांसा
६—वाक्यमीमांसा
७—धात्वर्थ
८—लकारार्थ

९—प्रातिपदिकार्थ
१०—सुवर्थ
११—समासशक्ति
१२—शब्द शक्ति
१३—निपातार्थ
१४—स्फोट
१५—क्रिया
१६—काल
१७—लिङ्ग
१८—संख्या
१९—उपग्रह

सम्प्रति व्याकरण शास्त्र सम्बन्धी जो दार्शनिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें अधिक संख्या स्फोट विषयक ग्रन्थों की ही है।

१—स्फोटायन (३२०० वि० पूर्व)

स्फोटायन आचार्य का उल्लेख पाणिनि ने अवङ् स्फोटायनस्य (६।१।१२३) सूत्र में साक्षात् रूप से किया है।

पदमञ्जरीकार हरदत्त ने काशिका ६।१।१२३ की टीका में स्फोटायन शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—

स्फोटोऽयनं परायणं यस्य स स्फोटायनः स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः। ये त्वौकारं पठन्ति ते नडादिषु अश्वादिषु वा (स्फोटशब्दस्य) पाठं मन्यन्ते।

इस व्याख्या के अनुसार प्रथम पक्ष में स्फोटायन आचार्य वैयाकरणों के स्फोट तत्त्व का प्रथम उपज्ञाता प्रतीत होता है। इस पक्ष में इस आचार्य का वास्तविक नाम अज्ञात है। द्वितीय पक्ष में (सूत्र में 'स्फौटायनस्य' पाठ मानने पर) इसके पूर्वज का नाम **स्फोट** था। यह नाम भी स्फोट तत्त्व-उपज्ञाता होने से प्रसिद्ध हुआ होगा।

इस आचार्य के काल आदि के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ१२६-१२८ (प्र० सं०) पर निर्देश कर चुके हैं।

विशेषनिर्देश—भरद्वाज मुनि कृत विमानशास्त्र की बौधायन वृत्ति में स्फोटायन का नाम मिलता है। उस का पाठ है—

तत्र तावच्छौनकसूत्रम्.........चित्रिण्येवेति स्फोटायनः।[1]

इस पर बौधायन वृत्ति में लिखा है—

१—द्र० 'शिल्पसंसार' पत्रिका १९ फरवरी सन् १९५५ का अंक पृष्ठ १२२ स्वामी ब्रह्ममुनि प्रकाशित बृहद् विमानशास्त्र पृष्ठ ७४।

तदुक्तं शक्तिसर्वस्वे—वैमानिकगतिवैचित्र्यादिद्वात्रिंशति क्रियायोग एकैव चित्रिणी शक्त्यलमिति शास्त्रे निर्णीतं भवतीत्यनुभवतः शास्त्राच्च मन्यते स्फोटायनाचार्यः।

इस उद्धरण से विदित होता है कि स्फोटायन आचार्य पाणिनि से पूर्ववर्ती शौनक आदि से भी पूर्वकालीन है। तदनुसार स्फोटायन का काल लगभग ३२०० वि० पूर्व अवश्य होना चाहिए।

इससे अधिक इस आचार्य के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

२—औदुम्बरायण (३१०० वि० पूर्व)

स्फोटसिद्धि के लेखक भरत मिश्र ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में लिखा है—

भगवदौदुम्बरायणाद्युपदिष्टा खण्डभावमपि व्यञ्जनारोपितनान्तरीयकभेदक्रमविच्छेदादिनिविष्टैः परैः एकाकारनिर्भासम् अन्यथा सिद्धिकृत्य अर्थधीहेतुतां चान्यत्र संवार्य भगवदौदुम्बरादीनपि भगवदुपवर्षादिभिर्निमायापलपितम्"..... । पृष्ठ १।

इस वचन से प्रतीत होता है कि भगवान् औदुम्बरायण ने शब्द के अखण्ड भाव का अर्थात् स्फोटात्मकता का उपदेश किया था।

परिचय—औदुम्बरायण शब्द में श्रुत तद्धित प्रत्यय से विदित होता है कि औदुम्बरायण आचार्य के पिता का नाम उदुम्बर था। उदुम्बर शब्द पाणिनि के नडादिगण (४।१।९९) में पठित है। उससे फक् = आयन प्रत्यय होकर औदुम्बरायण पद निष्पन्न होता है।

काल—औदुम्बरायण आचार्य का उल्लेख निरुक्तकार यास्क ने निरुक्त १।१ में किया है। यास्क का काल विक्रम से ३१०० वर्ष पूर्व अर्थात् भारत युद्ध के लगभग सर्वथा निश्चित है। इसलिए औदुम्बरायण का काल ३१०० वर्ष विक्रम पूर्व अथवा उससे कुछ पूर्व रहा होगा।

निरुक्तकार का निर्देश—यास्क ने निरुक्त १।१ में लिखा है—

इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः।

---

१. द्र० टिप्पणी पृ० ३४३।

अर्थात्—वचन (शब्द) इन्द्रिय में नियत है, इन्द्रिय से अतिरिक्त शब्द की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं अर्थात् शब्द अनित्य है, ऐसा औदुम्बरायण आचार्य का मत है।

भरतमिश्र के पूर्व निर्दिष्ट वचन से विदित होता है कि औदुम्बरायण आचार्य शब्द के स्फोट स्वरूप का अर्थात् नित्यत्व का प्रतिपादक था, परन्तु यास्क के वचनानुसार यह शब्द के अनित्यत्व पक्ष का निर्देशक विदित होता है। इन में से यास्क का वचन ही अधिक प्रमाण है।

दोनों पक्षों में भूतल-आकाश का अन्तर होने पर भी दोनों वचनों से इतना तो स्पष्ट है कि औदुम्बरायण आचार्य ने शब्द के नित्यत्व-अनित्यत्व पर अवश्य विचार किया था

इस से अधिक हम इस आचार्य के ग्रन्थ तथा काल आदि के विषय में कुछ नहीं जानते।

३—व्याडि

आचार्य व्याडि ने जो प्राचीन वाङ्मय में दाक्षायण के नाम से प्रसिद्ध है, संग्रह नाम के एक व्याकरण संबन्धी दार्शनिक ग्रन्थ का प्रवचन किया था। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने—

शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः (२।३।६६)।

शब्दों द्वारा इस संग्रहग्रन्थ की प्रशंसा की है।

संग्रह ग्रन्थ अप्राप्य है। इसमें किस प्रकार के विषयों का प्रतिपादन था, इसका परिज्ञान महाभाष्य के निम्न उद्धरण से होता है—

संग्रहे तावत्प्राधान्येन परीक्षितम्—नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति। तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यप्युक्तानि। तत्र त्वेष निर्णयः—यद्येव नित्योऽथापि कार्य उभयथा लक्षणं प्रवर्त्यम्। १।१।१॥

अर्थात्—संग्रह में 'शब्द नित्य है अथवा अनित्य' इस विषय पर विचार किया गया था।

इसी प्रकार संग्रह के जो उद्धरण विभिन्न ग्रन्थों में मिलते हैं उनसे भी स्पष्ट होता है कि संग्रह वाक्यपदीय के समान व्याकरण का दार्शनिक ग्रन्थ था।

भर्तृहरि ने महाभाष्य की टीका में लिखा है—

चतुर्दश सहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे (परीक्षितानि)।

हमारा हस्तलेख, पृष्ठ २३।

अर्थात् संग्रह ग्रन्थ में १४ सहस्र विषयों की परीक्षा थी।

नागेश के मतानुसार संग्रह ग्रन्थ का परिमाण एकलक्ष श्लोक था—

संग्रहो व्याडिकृतो लक्षश्लोकसंख्यो ग्रन्थ इति प्रसिद्धिः। उद्योत नवा० निर्णयसागर सं०, पृ० ५५

व्याडि के परिचय तथा देश, काल आदि के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग १९४–२०८ (प्र० सं०) तक विस्तार से लिख चुके हैं।

संग्रह वचन—पृष्ठ २०२-२०४ तक संग्रह के १४ वचन संगृहीत कर चुके हैं। उसके पश्चात् संग्रह के निम्न वचन और उपलब्ध हुए हैं—

१—यस्त्वन्यस्य प्रयोगेण यत्नादिव नियुज्यते।
तमप्रसिद्धं मन्यन्ते गौणार्थाभिनिवेशिनम्॥[1]

२—शब्दे तां जातिं शब्दमेवार्थजातौ जातिः शुक्लादौ द्रव्यशब्दे गुणं कृत्तत्संयोगं योगिचाभिन्नरूपं[2] वाच्यं वाच्येषु त्वादयो बोधयन्ति।[3] शृंगारप्रकाश पृष्ठ ४६।

३—किं कार्यः शब्दोऽथ नित्य इति।[4] भर्तृ० महा० टीका पृष्ठ ३०।

४—असति प्रत्यक्षाभिमाने[5].........। स्याद्वादरत्नाकर॥ पृष्ठ १०७६।

५—काश्यपस्तु आत्वपक्षे दिदासते इत्येके इत्युक्त्वा संग्रह इत्व-व्यतिरिक्तस्य घुकार्यस्योक्तत्वाद् इस्भाव उपदित्सत इत्याह। धातुवृत्ति, पृष्ठ २८७, काशी सं०।

१—गौणार्थस्य स्वरूपमप्याह—वाक्य० कां० २, श्लोक २९८ की उत्थानिका, पुण्यराज की। तुलना करो—श्लोक २९७ की उत्थानिका से।

२. 'कृत्तत् संयोगं योगिनाभिन्नरूपम्' पाठान्तर, पृष्ठ ४७ पर।

३—द्र० इस उद्धरण की उत्थानिका–'यदाह यस्य गुणस्य हि भावन् द्रव्ये शब्दनिवेशः, स तस्य भावः, तदभिधाने त्वतलौ। तस्योपसंग्रहाय संग्रहकारः पठति—शब्दे तां...।

४—द्र० इस उद्धरणकी उत्थानिका—एवं संग्रह एतत् प्रस्तुतम्–किं नित्य...।

५—द्र० इस उद्धरण की उत्थानिका—एवं च यदाह व्याडिः–असति...।'

इन पांच उद्धरणों में चतुर्थ उद्धरण अधूरा है। हमने संकेतार्थ इतना ही पाठ लिख लिया था, परन्तु इस समय स्याद्वादरत्नाकर ग्रन्थ के वर्तमान न होने से पूरा पाठ नहीं दे सके। पांचवें उद्धरण में संग्रह का मत निर्दिष्ट है और उसका स्वशब्द में संकलन है।

इस प्रकार १४ पूर्व निर्दिष्ट और ५ ये इस समय निर्दिष्ट उद्धरणों को मिला कर हम संग्रह के १९ उद्धरण अभी तक संकलित कर पाए हैं। प्रयत्न करने पर संग्रह के अन्य अनेक उद्धरण उपलब्ध किए जा सकते हैं।

४—पतञ्जलि (२००० विक्रम पूर्व)

पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी तथा उस पर लिखे गए कात्यायनीय वार्त्तिकों को आश्रय करके महाभाष्य नामा एक अनुपम ग्रन्थ लिखा है। यद्यपि ग्रन्थ को आपाततः देखने पर यह पाणिनीय अष्टाध्यायी की व्याख्यामात्र विदित होता है, परन्तु इस ग्रन्थ का इतना ही स्वरूप नहीं है—यह न केवल पाणिनीय शब्दानुशासन का अपितु प्राचीन व्याकरण सम्प्रदाय मात्र का एक आकर ग्रन्थ है। व्याकरण दर्शन के समस्त न्याय इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में यत्र तत्र विद्यमान हैं। शब्दशास्त्र का अद्वितीय विद्वान् भर्तृहरि लिखता है—

> कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
> सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥

वाक्य काण्ड २, श्लोक ४८५॥

इसकी व्याख्या में पुण्यराज लिखता है—

तच्च भाष्यं न केवलं व्याकरणस्य निबन्धनम्, यावत् सर्वेषां न्यायबीजानां बोद्धव्यमित्यत एव सर्वन्यायबीजहेतुत्वादेव महच्छब्देन विशेष्य महाभाष्यमित्युच्यते लोके।

अर्थात् भाष्य केवल व्याकरण का ग्रन्थ नहीं है, उसमें सभी न्याय बीजों का निबन्धन है। इसीलिए उसे महत् शब्द से विशेषित करके महाभाष्य कहते हैं।

भर्तृहरि पुनः लिखता है—

आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकञ्चुके। काण्ड २, श्लोक ४८८॥

इस वचन में भर्तृहरि ने महाभाष्य के लिए 'संग्रहप्रतिकञ्चुक' शब्द का व्यवहार किया है। इससे स्पष्ट है कि पातञ्जल महाभाष्य संग्रह के समान शब्द-शास्त्र का दार्शनिक ग्रन्थ है। भर्तृहरि विरचित वाक्यपदीय ग्रन्थ का यही एक

मात्र आधार ग्रन्थ है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि के देश काल आदि के विषय में हम इस ग्रन्थ के १०वें अध्याय में विस्तार से लिख चुके हैं। इस अध्याय में पृष्ठ २४८ (प्र० सं०) में महाभाष्यकार पतञ्जलि का काल १२०० वि० पूर्व लिखा है, परन्तु अब अनेक ठोस प्रमाणों से यह निश्चित होता है कि पतञ्जलि का काल विक्रम से न्यूनातिन्यून २००० दो सहस्र वर्ष पूर्व अवश्य है। इस काल गणना पर तथा पुष्यमित्र की समकालिकता निदर्शक वचनों पर हम विशेष विचार इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के द्वितीय संस्करण में (यह परिवर्धित संस्करण शीघ्र प्रकाशित होगा) विस्तार से करेंगे।

५—भर्तृहरि (सं० ४५० से पूर्व)

भर्तृहरि ने महाभाष्य का सूक्ष्म दृष्टि से आलोडन करके और अपने गुरु वसुरात द्वारा उपदिष्ट व्याकरणागम के आधार[1] पर वाक्पदीय नामा व्याकरण शास्त्रसंबद्ध एक अति महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ तीन काण्डों में विभक्त है। वे क्रमशः आगम, वाक्य और पद अथवा प्रकीर्ण नाम से प्रसिद्ध हैं।

वाक्यपदीय नाम—वाक्यपदीय नाम से कई प्राचीन ग्रन्थकार तीनों काण्डों का निर्देश मानते हैं। वाक्यपदीय संज्ञा से भी इसी अभिप्राय की पुष्टि होती है।[1] वाक्य और पद को अधिकृत करके जो ग्रन्थ लिखा जाए वह वाक्यपदीय कहाता है। प्रथम ब्रह्मकाण्ड में अखण्ड वाक्य स्वरूप स्फोट का विचार है। द्वितीय काण्ड वाक्यविचारात्मक है और तृतीय काण्ड पद विषयक है।

अनेक ग्रन्थकार वाक्यपदीय शब्द से केवल प्रथम द्वितीय काण्डों का निर्देश करते हैं। यथा—

१—प्रकीर्ण काण्ड ३।१५४ की व्याख्या में हेलाराज लिखता है—

इति निर्णीतं वाक्यपदीये।[1]

२—वही पुनः प्रथम काण्ड के विषय में लिखता है—

विस्तरेणागमप्रामाण्यं वाक्यपदीयेऽस्माभिः प्रथमकाण्डे शब्द-

---

१. वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड के सम्पादक पं० चारुदेव जी का यह मत है। द्र० भूमिका पृष्ठ ७८।

प्रभायां निर्णीतम् तत एवावधार्यम् इति ।[1]

३—गणरत्नमहोदधिकृत् वर्धमान अपने ग्रन्थ के आरम्भ में लिखता है—

भर्तृहरिर्वाक्यपदीयप्रकीर्णयोः कर्ता महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च।

४—कई एक हस्तलेखों में द्वितीय काण्ड के अन्त में इस प्रकार लेख मिलता है—

इति भगवद्भर्तृहरिकृते वाक्यपदीये द्वितीयं काण्डम्। समाप्ता वाक्यपदीयकारिका ।[2]

यही कारण है कि तृतीय काण्ड स्वतन्त्र प्रकीर्ण नाम से व्यवहृत होता है। हेलाराजीय तृतीय काण्ड की व्याख्या का नाम भी प्रकीर्ण प्रकाश इसी मत का पोषक है।

स्वमत—हमारा मत इन दोनों से पृथक् है। हमारा विचार है कि वाक्यपदीय नाम केवल द्वितीय काण्ड का है। इस काण्ड के आरम्भ में वाक्य विचार है और उसके अनन्तर पद विचार किया गया है। इस प्रकार तीनों काण्डों के तीन नाम हैं—आगम काण्ड, वाक्यपदीय काण्ड, प्रकीर्ण काण्ड। इसी मत की पुष्टि हेलाराज के निम्न श्लोक से होती है—

त्रैलोक्यगामिनी येन त्रिकाण्डी त्रिपदी कृता।

अर्थात् त्रैलोक्यगामिनी (गङ्गा के समान) जिस ने तीन काण्डों वाली त्रिपदी बनाई।

इस वचन में हेलाराज ने त्रिकाण्डी वाक्यपदीया नहीं लिखा अपितु उसने त्रिपदी विशेषण दिया इसका अर्थ है तीन पदोंवाली = तीन पदों से व्यवहार की जाने वाली त्रिकाण्डी। वे तीन पद कौन से हैं? इस के विचार उपस्थित होने पर ब्रह्म और प्रकीर्ण पद वाच्य आद्यन्त दो काण्ड प्रसिद्ध हैं, मध्य काण्ड की कोई संज्ञा प्रसिद्ध नहीं है, वह संज्ञा 'वाक्यपदीय' रूप ही है। इसी दृष्टि से त्रिपदी विशेषण सार्थक हो सकता है, अन्यथा कथमपि संबद्ध नहीं होता। इस दृष्टि से देहलीदीप-न्याय से मध्य पठित वाक्यपदीय नामक काण्ड से आद्यन्त काण्डों का भी व्यवहार लोक में होता है। हम भी इस प्रकरण में तीनों काण्डों के लिए सामान्य रूप से वाक्यपदीय शब्द का ही व्यवहार करेंगे।

१. श्री पं० चारुदेव सम्पादित ब्रह्मकाण्ड की भूमिका पृष्ठ ८।

२. द्र० वही, पृष्ठ ८।

पं० चारुदेव जी की भूल—ब्रह्मकाण्ड के सम्पादक पं० चारुदेव जी ने हेलाराज के उपरिनिर्दिष्ट **त्रैलोक्यगामिनी येन त्रिकाण्डी त्रिपदी कृता** वचन से तीनों काण्डों का सामान्य नाम वाक्यपदीय स्वीकार किया है, यह चिन्त्य है। इससे तीन काण्डात्मक ग्रन्थैकत्व का तो बोध होता है परन्तु तीनों काण्ड वाक्यपदीय पदवाच्य हैं यह कथमपि संकेतित नहीं होता, अपितु इसके विपरीत त्रिपदी विशेषण तीनों काण्डों की तीन विभिन्न संज्ञाओं का संकेत करता है।

वाक्यपदीय का कर्ता—वाक्यपदीय ग्रन्थ का रचयिता आचार्य भर्तृहरि है। इसमें किसी को भी कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। इतना होते हुए भी कतिपय कारिकाएं भर्तृहरि विरचित नहीं हैं। भर्तृहरि ने प्रकरणानुरोध से प्राचीन आचार्यों की भी कतिपय कारिकाएं कहीं-कहीं संगृहीत कर दी हैं।[1]

वाक्यपदीय-ग्रन्थपाठ—वाक्यपदीय का जो पाठ सम्प्रति उपलब्ध होता है उसमें कुछ ग्रन्थ नष्ट हो गया है। इस की पुष्टि निम्न प्रमाणों से होती है—

१—भर्तृहरि वाक्य० २।७६ कारिका की स्वोपज्ञ व्याख्या में लिखता है—

तत्र द्वादश षट् चतुर्विंशतिर्वा लक्षणानीति लक्षणसमुद्देशे सापदेशं सविरोधं विस्तरेण व्याख्यास्यते।

अर्थात्—१२-६-२४ लक्षणों की लक्षणसमुद्देश में विस्तार से व्याख्या की जाएगी।

सम्प्रति उपलब्ध त्रिकाण्डी में **लक्षणसमुद्देश** उपलब्ध नहीं होता। यह समुद्देश पुण्यराज के काल में ही नष्ट हो गया था। वह इसी प्रसंग में (२।७७-८३) की व्याख्या में लिखता है—

एतेषां वितत्य सोपपत्तिकं सनिदर्शनं स्वरूपं पदकाण्डे लक्षणसमुद्देशे निर्दिष्टमिति ग्रन्थकृतैव स्ववृत्तौ प्रतिपादितम्। आगमभ्रंशालेखकप्रमादादिना वा लक्षणसमुद्देशश्च पदकाण्डमध्ये न प्रसिद्धः। पृष्ठ ४६ लाहौर संस्क०।

अर्थात्—इन लक्षणों का सोपपत्ति सोदाहरण स्वरूप लक्षणसमुद्देश में निदर्शित किया है ऐसा ग्रन्थकार ने ही अपनी वृत्ति में लिखा है परन्तु आगम के भ्रंश होने अथवा लेखकप्रामादादि के कारण लक्षणसमुद्देश तृतीय काण्ड में नहीं मिलता।

---

१. द्र० ब्रह्मकाण्ड, चारुदेवीय भूमिका पृष्ठ ९,१०।

२—उक्त प्रकरण में (पृष्ठ ५० लाहौर सं०) ही पुण्यराज लिखता है—

सेयमपरिमाण विकल्पा बाधा विस्तरेण बाधासमुद्देशे समर्थयिष्यते ।

अर्थात्—इस अपरिमाण (=बहुत प्रकार की) विकल्पों वाली बाधा का विस्तार से 'बाधासमुद्देश' में वर्णन किया जाएगा।

पुण्यराज के इस वचन से स्पष्ट है कि उस के काल में वाक्यपदीय में कोई बाधा समुद्देश विद्यमान था, परन्तु यह सम्प्रति अनुपलब्ध है।

३—अनेक ग्रन्थकारों ने भर्तृहरि अथवा हरि के नाम से अनेक कारिकाएं उद्धृत की हैं। वे वर्तमान वाक्यपदीय ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होतीं। यथा—

भट्टोजिदीक्षित शब्दकौस्तुभ पृष्ठ ५२७ में प्रकीर्णकाण्ड के नाम से भर्तृहरि की—अपाये यदुदासीनम्'.....'तथा पततो ध्रुव एवाश्वः'............ कारिकाएं उद्धृत करता है, परन्तु सम्प्रति वाक्यपदीय में ये कारिकाएं उपलब्ध नहीं होतीं।

भर्तृहरि का देशकाल आदि—भर्तृहरि के देश काल आदि के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ २५६-२७० (प्र० सं०) तक विस्तार से लिख चुके हैं। अतः इस विषय में पाठक वहीं देखें।

वाक्यपदीय के व्याख्याता

(१) भर्तृहरि

भर्तृहरि ने स्वयं अपने वाक्यपदीय ग्रन्थ की विस्तृत स्वोपज्ञ व्याख्या लिखी है।

स्वोपज्ञ व्याख्या का परिमाण—भर्तृहरि की स्वोपज्ञ व्याख्या कितने भाग पर थी यह कहना कठिन है, तथापि हेलाराज के

काण्डद्वये यथावृत्ति सिद्धान्तार्थसतत्त्वतः ।

वचन से इतना व्यक्त है कि हेलाराज के समय दो काण्डों पर स्वोपज्ञवृत्ति उपलब्ध थी। सम्प्रति प्रथम काण्ड की यह वृत्ति पूर्ण उपलब्ध है और द्वितीय काण्ड की मध्य-मध्य में त्रुटित है।

क्या तृतीय काण्ड पर भी थी—भर्तृहरि ने वाक्यपदीय २।२४ की स्वोपज्ञ व्याख्या में लिखा है—

कालस्यैव चोपाधिविशिष्टस्य परिमाणत्वात् कुतोऽस्वापरं परिमाणमित्येतत् कालसमुद्देशे व्याख्यास्यते। लाहौर संस्क० पृष्ठ २०।

इस पङ्क्ति से सन्देह होता है कि हरि की स्वोपज्ञ व्याख्या तृतीय काण्डपर भी रही होगी।

सम्पादन—इस वृत्ति का सम्पादन पं० चारुदेव जी ने किया है और यह रामलाल कपूर ट्रस्ट लाहौर (वर्तमानमें-अमृतसर) से प्रकाशित हुई है। प्रथम काण्ड वृषभदेव की टीका सहित छपा है। द्वितीय काण्ड का मुद्रण भी प्रथम काण्ड के प्रकाशन के अनन्तर सन् १९३५ में आरम्भ हो गया था, परन्तु किन्हीं कारणों से १८४ कारिका तक छप कर रह गया। इस भाग में स्वोपज्ञ टीका के खण्डित होने के कारण पुण्यराज की टीका भी साथ में छापी गई है। १८४ तक का १९३५ में छपा भाग १९४१ में कथंचित् प्रकाशित किया गया।

१८४ कारिका से आगे के भाग के प्रकाशन के लिए मैंने सन् १९४६ में लाहौर पुनः जाने पर श्री पं चारुदेव जी से अनेक बार निवेदन किया। दो तीन बार यह अनुरोध भी किया कि यदि आप न कर सकें तो हस्तलेख ही मुझे लाकर दे देवें मैं कथंचित् सम्पादन करके ग्रन्थ को पूर्ण कर दूंगा, परन्तु कुछ अस्वस्थतावश और कुछ आलस्यवश आपने मुझे ग्रन्थ ही लाकर नहीं दिया। इसका फल यह हुआ कि ग्रन्थ अधूरा ही रह गया। द्वितीय काण्ड का स्वोपज्ञ वृत्ति का एक मात्र हस्तलेख पञ्जाब विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में था जो पाकिस्तान में रह गया। अब इस ग्रन्थ का पूरा होना अशक्य है।

स्वोपज्ञ व्याख्या के नाम—भर्तृहरि की स्वोपज्ञ व्याख्या का निर्देश टीकाकारों ने अनेक नामों से किया है। यथा—

वृत्ति—ग्रन्थकृतैव स्ववृत्तौ प्रतिपादितम्।[1]
विवरण—कारिकोपन्यासफलं स्वयमेव वि रणे दर्शयिष्यति।[2]
टीका—……पदवादिपक्षदूषणपरः परं टीकाकारो व्यवस्थापयतीत्यस्य काण्डस्य संक्षेपः।[3]

---

१. पुण्यराजीय टीका, लाहौर संस्क०, पृष्ठ ४६।
२. वृषभदेव टीका, काण्ड १, लाहौर संस्क०, पृष्ठ १३३।
३. पुण्यराजीय टीका, लाहौर संस्क०, पृष्ठ ७।

......तथा च टीकाकारः प्रदर्शयिष्यति।[1]

भाष्य—तत्र श्लोकोपात्तं दृष्टान्तं विभज्य दार्ष्टान्तिकं भाष्यं विभजन्ति वर्णपदेति।[2]

दो पाठ—हरि की स्वोपज्ञ वृत्ति का जो पाठ पं० चारुदेव जी ने सम्पादित किया है उसके अतिरिक्त एक पाठ काशी संस्करण में मुद्रित हुआ है। दोनों में पाठ की समानता और प्रथम की अपेक्षा काशीपाट में लाघव होने से व्यवहार के लिए इसका नाम लघ्वी वृत्ति रखा गया है।

लघ्वी वृत्ति का रचयिता—इस लघ्वीवृत्ति का रचयिता निश्चय ही हरि से भिन्न व्यक्ति है। पं० चारुदेव जी ने ब्रह्मकाण्ड की भूमिका में पृष्ठ १८-२६ तक अनेक प्रमाण देकर इस तत्त्व का प्रतिपादन किया है।

वृत्ति के व्याख्याकार

भर्तृहरि की ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञवृत्ति की अनेक वैयाकरणों ने व्याख्याएं लिखी थीं। स्वोपज्ञवृत्ति का व्याख्याता वृषभदेव टीका के आरम्भ में लिखता है—

यद्यपि टीका बह्वयः पूर्वाचार्यैः सुनिर्मिला रचिताः।[3]

पुनः कारिका १।१० की वृत्ति की व्याख्या में वृषभदेव लिखता है—

ज्ञानं च संस्कारश्चेति। वृत्तिव्याख्याता षष्ठीसमासमाह।[4]

इन पूर्वाचार्य कृत व्याख्याओं में से न तो किसी का ग्रन्थ ही उपलब्ध है और न ही किसी का नाम ज्ञात है।

वृषभदेव

वृषभदेव ने अपनी टीका के आरम्भ में निम्न श्लोक लिखे हैं—

विमलचरितस्य राज्ञो विदुषः श्रीविष्णुगुप्तदेवस्य।

---

१. वही, पृष्ठ १०।
२. वृषभदेव टीका, लाहौर संस्क० पृष्ठ ८४।
३. ब्रह्मकाण्ड लाहौर संस्क० भूमिका पृष्ठ १२।
४. वही, पृष्ठ २२।

भृत्येन तदनुभावाच्छ्रीदेवयशस्तनूजेन ।
बन्धेन विनोदार्थं श्रीवृषभेण स्फुटाक्षरं नाम ॥[१]

इससे केवल इतना ज्ञात होता है कि वृषभदेव विमलचरित वाले विष्णु गुप्त राजा के आश्रित श्रीदेवयश का पुत्र था।

विष्णुगुप्त के काल का निश्चय न होने से वृषभदेव का काल भी अज्ञात है।

(२) धर्मपाल (८ वीं शती का प्रथम चरण)

चीनी यात्री इत्सिंग के लेख से विदित होता है कि भर्तृहरि के प्रकीर्ण नामक तृतीय काण्ड पर धर्मपाल ने व्याख्या लिखी थी।

इत्सिंग ने अपना यात्रा वर्णन सं० ७४९ में लिखा है। इस प्रकार वाक्यपदीय व्याख्याता धर्मपाल का काल विक्रम की आठवीं शती का प्रथम चरण अथवा उस से पूर्व रहा होगा।

इससे अधिक इसके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

(३) पुण्यराज (वि० ११ वीं शती)

वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड पर पुण्यराज ने एक अनतिविस्तीर्ण परन्तु स्फुटार्थक व्याख्या लिखी है।

परिचय—पुण्यराज ने द्वितीय काण्ड की व्याख्या के अन्त में अपना जो अति संक्षिप्त परिचय दिया है उससे ज्ञात होता है कि पुण्यराज का दूसरा नाम राजानक शूरवर्मा था। यह काश्मीर का निवासी था। इसने किसी शशाङ्क के शिष्य से वाक्यपदीय का श्रवण (अध्ययन) करके इस काण्ड पर वृत्ति लिखी है।

शशाङ्क—पुण्यराज स्मृत आचार्य शशाङ्क का पूर्णनाम भट्ट शशाङ्कधर है। पदेषु पदैकदेशान् न्याय के अनुसार पुण्यराज ने पूर्वार्ध शशाङ्क पद का ही प्रयोग किया है।

भट्ट शशाङ्कधर का एक वचन क्षीरस्वामी ने भी इस प्रकार उद्धृत किया है—

---

१. वही, भूमिका, पृष्ठ १२।

भट्टशशाङ्कधरस्त्वत्रैवं गुरुमुष्टिं समादिक्षत्, यदाह—द्विरूपो धात्वर्थः, भावः क्रिया च।[1]

शशाङ्क-शिष्य—भट्ट शशाङ्कधर के अनेक शिष्य रहे होंगे उनमें से किस शिष्य से पुण्यराज ने वाक्यपदीय का अध्ययन किया यह विशेष निर्देशाभाव में कहना कठिन है। वाक्यपदीय के सम्पादक पं० चारुदेव शास्त्री ने ब्रह्मकाण्ड के उपोद्घात पृष्ठ १३ पर वामनीय अलङ्कार शास्त्र पर टीका लिखने वाले शशाङ्कधर के शिष्य सहदेव को पुण्यराज का गुरु स्वीकार किया है। यह कल्पना उपपन्न हो सकती है।

इस प्रकार पुण्यराज का काल विक्रम ११ वीं शती अथवा उससे कुछ पूर्व मानना चाहिए।

(४) हेलाराज (११ वीं शती वि०)

हेलाराज ने वाक्यपदीय के तीनों काण्डों पर व्याख्या लिखी थी। परन्तु सम्प्रति केवल तृतीय काण्ड ही उपलब्ध होता है।

परिचय—हेलाराज ने तृतीय काण्ड के अन्त में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

मुक्तापीड इति प्रसिद्धिमागमत् कश्मीरदेशे नृपः
श्रीमान् ख्यातयशा बभूव नृपतेस्तस्य प्रभावानुगः।
मन्त्री लक्ष्मण इत्युदार चरितस्तस्यान्ववाये भवो
हेलाराज इमं प्रकाशमकरोच्छ्रीभूतिराजात्मजः॥

इस उल्लेख से विदित होता है कि काश्मीर के महाराज मुक्तापीड के मन्त्री लक्ष्मण के कुल में हेलाराज का जन्म हुआ था और हेलाराज के पिता का नाम श्री भूतिराज था।

काल—लक्ष्मण और भूतिराज में कितनी पीढ़ी का अन्तर है, यह अज्ञात है। इसकारण हेलाराज का निश्चित काल जानना कठिन है। अभिनव गुप्त ने स्वीय गीताभाष्य में भूतिराज के पुत्र भट्ट इन्दुराज को अपना गुरु कहा है। यह भूतिराज हेलाराज के पिता भूतिराज से भिन्न था अथवा अभिन्न यह कहना कठिन है। यदि दोनों एक हों तो भट्ट इन्दुराज हेलाराज का भाई

१. रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर द्वारा प्रकाशित संस्क० पृष्ठ ७।

होगा। इस प्रकार हेलाराज का काल विक्रम की ११ वीं शती का आरम्भ माना जा सकता है।

कल्हण ने अपनी राजतरङ्गिणी में काश्मीर के राजाओं की चरितावली लिखने वाले हेलाराज द्विजन्मा को स्मरण किया है। यह हेलाराज वाक्यपदीय के व्याख्याता हेलाराज से भिन्न है अथवा अभिन्न इस विषय में भी कुछ निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जासकता। अधिक सम्भावना यही है कि दोनों एक ही व्यक्ति हों।

हेलाराजीय व्याख्याः—हेलाराज ने तृतीय काण्ड के आरम्भ में लिखा है—

काण्डद्वये यथावृत्ति सिद्धान्तार्थसतत्त्वतः।

इससे विदित होता है कि हेलाराज ने वाक्यपदीय के प्रथम और द्वितीय काण्ड पर भर्तृहरि की स्वोपज्ञ वृत्ति के अनुसार कोई व्याख्या लिखी थी। इसकी प्रथम काण्ड की व्याख्या का नाम शब्दप्रभा था। वह स्वयं लिखता है—

विस्तरेणागमप्रामाण्यं वाक्यपदीयेऽस्माभिः प्रथमकाण्डे शब्दप्रभायां निर्णीतमिति तत एवावधार्यम्।[1]

प्रथम द्वितीय काण्ड व्याख्या की अनुपलब्धिः—हेलाराज कृत वाक्यपदीय के प्रथम और द्वितीय काण्ड की व्याख्या सर्वथा अप्राप्य हो चुकी है।

तृतीय काण्ड व्याख्या में ग्रन्थपातः—तृतीय काण्ड की जो व्याख्या उपलब्ध होती है उसमें भी कई स्थानों में ग्रन्थपात उपलब्ध होता है। हेलाराज की व्याख्या जिस हस्तलेख के आधार पर छपी है उसमें दो स्थानों पर लिपिकर ने लिखा है—

इतो ग्रन्थपातसन्धानाय फुल्लराजकृतिर्लिख्यते।

इहापि पतितग्रन्था हेलाराजकृतिः फुल्लराजकृत्या सन्धीयते।

(५) फुल्लराज

फुल्लराज नाम के किसी विद्वान् ने वाक्यपदीय पर कोई टीका लिखी थी, यह उपरि निर्दिष्ट दो उद्धरणों से स्पष्ट है। फुल्लराज ने वाक्यपदीय के तीनों

---

१. श्री पं० चारुदेवजी द्वारा ब्रह्मकाण्ड के उपोद्घात पृष्ठ १५ पर निर्दिष्ट।

काण्डों पर वृत्ति लिखी अथवा तृतीय काण्ड मात्र पर, यह अज्ञात है। फुल्लराज के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है।

विशेष—वाक्यपदीय के व्याख्याकारों के विषय में हमने जो कुछ लिखा है उसका प्रधान आधार चारुदेव शास्त्री लिखित ब्रह्मकाण्ड का उपोद्धात है।

६—मण्डन मिश्र (वि०सं० ६९५ से पूर्व)

मण्डन मिश्र ने 'स्फोटसिद्धि' नाम का एक प्रौढ़ ग्रन्थ लिखा है। इसमें ३६ कारिकाएं हैं, उन पर उसकी अपनी व्याख्या है।

परिचय—शाङ्कर दिग्विजय आदि ग्रन्थों के अनुसार मण्डन मिश्र भट्ट कुमारिल के शिष्य थे। इनकी पत्नी का नाम भारती था। शङ्कराचार्य का इनके साथ घोर शास्त्रार्थ हुआ। उस में भारती ने मध्यस्थता की। मण्डन मिश्र के पराजित होने पर भारती ने शङ्कर से स्वयं शास्त्रार्थ किया। अनुश्रुति के अनुसार उसने शङ्कर को कामशास्त्र सम्बन्धी प्रकरण में निरुत्तर कर दिया। शङ्कर ने कुछ अवधि लेकर किसी सद्योमृत राजा के शरीर में प्रवेश करके कामशास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर पुनः भारती से शास्त्रार्थ किया और उसे परास्त किया।

पाण्डित्य—मण्डन मिश्र अपने समय के महान् विद्वान थे। इनके गृह द्वार पर की कीराङ्गनाएं भी वेद के स्वतःप्रमाण पर विवाद करती थीं। शाङ्कर दिग्विजय में लिखा है कि शङ्कर ने माहिष्मती (वर्तमान 'महेश्वर' —म०प्र०) में जाकर किसी पनिहारी से मण्डन मिश्र का गृह पूछा। पनिहारी ने उत्तर दिया—

> स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।
> द्वारस्थनीडा तरुसन्निपाते जानीहि तन्मण्डनमिश्रधाम॥

अर्थात्—जिस गृह द्वार पर शुकियां वेद के स्वतः प्रमाण परतः प्रमाण पर शास्त्रार्थ करती हुई मिलें उसे ही मण्डन मिश्र का घर समझना।

नामान्तर—अद्वैत सम्प्रदाय में प्रसिद्धि है कि शङ्कर से पराजित होकर अद्वैत वादी बनकर मण्डन 'सुरेश्वराचार्य' नाम से प्रसिद्ध हुए। अनेक लेखकों ने सुरेश्वर को मण्डन मिश्र के नाम से भी उद्धृत किया है।

काल—मण्डन के गुरु भट्टकुमारिल तथा शंकराचार्य का समय प्रायः ८००-८५० वि० के लगभग माना जाता है। परन्तु यह सर्वथा काल्पनिक है। भट्ट कुमारिल और शङ्कर दोनों ही इससे बहुत पूर्व के व्यक्ति हैं। हमने इसी

ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ २५९ (प्र० सं०) पर लिखा है कि शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी ने शतपथ व्याख्या में भट्टकुमारिल के शिष्य प्रभाकर के मतानुयायियों का निर्देश किया है—

अथवा सूत्राणि, यथा विध्युद्देश इति प्राभाकराः—अपः प्रणयतीति यथा।

हमारा हस्तलेख पृष्ठ ५।

हरिस्वामी का काल ३७४० कल्यब्द वि० सं० ६९५ निश्चित है। हां उसके वचन की भिन्न व्याख्या करने पर हरिस्वामी का काल ३०४७ = विक्रम संवत् का आरंभ बनता है।[1] यदि द्वितीय कल्पना को सत्य न भी मानें तब भी इतना तो निश्चित ही है कि कुमारिल वि०सं० ६९५ से पूर्ववर्ती है। अतः उसके शिष्य मण्डन मिश्र का काल भी विक्रम सं०६९५ से पूर्व है।

पाश्चात्य विद्वानों ने इत्सिंग के वचन की विवेचना करके भर्तृहरि की मृत्यु का काल ७०८ विक्रम संवत् माना है और उसी के आधार पर कुमारिल, शंकर मण्डन मिश्र प्रभृति का काल निर्णय किया है, वह सब अशुद्ध है। इसकी मीमांसा के लिए देखिए हमारा यही ग्रन्थ भाग १, पृष्ठ २५८—२६४ (प्र० सं०)।

टीकाकार—परमेश्वर

मण्डन मिश्र विरचित 'स्फोटसिद्धि' पर ऋषिपुत्र परमेश्वर की एक उत्कृष्ट व्याख्या है। यह मद्रास विश्वविद्यालय ग्रन्थ माला में छप चुकी है।

परिचय—दक्षिण भारत में नाम रखने की जो परिपाटी है उसके अनुसार ज्येष्ठ पुत्र का वही नाम रखा है जो उसके पितामह का होता है। इस प्रकार एक वंश में दो ही नाम अनेक पीढ़ियों तक व्यवहृत होते रहते हैं। इस कारण 'स्फोटसिद्धि' के टीकाकार का काल निर्धारण करना अत्यन्त दुष्कर है। इस ग्रन्थ के सम्पादक शे० कु० रामनाथ शास्त्री ने इस विषय में जो छान-बीन की है उसके अनुसार उन्होंने इसका वंशवृक्ष इस प्रकार बनाया है—

---

1. विक्रम द्विसहस्राब्दी स्मारक ग्रन्थ में पं० सदाशिव कात्रे का लेख। द्र० सं० व्या. इतिहास भाग 1. पृष्ठ २५९ (प्र० सं०)।

मण्डन मिश्र की 'स्फोटसिद्धि' के व्याख्याता परमेश्वर की माता का नाम गोपालिका था। इस कारण इस टीका का लेखक द्वितीय ऋषि-पुत्र परमेश्वर है।

काल—'स्फोटसिद्धि' के सम्पादक ने इस परमेश्वर का काल विक्रम की १६वीं शती माना है।

टीका का नाम—परमेश्वर ने 'स्फोटसिद्धि' की टीका का नाम अपनी माता के नाम पर गोपालिका रखा है।

गोपालिका टीका में विशिष्ट उद्धरण—परमेश्वर ने गोपालिका टीका में निरुक्त ग्रन्थ पर लिखे गये किसी अति प्राचीन निरुक्तवार्त्तिक के ६ वचन उद्धृत किए हैं। वे इस प्रकार हैं—

यथोक्तं निरुक्तवार्तिक एव—

असाक्षात्कृतधर्मभ्यस्तेऽवरेभ्यो यथाविधि।
उपदेशेन सम्प्रादुर्मन्त्रान् ब्राह्मणमेव च॥
अर्थोऽयमस्य मन्त्रस्य ब्राह्मणस्याभमित्यपि।
व्याख्यैवात्रोपदेशः स्याद् वेदार्थस्य विवक्षितः॥
अशक्तास्तूपदेशेन ग्रहीतुमपरे तथा।
वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गानि च यत्नतः॥
बिल्मं[1] भिल्ममिति त्वाह बिभत्यर्थविवक्षया।
उपायो हि बिभत्यर्थमुपमेयं वेदगोचरम्॥

---

१. मूलपाठ 'बिम्मं भिम्ममिति' है।

अथवा भासनं बिल्मं[२] भासतेर्दीप्तिकर्मणः।
अभ्यासेन हि वेदार्थो भास्यते दीप्यते स्फुटम्॥
प्रथमा प्रतिभानेन द्वितीयास्तूपदेशतः।
अभ्यासेन तृतीयास्तु वेदार्थं प्रतिपेदिरे॥

निरुक्तवार्तिक की यह व्याख्या निरुक्त १।२० के

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रंथं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि। च बिल्मं भिल्मं भासनमिति वा।

वचन की है। निरुक्त के इस पाठ में 'इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च' पदों की व्याख्या में भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने बहुत खींचातानी की है। निरुक्तवार्त्तिककार ने भारतीय परम्परा के अनुसार समाम्नासिषुः का ठीक अर्थ अभ्यस्तवन्तस्ते किया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती की सूझ:—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में निरुक्त के उक्त वचन को उद्धृत करके व्याख्या करते हुए लिखा है—

समाम्नासिषुः सम्यगभ्यासं कारितवन्तः। संस्क० ३, पृष्ठ ३६८।

स्वामी दयानन्द के इस अर्थ की पुष्टि निरुक्तवार्त्तिक के उक्त वचन से होती है।

निरुक्तवार्त्तिक के सम्बन्ध में श्री पं० भगवद्दत्त कृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' ग्रंथ के वेदों के भाष्यकार' नामक भाग के पृष्ठ २१२–२१७ तक देखना चाहिए।

७—भरतमिश्र

भरतमिश्र विरचित 'स्फोटसिद्धि' ट्रिवेण्ड्रम् से सन् १९२७ में प्रकाशित हो चुकी है।

परिचयः—भरतमिश्र ने अपना कुछ भी परिचय अपने ग्रन्थ में नहीं दिया। न अन्य स्थान से इसके देश-काल आदि पर कोई प्रकाश पड़ता है। पं. गणपति शर्मा ने जिस मूल पुस्तक पर से इस ग्रन्थ को छापा था वह अनुमानतः दो तीन सौ वर्ष प्राचीन है, ऐसा उन्होंने भूमिका पृष्ठ ३ पर लिखा है।

२. यहाँ भी मूलपाठ 'बिम्मं' है।

'स्फोटसिद्धि' का एक हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र भाग ५, खण्ड १।३ पृष्ठ ६४२९ संख्या ४३७६८ पर निर्दिष्ट है।

ट्रिवेण्ड्रम् से सन् १९१७ में प्रकाशित अज्ञातकर्तृक स्फोटसिद्धि में न्याय विचार के आरम्भ में मण्डन के पश्चात् भरत का निर्देश किया है—

प्रणिपत्य गणाधीशं गिरां देवीं गुरूनपि।
मण्डनं भरतं चापि मुनित्रयमनुहरिम्॥

ग्रन्थपरिचय—भरतमिश्र की स्फोटसिद्धि में निम्न तीन परिच्छेद हैं—

१—प्रत्यक्ष परिच्छेद। २—अर्थ परिच्छेद। ३—आगम परिच्छेद।

इस ग्रन्थ में मूल कारिका भाग और उसकी व्याख्या दोनों ही भरत मिश्र प्रणीत हैं।

विशिष्ट स्थल—इस स्फोटसिद्धि के निम्न स्थान विशेष ध्यान देने योग्य हैं।

१—भगवदौदुम्बरायणाद्युपदिष्टाखण्डभावमपि व्यञ्जकारोपित-नान्तरीयकभेदक्रमविच्छेदादिनिविष्टैः परैरेकाकारनिर्भासम् अन्यथा सिद्धिकृत्यार्थधीहेतुतां चान्यत्र संचार्य भगवदौदुम्बरायणादीनपि भगवदुपवर्षादिभिर्निमायापलपितम्। पृष्ठ १।

अर्थात्—भगवान् औदुम्बरायण आदि द्वारा उपदिष्ट एक अखण्डभाव से प्रतीयमान स्फोट को व्यञ्जक (ध्वनि) में आरोपित आवश्यक भेद क्रम और विच्छेदादि में निविष्ट बुद्धि होकर अन्यों ने अन्यप्रकार से सिद्धि करके अर्थज्ञान कारण को अन्यत्र संचारित करके भगवान् औदुम्बरायणादि मुनियों का भी प्रतिद्वन्द्वता में भगवान् उपवर्ष आदि को उपस्थित करके अपलाप किया है।

यहाँ भरतमिश्र ने शबर स्वामी की ओर यह संकेत किया है। शबर-स्वामी ने मीमांसा भाष्य में (गौ =) गकार औकार विजर्सनीय के क्रमिक उच्चारण और पूर्व पूर्व वर्णजनित संस्कार को अर्थज्ञान में कारण दर्शाया है और अपने पक्ष की सिद्धि में भगवान् उपवर्ष का उद्धरण दिया है। वैयाकरण वर्ण ध्वनि से प्रतीयमान अखण्ड एकरस स्फोट को अर्थज्ञान में कारण मानते हैं।

२—गकारौकारविसर्जनीया इति भगवान् उपवर्ष इति ब्रुवाणोऽपलपति फलतो न शृणोति। उपवर्षो हि भगवान् स्वरानुनासिक्यकालभेदवद् वृद्धतालव्यांशभेदवच्चाकल्पितभेदाश्रयत्वात् सकलस्य द्वादशलक्षणीव्यवहारस्य प्रकृतोपयोगितया व्यावहारिकमेव शब्दं दर्शितवान्, न तात्त्विकम्, प्रकृतानुपयोगादिति तद्वचनविरोधो नाशंकनीयः। ऋषीणां हि सर्वेषामसम्भवद्भ्रमविप्रलम्भत्वात् परस्परविरोधस्तत्त्वतो नास्तीति विरोधाभासेष्वीदृशः कल्पनीयोऽभिप्रायः। पृष्ठ २८।

अर्थात्—[शबर स्वामी] गकार औकार विसर्जनीय [रूप गौः शब्द है] ऐसा कहता हुआ अपलाप करता है तत्त्व से नहीं सुनता (जानता)। भगवान् उपवर्ष ने स्वर आनुनासिक्य और काल भेद के समान वृद्ध (?) तालव्य अंश भेद के समान सम्पूर्ण द्वादशाध्यायी मीमांसा के व्यवहार का कल्पित भेद के आश्रय होने से प्रकृत (मीमांसा) शास्त्र के उपयोगी व्यावहारिक शब्द (ध्वनिरूप) शब्द का ही निदर्शन कराया है, तात्त्विक का नहीं, क्योंकि वह प्रकृतशास्त्र के अनुपयोगी था। इसलिये भगवान् उपवर्ष के विरोध की आशंका नहीं करनी चाहिए। सभी ऋषियों में भ्रम विप्रलाप का असम्भव होने से परस्पर तत्त्वतः विरोध नहीं है। सर्वत्र विरोधाभास में इसी प्रकार [अविरुद्ध] अभिप्राय की कल्पना करनी चाहिए।

८—स्फोटसिद्धिन्यायविचार-कर्ता

महामहोपाध्याय गणपति शर्मा ने सन् १९१७ में ट्रिवेण्ड्रम् से स्फोटसिद्धिन्यायविचार नाम का एक ग्रन्थ प्रकाशित किया था। इसके कर्त्ता का नाम अज्ञात है। अतः इसका काल आदि भी अज्ञात ही है।

इस ग्रन्थ में २४५ कारिकाएँ हैं। प्रथम कारिका इस प्रकार है—

प्रणिपत्य गणाधीशं गिरां देवीं गुरूनपि।
मण्डनं भरतं चादिमुनित्रयमनुहरिम्॥

इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ का रचयिता भरतमिश्र से उत्तरकालिक है।

९—१३ स्फोटविषयक ग्रन्थकार

इन तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त स्फोट विषयक निम्न ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं—

ग्रन्थकार	ग्रन्थ
९—केशव कवि	स्फोटप्रतिष्ठा
१०—शेष कृष्ण कवि	स्फोटतत्त्व
११—श्री कृष्ण भट्ट	स्फोटचन्द्रिका
१२—आपदेव	स्फोटनिरूपण
१३—कुन्द भट्ट	स्फोटवाद

१४—वैयाकरणभूषण—रचयिता (सं० १५५०-१६००)

मूल लेखक भट्टोजि दीक्षित, व्याख्याकार कौण्ड भट्ट

पाणिनीय वैयाकरणों में सम्प्रति **वैयाकरणभूषणसार** नाम का एक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ के अन्त में **सार** शब्द के श्रवण से ही स्पष्ट है कि यह किसी बड़े ग्रन्थ का संक्षेप है। उसका नाम है **वैयाकरणभूषण**।

भूषण का मूल—वैयाकरणभूषण का मूल ग्रन्थ कारिकात्मक है।

कारिका का लेखक—मूल कारिकाओं का लेखक भट्टोजि दीक्षित है। वह आरम्भ में ही लिखता है—

> फणिभाषित भाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः।
> तत्र निर्णीत एवार्थः संक्षेपेण कथ्यते॥

इससे स्पष्ट है कि इस कारिकाग्रन्थ का लेखक भट्टोजी दीक्षित है और इसका निर्माण शब्दकौस्तुभ के अनन्तर हुआ है।

कारिका का व्याख्याता—भट्टोजि दीक्षित की कारिकाओं पर कौण्ड भट्ट ने व्याख्या लिखी है। इसका नाम है वैयाकरणभूषण।

कौण्डभट्ट का परिचय—कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषण के आदि में अपना जो परिचय दिया है उसके अनुसार कौण्डभट्ट के पिता का नाम रङ्गजिभट्ट था, यह भट्टोजि दीक्षित का लघु भ्राता था। कौण्डभट्ट ने शेषकृष्ण तनय शेष-वीरेश्वर अपर नाम सर्वेश्वर से विद्याध्ययन किया था। भूषणसार के अन्त में वह स्वयं लिखा है—

> अशेषफलदातारमपि सर्वेश्वरं गुरुम्।
> श्रीमद्भूषणसारेण भूषये शेषभूषणम॥

कौण्डभट्ट सारस्वत कुलोत्पन्न काशी निवासी था।

काल—गुरुप्रसाद शास्त्री ने स्वसम्पादित भूषणसार के आदि में भूषणसार लेखन का काल सं० १६६० लिखा है। हमारे विचार में यह ठीक नहीं है। हमने इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ३५२-३५३ (प्र० सं०) पर अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है कि भट्टोजि दीक्षित का काल वि० सं० १५१०-१५७५ के लगभग है। अतः कौण्डभट्ट का काल वि० सं० १५५०-१६२५ तक मानना उचित होगा।

भूषणसार के व्याख्याता

(१) हरिवल्लभ (सं० १८००)

हरि बल्लभ ने वैयाकरणभूषणसार पर दर्पण नाम की व्याख्या लिखी है।

परिचय—हरिवल्लभ ने अपनी टीका के अन्त में लिखा है—

इति श्रीमत् कूर्मांचलाभिजनोत्प्रभातीयोपनामकश्रीवल्लभात्मज-हरिवल्लभविरचिते भूषणसारदर्पणे स्फोटवादः समाप्तः।

इससे इतना ही व्यक्त होता है कि हरिवल्लभ का उपनाम उत्प्रभातीय था। यह श्रीवल्लभ का पुत्र था और इसका अभिजन (=पूर्वजों का निवास) कूर्मांचल था।

पं० गुरुप्रसाद शास्त्री ने स्वसम्पादित भूषणसार के आरम्भ में हरिवल्लभ के लिए लिखा है कि यह सं० १८०० में काशी में वर्तमान था। सं० १८५४ में विरचित भूषणसार की काशिका टीका में दर्पण का मत बहुत उद्धृत है।

(२) हरिभट्ट (सं० १८५४)

हरिभट्ट ने भूषणसार पर दर्पण नाम्नी व्याख्या लिखी है।

परिचय—हरिभट्ट ने दर्पण के अन्त में अपना जो परिचय दिया है उससे इतना ही विदित होता है कि हरिभट्ट के पिता का नाम केशव दीक्षित था। इसकी माता का नाम सखी देवी और ज्येष्ठ भ्राता का नाम धनुराज था।

काल—हरिभट्ट ने दर्पण टीका लिखने का काल स्वयं इस प्रकार लिखा है—

युगभूतदिगात्मसम्मिते वत्सरे गते।
मार्गशुक्लपक्षे पौर्णमास्यां विधोर्दिने॥

रोहिणीस्थे चन्द्रमसि वृश्चिकस्थे दिवाकरे ।
समाप्तिमगमद् ग्रन्थस्तेन तुष्यतु नः शिवः ॥

अर्थात् सं० १८५४ व्यतीत होने पर मार्ग शुक्ला पौर्णमासी सोमवार रोहिणी नक्षत्र में चन्द्रमा और वृश्चिक राशि में सूर्य होने पर यह ग्रन्थ समाप्त हुआ ।

(३) मन्नुदेव (सं० १८४०-१८७०)

मन्नुदेव ने भूषणसार पर कान्ति नाम की व्याख्या लिखी है ।

परिचय—मन्नुदेव वैद्यनाथ पायगुण्ड का शिष्य है ।

काल—वैद्यनाथ के पुत्र बालशर्मा ने मन्नुदेव और महादेव की सहायता और कोलब्रुक की आज्ञा से 'धर्म-शास्त्र-संग्रह' लिखा था । हेनरी टामस कोलब्रुक भारत में सन् १७८३-१८१५ अर्थात् वि० सं० १८४०-१८७२ तक रहा था ।

(४) भैरवमिश्र (सं० १८८१)

भैरवमिश्र ने भूषणसार पर परीक्षा नाम्नी व्याख्या लिखी है ।

परिचय—भैरवमिश्र ने लिङ्गानुशासन विवरण के अन्त में जो अपना परिचय दिया है उसके अनुसार इसके पिता का नाम भवदेव और गोत्र अगस्त्य था ।

काल—भैरवमिश्र ने लघुशब्देन्दुशेखर की चन्द्रकला टीका के अन्त में ग्रन्थ समाप्ति का काल इस प्रकार लिखा है—

शश्यष्टसिद्धिचन्द्राख्ये मन्मथे शुभवत्सरे ।
माघे मास्यसिते पक्षे मूले कामतिथौ शुभा ॥
पूर्णा वारे दिनमणेरियञ्चन्द्रकलाभिधा ।
शब्देन्दुशेखरव्याख्या भैरवेण यथामति ॥

अर्थात्—सं० १८८१ मन्मथ नाम के संवत्सर माघ कृष्ण पक्ष मूल नक्षत्र कामतिथि रविवार के दिन चन्द्रकला टीका पूर्ण हुई ।

इससे स्पष्ट है कि भैरवमिश्र का काल १८५०–१९०० तक मानना उचित होगा ।

(५) रुद्रनाथ

रुद्रनाथ ने भूषणसार पर विवृत्ति नाम की टीका लिखी है । इसके विषय में हम अधिक कुछ नहीं जानते ।

(६) कृष्णमित्र

कृष्णमित्र ने भूषणसार पर **रत्नप्रभा** नाम्नी वृत्ति लिखी है। कृष्णमित्र ने शब्दकौस्तुभ पर भावप्रदीप नाम की एक व्याख्या भी लिखी है। इसका उल्लेख हम प्रथम भाग पृष्ठ ३५४ (प्र० सं०) पर कर चुके हैं।

उपर्युक्त टीकाकारों के अतिरिक्त अन्य कतिपय वैयाकरणों ने भी भूषणसार पर टीकाग्रन्थ लिखे हैं। विस्तार भय से हम यहां उनका निर्देश नहीं करते।

१५—नागेशभट्ट (सं० १७३०–१८१०)

नागेशभट्ट ने वैयाकरणसम्मत **वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा** नाम का एक दार्शनिक ग्रन्थ लिखा है।

परिचय—नागेशभट्ट के देश काल आदि का परिचय इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ३०६–३०८ (प्र० सं०) पर लिख चुके हैं।

मञ्जूषा का निर्माण काल—नागेशभट्ट ने मञ्जूषा की रचना महाभाष्य प्रदीपोद्योत[1] और परिभाषेन्दुशेखर से पूर्व की थी।

मञ्जूषा के अन्य दो पाठ—नागेश ने मंजूषा के बृहत् पाठ के अनन्तर लघुमञ्जूषा और उसके अनन्तर **परमलघुमञ्जूषा** की रचना की।

टीकाकार

१—दुर्बलाचार्य—दुर्बलाचार्य ने वैयाकरणसिद्धांतमंजूषा पर **कुंजिका** नाम्नी एक टीका लिखी है। यह छप चुकी है।

इसके विषय में अधिक हम कुछ नहीं जानते।

२—वैद्यनाथ—वैद्यनाथ पायगुण्डे ने वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा पर **कला** नाम की टीका लिखी है। यह टीका बालम्भट्ट के नाम से प्रसिद्ध है। इस टीका के आरम्भ में—

पायगुण्डो वैद्यनाथभट्टः कुर्वे स्वबुद्धये।

स्पष्ट निर्देश होने से बालम्भट्ट वैद्यनाथ का ही नामान्तर प्रतीत होता है।

परिचय—वैद्यनाथ पायगुण्डे के विषय में हम प्रथम भाग में पृष्ठ ३०९ पर लिख चुके हैं। वैद्यनाथ का काल सं० १७५०–१८०० के मध्य है।

---

१. अधिकं मञ्जूषायां द्रष्टव्यम्। प्रदीपोद्योत ४।३।१०१॥

वैद्यनाथ के पुत्र का नाम बालशर्मा था और इसका शिष्य मन्नुदेव था। द्र० प्रथम भाग पृष्ठ ३०८–३०९ (प्र० सं०)।

१६—ब्रह्मदेव

वैयाकरणसिद्धांतमंजूषा—का एक हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र भाग ३ खण्ड १A पृष्ठ २७०४ संख्या १९४७ पर निर्दिष्ट है। उसके रचयिता का नाम ब्रह्मदेव लिखा है।

यदि सूचीपत्रकार का लेख ठीक हो तो वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा नाम के दो ग्रन्थ मानने होंगे। एक नागेश कृत, दूसरा ब्रह्मदेव कृत।

यह भी सम्भव है कि उक्त हस्तलेख नागेश की वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा की ब्रह्मदेव विरचित टीका का हो। इसका निर्णय मूल हस्तलेख के दर्शन से ही हो सकता है।

जगदीश तर्कालंकार (सं० १७१०)

जगदीश तर्कालंकार भट्टाचार्य ने **शब्दशक्तिप्रकाशिका** नाम का एक प्रौढ़ ग्रंथ लिखा है। यद्यपि यह ग्रंथ प्रधानतया न्यायशास्त्र का है तथापि वैयाकरण सिद्धान्त के साथ विशेष संबंध रखने के कारण हम इसका यहाँ निर्देश कर रहे हैं—

परिचय—जगदीशतर्कालंकार के पितामह का नाम सनातन मिश्र और पिता का नाम यादवचन्द्र विद्यावागीश था। सनातन मिश्र चैतन्य महाप्रभु के श्वशुर थे। जगदीश के ४ भाई और थे। यह उनमें तृतीय था।

जगदीश तर्कालंकार ने न्यायशास्त्र का अध्ययन भवानन्द सिद्धान्तवागीश से किया था।

जगदीश तर्कालंकार ने सं० १७१० में शब्दशक्तिप्रकाशिका की रचना की है। इसके अतिरिक्त न्याय के अन्य भी कई ग्रन्थ जगदीश तर्कालंकार ने लिखे हैं।

व्याख्याकार

१—कृष्णकान्त विद्यावागीश—कृष्णकान्त विद्यावागीश ने शब्दशक्तिप्रकाशिका पर एक विस्तृत टीका लिखी है।

कृष्णकान्त के गुरु रामनारायण तर्कपञ्चानन नाम के वैदिक विद्वान् थे। ये नवद्वीप के निवासी थे। इनके वंशज सम्प्रति भी नवद्वीप में गङ्गापार विद्यमान हैं, ऐसी अनुश्रुति है।

कृष्णकान्त ने अपनी टीका का लेखन काल स्वयं शक सं० १७२३ लिखा है—

शाके रामाक्षिशैलक्षितिपरिगणिते कर्कटे याति भनौ।

तदनुसार यह टीका सं० १८६६ में लिखी गई।

कृष्णकान्त ने शक सं० १७४० तदनुसार वि० सं० १८६५ में न्याय सूत्र पर सूत्रसंदीपनी टीका भी लिखी है।

२—रामभद्र सिद्धान्तवागीश—नवद्वीप निवासी रामभद्र सिद्धान्तवागीश ने भी शब्द शक्तिप्रकाशिका पर एक लघु टीका लिखी है। इसका नाम सुबोधिनी है।

रामभद्र का काल अज्ञात है, परन्तु दोनों टीकाओं की तुलना से विदित होता है कि रामभद्र की टीका कृष्णकान्त की टीका से प्राचीन है।

इस प्रकार इस अध्याय में व्याकरण के दार्शनिक ग्रन्थकारों का वर्णन करके अगले अध्याय में काव्यशास्त्रकार वैयाकरण कवियों का वर्णन करेंगे।

तीसवां अध्याय

काव्य-शास्त्रकार वैयाकरण कवि

(व्याकरण प्रधान काव्यों के रचयिता)

काव्य-शास्त्र शब्द का अर्थ—शास्त्रीय वाङ्मय में काव्य-शास्त्र शब्द विशेष अर्थ का बोधक है। क्षेमेन्द्र ने सुवृत्त-तिलक नामक ग्रन्थ के तृतीय विन्यास के आरम्भ में लिखा है—

शास्त्रं काव्यं शास्त्रकाव्यं काव्यशास्त्रं च भेदतः।
चतुष्प्रकारः प्रसरः सतां सारस्वतो मतः॥ २॥

शास्त्रं काव्यविदः प्राहुः सर्वकाव्याङ्गलक्षणम्।
काव्यं विशिष्टशब्दार्थसाहित्यसदलंकृति॥ ३॥

शास्त्रकाव्यं चतुर्वर्गप्रायं सर्वोपदेशकृत्।
भट्टिभौमकाव्यादि काव्यशास्त्रं प्रचक्षते॥ ४॥

अर्थात्—सारस्वत प्रसार शास्त्र, काव्य शास्त्र, काव्य और काव्यशास्त्र के भेद से चार प्रकार का है। काव्यविद् आचार्य सब प्रकार के काव्य-काव्याङ्गों के लक्षणबोधक ग्रन्थ को शास्त्र कहते हैं।[1] विशिष्ट शब्द और अर्थ से युक्त उत्तम अलंकृत ग्रन्थ को काव्य[2] कहते हैं।[3] चारों वर्गों को उपदेश देने वाला ग्रन्थ शास्त्रकाव्य कहाता है।[4] और भट्टि भौमक[5] आदि काव्य

---

१. यथा—काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि।

२. यथा—रघुवंश आदि।

३. तुलना करो—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणवान् अनलंकृतिः पुनः क्वापि। काव्यप्रकाश।

४. यथा—रामायण महाभारतादि।

५. भौमक—रावणार्जुनीय काव्य।

काव्यशास्त्र[1] कहाते हैं।

इस लक्षण से स्पष्ट है कि जो ग्रन्थ काव्य होता हुआ किसी विशेष विषय का शासन करे वह **काव्यशास्त्र** पदवाच्य होता है। साहित्य ग्रन्थों में अनेक ऐसे काव्य हैं जो व्याकरण शास्त्र का बोध कराने के विशेष उद्देश्य से लिखे गये हैं। इस अध्याय में हम इसी प्रकार के काव्यों का वर्णन करेंगे।

काव्य-शास्त्रों की रचना का प्रयोजन—व्याकरण शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए भगवान् कात्यायन ने लिखा है—

लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्।

इस वार्तिक की व्याख्या पतञ्जलि ने इस प्रकार की है—

लक्ष्यं लक्षणं चैतत् समुदितं व्याकरणं भवति। किं पुनर्लक्ष्यम्? किं वा लक्षणम्? शब्दो लक्ष्यः, सूत्रं लक्षणम्। महा० नवा० पृष्ठ ७१।

अर्थात्—लक्ष्य और लक्षण मिलकर व्याकरण कहाता है। लक्ष्य शब्द है और लक्षण सूत्र।

व्याकरण शब्द वि आङ् दो उपसर्गपूर्वक कृ धातु से ल्युट् प्रत्यय होकर बनता है। ल्युट् प्रत्यय करण अधिकरण आदि अनेक अर्थों में होताहै। करण में ल्युट् होने पर व्याकरण शब्द का अर्थ—

व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।

व्युत्पत्ति के अनुसार लक्षण = सूत्र होता है। परन्तु कर्म में ल्युट् होने पर

व्याक्रियते यत् तत् व्याकरणम्।

व्युत्पत्त्यनुसार व्याकरण शब्द का अर्थ लक्ष्य अर्थात् शब्द होता है। पतञ्जलि ने स्पष्ट लिखा है—

अयं तावद् अदोषः—यदुच्यते 'शब्दे ल्युडर्थः' इति। नावश्यं करणाधिकरणयोरेव ल्युड् विधीयते किन्तर्हि? अन्येष्वपि कारकेषु—'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति। तद्यथा—प्रस्कन्दनं प्रपतनमिति। (महा० नवा० पृष्ठ ७१)

---

१. 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्। व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥' सूक्ति में निर्दिष्ट 'काव्यशास्त्र' शब्द का यही विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ अभिप्रेत है, न कि सामान्य काव्य ग्रन्थ।

अर्थात्—यह दोष नहीं है जो कहा है कि 'शब्द को व्याकरण मानने पर ल्युट् का अर्थ उपपन्न नहीं होता।' नहीं आवश्यक रूप से करण और अधिकरण में ही ल्युट् का विधान किया है, अपितु अन्य कारकों में भी–'कृत्यल्युटो बहुलम्' (कृत्य और ल्युट् बहुल करके सामान्य विधान से अन्यत्र भी होते हैं) सूत्र द्वारा। जैसे प्रस्कन्दन प्रपतन [में अपादान में ल्युट् देखा जाता है]।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि व्याकरण शब्द का क्षेत्र लक्ष्य और लक्षण दोनों तक अभिव्याप्त है। लक्षण मात्र के लिए व्याकरण शब्द का प्रयोग प्रोक्त रूप अर्थ विशेष को लेकर होता है।[1]

व्याकरण शब्द के उपरिनिर्दिष्ट व्यापक अर्थ को दृष्टि में रखकर अनेक व्याकरण प्रवक्ताओं ने जहाँ लक्षण ग्रंथों का प्रवचन किया वहाँ उन लक्षणों की चरितार्थता दर्शाने के लिए उनके लक्ष्यभूत शब्दविशेषों को संगृहीत करके लक्ष्यरूप काव्यग्रन्थों की भी सृष्टि की। कुछ ऐसे वैयाकरण भी हैं जिन्होंने लक्षणग्रन्थों का तो स्वतन्त्र प्रवचन नहीं किया परन्तु पूर्व प्रसिद्ध लक्षणग्रन्थों को दृष्टि में रखते हुए केवल लक्ष्यरूप काव्यग्रन्थों की ही रचना की। यहाँ हम उभय प्रकार के वैयाकरणों द्वारा सृष्ट काव्यग्रन्थों का निर्देश करेंगे।

१—पाणिनि (२८०० वि० पूर्व)

प्राचीन वैयाकरणों में पाणिनि ही ऐसे वैयाकरण हैं जिनका काव्यस्रष्टृत्व न केवल वैयाकरण निकाय में आबालवृद्ध प्रसिद्ध है अपितु काव्यवाङ्मय के इतिहास में भी मूर्द्धाभिषिक्त है।

पाणिनि के काव्य का नाम **जाम्बवतीविजय** है। इसका दूसरा नाम पातालविजय भी है।[2] भगवान् पाणिनि ने इस महाकाव्य में श्री कृष्ण के

---

१. प्रोक्तादयश्च तद्धिता नोपपद्यन्ते पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, आपिशलम्, काशकृत्स्नमिति। नहि पाणिनिना शब्दाः प्रोक्ताः, किन्तर्हि सूत्रम्। (महा० नवा० पृष्ठ ७०)

२. पं० सीताराम जयराम जोशी एम. ए. और विश्वनाथ शास्त्री एम. ए. ने 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' ग्रन्थ में जाम्बवतीविजय और पाताल विजय को दो पृथक्-पृथक् काव्य माना है। पृष्ठ ९७। यह ऐतिह्यविरुद्ध होने से उनकी भूल है।

पाताललोक में जाकर जाम्बवती की विजय और परिणय की कथा का वर्णन किया है।

पाश्चात्य विद्वानों तथा उनके अनुयायियों की कल्पना—डाक्टर पीटर्सन आदि पाश्चात्य विद्वान् तथा तदनुगामी डा० भण्डारकर आदि कतिपय भारतीय विद्वान् जाम्बवतीविजय के उपलब्ध उद्धरणों की लालित्यपूर्ण सरस रचना और क्वचित् व्याकरण के उत्सर्ग नियमों का उल्लंघन देखकर कहते हैं कि यह काव्य शुष्क वैयाकरण पाणिनि की कृति नहीं है।

उक्त कल्पना का मिथ्यात्व—वस्तुतः सत्य भारतीय इतिहास के प्रकाश में उक्त कल्पना सर्वथा मिथ्या है अतएव नितान्त हेय है। भारतीय वाङ्मय में असन्दिग्ध रूप से इसे वैयाकरण पाणिनि की रचना माना है। अनेक वैयाकरण अष्टाध्यायी से अप्रसिद्ध शब्दों का साधुत्व दर्शाने के लिए इस काव्य को पाणिनीय मानकर उद्धृत करते हैं।[1]

पाश्चात्य विद्वानों ने 'इति+ह+आस' जैसे सत्य विषय में सर्वथा कल्पनाओं से कार्य लिया है। ग्रन्थनिर्माण में मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल, सूत्रकाल आदि की कल्पना करके समस्त भारतीय वाङ्मय को अव्यवस्थित एवं कलुषित कर दिया है। वे समझते हैं कि पाणिनि सूत्रकाल का व्यक्ति है, उसके समय बहुविध छन्दोगुम्फित सरस सालङ्कृत ग्रन्थ की रचना नहीं हो सकती, क्योंकि उस समय सरस काव्य निर्माण का प्रारम्भ नहीं हुआ था। ऐसे ग्रन्थों का समय सूत्रकाल के बहुत अनन्तर है।

हम इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में अनेक प्राचीन प्रमाणों से सिद्ध कर चुके हैं[2] कि भारतीय वाङ्मय में पाश्चात्यरीति पर किये कालविभाग की कल्पना उपपन्न नहीं हो सकती। जिन ऋषियों ने मन्त्र और ब्राह्मणों का प्रवचन किया उन्होंने ही धर्मसूत्र, आयुर्वेद, व्याकरण और महाभारत जैसे सरस सालङ्कृत महाकाव्यों की रचनाएं कीं। विषय और रचनाभेद से भाषा में भेद होना अत्यन्त स्वाभाविक है। हर्ष ने जहाँ खण्डनखाद्य जैसे नव्यन्याय-गुम्फित कर्णकटु ग्रन्थ की रचना की, वहाँ नैषध जैसा सरस मधुर महाकाव्य भी बनाया। क्या दोनों में भाषा का अत्यन्त पार्थक्य होने से ये दोनों ग्रन्थ एक व्यक्ति की रचना नहीं हैं?

१. भाषावृत्ति २।४।७४, पृष्ठ १०९। दुर्घटवृत्ति ४।३।२३, पृष्ठ ८२।
२. देखो प्रथम भाग पृष्ठ १५—१७ (प्र० संस्क०)।

पाश्चात्य विद्वान् मन्त्रकाल को सबसे प्राचीन मानते हैं। क्या उनकी रचना छन्दोबद्ध और सरस सालङ्कृत नहीं है ? क्या ब्राह्मणग्रन्थों में रामायण, महाभारत, मनुस्मृति आदि जैसी भाषा और तादृश छन्दों में रची यज्ञगाथाएँ नहीं पढ़ी हैं ? भारतीय इतिहास के अनुसार कृष्ण द्वैपायन व्यास वैदिक शाखाओं का प्रवक्ता, ब्रह्मसूत्रों का रचयिता और महाभारत जैसे बहुनीतिगुम्फित सरस सालङ्कृत ऐतिहासिक महाकाव्य का निर्माता है। इसमें किञ्चिन्मात्र सन्देह का अवसर नहीं है। कहां तक कहें, भारतीय इतिहास के अनुसार रामायण जैसे महाकाव्य का रचनाकाल वर्तमान शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों के संकलन से बहुत प्राचीन है।

पाश्चात्य लेखकों को भय था कि यदि पाणिनि के समय में ऐसे विविध छन्दोयुक्त, ललित तथा सरस काव्य की रचना का सद्भाव मान लिया जाएगा तो उनका कल्पित ऐतिहासिक कालक्रम तथा उस पर बड़े प्रयत्न से निर्मित उनका ऐतिहासिक प्रासाद तत्क्षण धूलिसात् हो जाएगा। इसलिए जैसे कोई मिथ्यावादी अपने एक असत्य को छिपाने के लिए अनेक असत्य वचनों का आश्रय लेता है, उसी प्रकार पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी काल्पनिक ऐतिहासिक कालपरम्परा की रक्षा के लिए अनेक असत्य पक्षों की उद्भावना की। इसलिए पाश्चात्य लेखकों के लिखने से अथवा मुट्ठीभर उनके अनुयायी अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों के कहने मात्र से भारतीय वाङ्मय में एक स्वर से स्वीकृत जाम्बवतीविजय महाकाव्य का कर्तृत्व महामुनि पाणिनि से कथमपि हटाया नहीं जा सकता।

पाणिनि के काल में विविध लौकिक छन्दों का सद्भाव—महामुनि पिङ्गल पाणिनि का अनुज है, यह भारतीय इतिहास में सर्वलोक प्रसिद्ध बात है। पिङ्गल ने अपने छन्दःशास्त्र में विविध प्रकार के लौकिक छन्दों के अनेक भेद-प्रभेदों का विस्तार से उल्लेख किया है। इस लिए पाणिनीय काव्य में अनेक प्रकार की छन्दोरचना का उपलब्ध होना सर्वथा स्वाभाविक है।

पाणिनि के काल में चित्र काव्यों की सत्ता—इतने पर भी जो लोग दुराग्रहवश पाणिनि के काल में विविध लौकिक छन्दों के भेदप्रभेदों की सत्ता स्वीकार करने को तैयार नहीं होते, उनके परितोषार्थ दुर्जन सन्तोष न्याय से पाणिनि के व्याकरण (जिसे पाश्चात्य भी पाणिनीय ही मानते हैं) से ही कतिपय ऐसे प्रमाण उपस्थित करते हैं, जिनसे सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट हो जाएगा कि पाणिनि से पूर्व न केवल लौकिक छन्द ही पूर्ण विकास को प्राप्त हो चुके थे,

अपितु उस से पूर्व विविध प्रकार के चित्र काव्यों की रचना भी सहृदयों के मनों को आल्हादित करती थी। इस विषय में पाणिनि के निम्नसूत्र द्रष्टव्य हैं।

क—अष्टाध्यायी का एक सूत्र है—

संज्ञायाम् ।३।४।४२॥

अर्थात्–अधिकरण वाची उपपद होने पर 'बन्ध' धातु से संज्ञा विषय में 'णमुल्' प्रत्यय होता है।

इस सूत्र की वृत्ति में काशिकाकार ने क्रौञ्चबन्धं बन्धाति, मयूरिका बन्धं बध्नाति उदाहरण देकर स्पष्ट लिखा है—

बन्धविशेषाणां नामधेयान्येतानि।

अर्थात्—ये बन्ध (=काव्यबन्ध) विशेषों के नाम हैं।

ख—अष्टाध्यायी के षष्ठाध्याय में दूसरा सूत्र है—

बन्धे च विभषा ।६।३।१३॥

अर्थात्–'बन्ध' उत्तरपद होने पर हलन्त और अदन्त शब्दों से परे सप्तमी विभक्ति का विकल्प से लुक् होता है।

काशिकाकार ने इस सूत्र पर निम्न उदाहरण दिए हैं—

हस्ते बन्धः, हस्तबन्धः। चक्रे बन्धः, चक्रबन्धः।

इसी सूत्र की वृत्ति में काशिकाकार ने प्रत्युदाहरण दिया है—

हलदन्तादित्येव—गुप्तिबन्धः।

इन उदाहरणों और प्रत्युदाहरण से स्पष्ट है कि पाणिनि से पूर्व काल में चित्रकाव्यरूप बन्धविशेषों का प्रचुर व्यवहार होने लग गया था।[1]

याज्ञिक श्येनचित् आदि के साथ चक्रबन्ध आदि का सादृश्य—यज्ञ-सम्बन्धी श्येनचित् कङ्कचित्[2] आदि क्रतुविधियों के साथ छन्दःशास्त्र-सम्बन्धी चक्रबन्ध क्रौञ्चबन्ध गुप्तिबन्ध आदि की तुलना करने से इनमें परस्पर अद्भुत सादृश्य दिखाई देता है यज्ञ में श्येन आदि आकार की निष्पत्ति के लिए

---

१. छन्दःशास्त्र की प्रवृत्ति कब हुई इसके परिज्ञान के लिए देखिए हमारे 'वैदिक छन्दोमीमांसा' ग्रन्थ का "छन्दःशास्त्र की प्राचीनता" अध्याय तथा 'छन्दःशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ (यह शीघ्र छपेगा)।

२. श्येनचितं चिन्वीत, कङ्कचितं चिन्वीत।

विभिन्न प्रकार की इष्टकाओं का ऐसे ढंग से चयन करना होता है कि उन इष्टकाओं के चयन से श्येन आदि की आकृति निष्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार चक्रबन्ध क्रौञ्चबन्ध गुप्तिबन्ध आदि में भी शब्दों का चयन अथवा बन्धन इस ढंग से किया जाता है कि उस पर रेखाएँ खींच देने पर चक्र कौञ्च और गुप्तिबन्ध आदि की आकृति बन जाती है।

पाश्चात्य विद्वान् इस विषय में तो सहमत हैं कि पाणिनि से बहुत पूर्व श्येनचित् कङ्कचित् आदि चयनयागों का उद्भव हो चुका था। ऐसी अवस्था में उनके अनुकरण पर निर्मित चक्रबन्ध क्रौञ्चबन्ध गुप्तिबन्ध आदि चित्र-काव्यों की सत्ता में क्या विप्रतिपत्ति हो सकती है, और वह भी उस अवस्था में जब कि पाणिनि के व्याकरण सूत्रों द्वारा क्रौञ्चबन्ध चक्रबन्ध गुप्तिबन्ध आदि के साधुत्व का स्पष्ट निदर्शन हो रहा हो।

अब रह जाता है जाम्बवतीविजय के गृह्य आदि ऐसे प्रयोगों का प्रश्न जो पाणिनि के लक्षणों से साक्षात् उपपन्न नहीं होते। इसका उत्तर यह है कि पाणिनि ने अपने जिस शब्दानुशासन का प्रवचन किया है वह अत्यन्त संक्षिप्त है। उसमें प्रायः उत्सर्ग सूत्रों के अल्प प्रयुक्त शब्द विषयक अपवाद सूत्रों का विधान नहीं किया है। इतना ही नहीं, यदि पाणिनि के उत्सर्ग नियमों से साक्षात् असिद्ध शब्दों के प्रयोग के आधार पर ही जाम्बवतीविजय को अपाणि-नीय कहा जाए तो क्या उसके अपने व्याकरणशास्त्र में साक्षात् सूत्रों से असिद्ध लगभग १०० प्रयोगों की उपलब्धि होने से अष्टाध्यायी को भी अपाणिनीय नहीं कहा जा सकता?

अब हम उन ग्रन्थकारों के वचन उद्धृत करते हैं, जिन्होंने वैयाकरण पाणिनि को ही जाम्बवतीविजय का रचयिता माना है--

१—राजशेखर (सं० ९५०) ने पाणिनि की प्रशंसा में निम्नलिखित पद्य पढ़ा है—

नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
आदौ व्याकरणं काव्यमनुजाम्बवतीविजयम्[1]॥

---

१ एकाक्षराधिकोऽनुष्टुप्। लौकिक छन्दों में भी भुरिक् निचृत् भेद होते हैं। इसके लिए देखिये हमारे 'वैदिक छन्दोमीमांसा' ग्रंथ के पृष्ठ २१३–२१६।

२—श्रीधरदासकृत सदुक्तिकर्णामृत (सं० १२००) में सुबन्धु, रघुकार (द्वितीय कालिदास), हरिचन्द्र, भारवि तथा भवभूति आदि कवियों के साथ दाक्षीपुत्र का भी नाम लिखा है। दाक्षीपुत्र वैयाकरण पाणिनि का ही पर्याय है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। यथा—

सुबंधौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचंद्रोऽपि हृदयम्।
विशुद्धोक्तिः शूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिर-
स्तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते ॥

३—क्षेमेन्द्र (वि० १२ वीं शताब्दी) ने सुवृत्ततिलक छन्दोग्रंथ में पाणिनि के उपजाति छन्द की अत्यन्त प्रशंसा की है। वह लिखता है—

स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः ॥

४—महाराज समुद्रगुप्त विरचित कृष्णचरित का कुछ अंश उपलब्ध हुआ है। उसके आरम्भ में १० मुनि कवियों का वर्णन है। आरम्भ के १२ श्लोक खण्डित हैं। अगले श्लोकों से विदित होता है कि खण्डित श्लोकों में पाणिनि का वर्णन अवश्य था। वररुचि = कात्यायन के प्रसंग में लिखा है—

न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरितवार्त्तिकैर्यः।
काव्येऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनोऽसौ कविकर्मदक्षः ॥१०॥

अर्थात् कात्यायन ने केवल वार्तिकों से पाणिनीय सूत्रों को ही पुष्ट नहीं किया, अपितु उसने पाणिनि के काव्य का भी अनुकरण किया है।

पुनः महाकवि भास के प्रकरण में लिखा है—

अयं च नान्वयात् पूर्णं दाक्षीपुत्रपदक्रमम् ॥ २६ ॥

५—महामुनि पतञ्जलि ने १।४।५१ के महाभाष्य में पाणिनि को कवि लिखा है—

त्रिविंशासिगुणेन च यत् सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना।

६—विक्रम की १२ वीं शताब्दी में होनेवाला पुरुषोत्तमदेव अपनी भाषा-वृत्ति में पाणिनीय सूत्र २।४।७४ की व्याख्या की पुष्टि में जाम्बवतीविजय काव्य को पाणिनीय मानकर उद्धृत करता है।[1]

---

1. इति पाणिनेर्जाम्बवतीविजयकाव्यम्।

७—पुरुषोत्तमदेव से कुछ परभावी शरणदेव ने भी अपनी दुर्घटवृत्ति में बहुत्र पाणिनि के जाम्बवतीविजय को सूत्रकार पाणिनि का काव्य मानकर प्रमाण-रूप से उद्धृत किया है। यथा ४।३।२३, पृष्ठ ८२।

८—यशस्तिलक चम्पू में सोमदेव सूरि ने लिखा है—

पणिपुत्र इव पदप्रयोगेषु। आ० २, पृष्ठ २३६।

यहाँ भी सोमदेव सूरि ने पाणिनि के किन्हीं पद प्रयोगों की ओर संकेत किया है। यह संकेत निश्चय ही जाम्बवतीविजय काव्य की ओर है।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि जाम्बवतीविजय महाकाव्य और शब्दानुशासन का रचयिता पाणिनि एक ही है।

जाम्बवतीविजय का परिमाण—जाम्बवतीविजय इस समय अनुपलब्ध है। अतः उसके विषय में विशेष लिखना असम्भव है। दुर्घटवृत्तिकार शरणदेव ने जाम्बवतीविजय के अठारहवें सर्ग का एक उद्धरण दिया है।[1] उससे विदित होता है कि जाम्बवतीविजय में न्यून से न्यून १८ सर्ग अवश्य थे।

जाम्बवतीविजय के उद्धरण—इस महाकाव्य के उद्धरण निम्न ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं—

१—भाषावृत्ति।
२—दुर्घटवृत्ति।
३—गणरत्नमहोदधि।
४—शार्ङ्गधरपद्धति।
५—सदुक्तिकर्णामृत।
६—सुभाषितरत्नकोष।[2]
७—सारसंग्रह।
८—अलंकारतिलक।
९—कवीन्द्रवचनसमुच्चय।
१०—सभ्यालंकरण।
११—अलंकारशेखर।
१२—कुवलयानन्द।
१३—अलंकारकौस्तुभ।
१४—प्रतापरुद्रयशोभूषण टीका।
१५—दशरूपक।
१६—वाग्भटालंकार।
१७—सूक्तिमुक्तावली जल्हणकृत।
१८—हैम काव्यानुशासनवृत्ति।
१९—पद्यरचना—लक्ष्मणभट्ट आङ्कोलरकृत।
२०—सुभाषितावली—वल्लभदेवकृत।

---

१. त्वया सहार्जितं यच्च यच्च सख्यं पुरातनं। चिराय चेतसि पुरुस्तरुणीकृतमद्यमे। इत्यष्टादशे। दुर्घटवृत्ति ४।३।२३ पृष्ठ ८२।

२. इसका एक नया सुंदर संस्करण कुछ समय पूर्व प्रकाशित हुआ है।

२१—कातन्त्र धातुवृत्ति—रामनाथविरचित।
२२—अमरटीका—रायमुकुटकृत।
२३—रुद्रट—काव्यालंकार की नमिसाधुकृत टीका।
२४—ध्वन्यालोक—आनंदवर्धनकृत
२५—अलंकारसर्वस्व रुय्यककृत।

२६—सरस्वतीकण्ठाभरण की कृष्णदेव लीलाशुककवि रचित टीका।

पं० चन्द्रधर गुलेरी ने अन्तिम ग्रंथ के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों में उद्धृत पाणिनीय काव्य के समस्त उद्धरण 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' नया संस्करण भाग १ खण्ड १ में प्रकाशित किये हैं। संख्या २६ का निर्देश श्री कृष्णमाचार्य ने अपने "हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर" ग्रन्थ के पृष्ठ ८५ पर किया है।

इन २६ ग्रन्थों में आये हुए उद्धरणों की प्रचुरता को देखने से आशा होती है कि यह महाकाव्य प्रयत्न करने पर इस समय भी अवश्य उपलब्ध हो सकता है।

२—व्याडि (२९००-२८०० वि० पूर्व)

महामुनि व्याडि अभी तक केवल वैयाकरण रूप में और वह भी व्याकरण सम्बन्धी दार्शनिक ग्रन्थकार के रूप में प्रसिद्ध थे, परन्तु महाराज समुद्रगुप्त के कृष्णचरित के कुछ अंश के उपलब्ध हो जाने से वैयाकरण व्याडि का महाकाव्यकर्तृत्व भी स्पष्ट परिज्ञात हो गया। कृष्णचरित के मुनि कवि वर्णन-प्रसंग में लिखा है—

> रसाचार्यः कविर्व्याडिः शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनिः।
> दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसकाग्रणीः ॥ १६ ॥
> बलचरितं कृत्वा यो जिगाय भारतं व्यासं च।
> महाकाव्यविनिर्माणे तन्मार्गस्य प्रदीपमिव ॥ १७ ॥

इन श्लोकों से स्पष्ट है कि महामुनि व्याडि ने भारत (महाभारत नहीं) से भी बृहद् आकार का बालचरित लिखा था।

व्याडि के काव्यनिर्माण की पुष्टि अमरकोष की अज्ञातकर्तृक टीका से भी होती है। यह टीका मद्रास के राजकीय हस्तलेखसंग्रह में सुरक्षित है। इसके १८५ वें पत्रे में व्याडि का निम्न पद्यांश उद्धृत है—

कमपि भूभुवनाङ्गणकोणम्—इति व्याडिभाषासमावेशः ।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि व्याडि के किसी काव्य में भट्टिकाव्य के १२वें सर्ग के समान भाषासमावेश नाम का कोई भाग था ।

इससे अधिक हम व्याडि के काव्य के विषय में कुछ नहीं जानते ।

३—वररुचि कात्यायन (२८०० वि० पूर्व)

महामुनि पतञ्जलि ने महाभाष्य ४।३।१०१ में वाररुच काव्य का साक्षात् उल्लेख किया है। यह वररुचि वार्तिककार कात्यायन वररुचि ही है।[1] यह पूर्व वार्तिककार के प्रकरण में (अ० ८) में लिख चुके हैं ।

वररुचि का स्वर्गारोहण-काव्य—महाराज समुद्रगुप्त ने अपने कृष्णचरित में मुनि कवि वर्णनप्रसंग में लिखा है—

यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि ।
काव्येन रुचिरेणासौ ख्यातो वररुचिः कविः ॥

न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरित वार्तिकैर्यः ।
काव्येऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनोऽसौ कविकर्मदक्षः ॥

अर्थात्—जो स्वर्ग में जाकर (श्लेष से–स्वर्गारोहणसंज्ञक काव्य बनाकर) स्वर्ग को पृथिवी पर ले आया, वह वररुचि अपने मनोहर काव्य से विख्यात है। उस महाकवि कात्यायन ने केवल पाणिनीय व्याकरण को ही अपने वार्तिकों से पुष्ट नहीं किया, अपितु काव्य रचना में भी उसी का अनुकरण किया ।

कात्यायन के स्वर्गारोहणकाव्य का उल्लेख जल्हण की सूक्तिमुक्तावली में भी मिलता है। उसमें राजशेखर का निम्न श्लोक उद्धृत है—

यथार्थता कथं नाम्नि माभूद् वररुचेरिह ।
व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहणप्रियः ॥

इस श्लोक में चतुर्थ चरण का पाठ भ्रष्ट है। यहाँ सदारोहणप्रियः के स्थान पर स्वर्गारोहणप्रियः पाठ होना चाहिए ।

कात्यायन ने महाकाव्य के अतिरिक्त कोई साहित्यविषयक लक्षण ग्रन्थ

---

१. नागेश के लघुशब्देन्दुशेखर की 'संख्या वंश्येन' सूत्र व्याख्या से ध्वनित होता है कि कात्यायन पाणिनि का शिष्य था ।

भी लिखा था। अभिनवगुप्त भरतनाट्यशास्त्र (भाग २, पृष्ठ २४५, २४६) की टीका में लिखता है—

> यथोक्तं कात्यायनेन—
> वीरस्यभुजदण्डानां वर्णने स्रग्धरा भवेत्।
> नायिका वर्णनं कार्यं वसन्ततिलकादिकम्।
> शार्दूललीला प्राच्येषु मन्दाक्रान्ता च दक्षिणे॥ इति

इसी प्रकार शृङ्गार प्रकाश (पृष्ठ ५३) में भी लिखा है—

> तथा च कात्यायनः—
> उत्तारणाय जगतः प्रपितामहेन
> तस्मात् पदात् त्वमसि प्रवृत्ता।

आचार्य वररुचि के अनेक श्लोक शार्ङ्गधर पद्धति, सदुक्तिकर्णामृत और सुभाषित रत्नावली आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

४—पतञ्जलि (२००० विक्रमपूर्व)[1]

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने महानन्द अथवा महानन्दमय नाम का कोई काव्यग्रन्थ भी लिखा था। महाराज समुद्रगुप्त ने कृष्णचरित में मुनिकवि वर्णन-प्रसङ्ग में महाभाष्यकार पतञ्जलि का वर्णन करते हुए लिखा है—

> महानन्दमयं काव्यं योगदर्शनमद्भुतम्।
> योगव्याख्यानभूतं तद् रचितं चित्तदोषापहम्॥

सदुक्तिकर्णामृत में भाष्यकार के नाम से निम्न श्लोक उद्धृत है—

> यद्यपि स्वच्छभावेन दर्शयत्यम्बुधिर्मणीन्।
> तथापि जानुदघ्नेयमिति चेतसि मा कृथाः॥

---

१. प्रथम भाग में हमने महाभाष्यकार पतञ्जलि का काल १५०० विक्रमपूर्व लिखा था परन्तु अब हम इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि महाभाष्यकार विक्रम से न्यूनातिन्यून २००० वर्ष पूर्ववर्ती है। इस मत की उपपत्ति हम व्या. शा. इतिहास प्रथम भाग के मुद्र्यमाण द्वितीय संस्करण में सप्रमाण दर्शाएँगे।

यहाँ सम्भवतः जानुदघ्नोऽयं पाठ शुद्ध हो अन्यथा भाष्यकार के मत से अम्बुधि को स्त्रीलिङ्ग भी मानना चाहिये।

इससे अधिक भाष्यकार के काव्य के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

५—महाभाष्य में उद्धृत कतिपय वचन

पाणिनि, व्याडि, वररुचि और पतञ्जलि इन चारों वैयाकरणों ने काव्यग्रन्थों का ग्रथन किया था इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु इनके काव्य व्याकरण-शास्त्रोपजीवी काव्यशास्त्र रूप थे यह कहना अत्यन्त कठिन है। परन्तु महाभाष्य में विभिन्न स्थानों पर उद्धृत कतिपय वचनों से इतना अवश्य स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र रूपी व्याकरणोपजीवी कतिपय काव्यों की रचना महाभाष्य से पूर्व अवश्य हो गई थी।

महाभाष्य में पतञ्जलि ने कतिपय सूत्रों की व्याख्या में कुछ ऐसे उदाहरण-प्रत्युदाहरण उद्धृत किये हैं जो किसी काव्यशास्त्र (व्याकरणप्रधान काव्य) के अंश प्रतीत होते हैं। यथा—

१—महाभाष्य १।३।२५ में **उपाद्देवपूजासंगतिकरणयोः** वार्तिक की व्याख्या में निम्न श्लोक उद्धृत हैं—

> **बहूनामप्यचित्तानामेको भवति चित्तवान्।**
> **पश्य वानरसैन्येऽस्मिन् यदर्कमुपतिष्ठते॥**
> **मैवं मंस्थाः सचित्तोऽयमेषोऽपि हि यथा वयम्।**
> **एतदप्यस्य कापेयं यदर्कमुपतिष्ठति॥**

इन श्लोकों में से प्रथम में देवपूजा अर्थ में **उपतिष्ठते** आत्मनेपद का प्रयोग दर्शाया है। द्वितीय में देवपूजा का अभाव द्योतित करने के लिए **उपतिष्ठति** परस्मैपद का निर्देश किया है।

प्रकरण से द्योतित होता है कि पतञ्जलि ने ये दोनों श्लोक किसी ऐसे काव्य से उद्धृत किये हैं जो लक्षणप्रधान था।

२—महाभाष्य १।३।४ में **व्यक्तवाचाम्** का प्रत्युदाहरण दिया है—**वरतनु सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः।**

यह भी किसी काव्यशास्त्र के श्लोक का एक चरण है।

३—महाभाष्य २।४।३ में

नन्दन्तु कठकालापाः।
वर्धन्तां कठकौथुमाः।
तिष्ठन्तु कठकालापाः।
उदगात् कठकालापम्।
प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम्।

ये पाँचों वचन पादबद्ध हैं और किसी एक ही ऐसे काव्यशास्त्र रूपी ग्रन्थ से संगृहीत किये गये हैं, जिसमें इस सूत्र के उदाहरण प्रत्युदाहरण निर्दिष्ट थे। भौमक के रावणार्जुनीय काव्य में इसी सूत्र के प्रकरण में अन्तिम दोनों वचन इसी वर्णानुपूर्वी में संगृहीत हैं। द्र० सर्ग ७, श्लोक ४॥

रावणार्जुनीय के सम्पादकद्वय शिवदत्त-काशीनाथ ने महाभाष्य में निर्दिष्ट उदगात् कठकालापम्, प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम् को इनके साथ पठित उदगात् कौमोदपैप्पलादम् उदाहरण की दृष्टि से पदगन्धि गद्य माना है। पूर्व निर्दिष्ट सभी उद्धरणों को देखने से यही निश्चित होता है कि ये निश्चय ही किसी काव्यशास्त्र के वचन हैं।

६—भट्ट भूम (सं० ६०० के लगभग)

भट्टभूम अथवा भूमक अथवा भीम विरचित रावणार्जुनीय अथवा अर्जुन-रावणीय[1] नाम का एक काव्यशास्त्र उपलब्ध है।

परिचय—भट्टभूम ने अपना कोई परिचय अपने ग्रन्थ में नहीं दिया। अतः इस महाकवि का वृत्त अन्धकारावृत है। मुद्रित रावणार्जुनीय के अन्त में निम्न पुष्पिका उपलब्ध होती है—

कृतिस्तत्र भवतो महाप्रभावश्रीशारदादेशान्तर्वर्त्तिवल्लभीस्थाननि-वासिनो भूमभट्टस्येति शुभम्। वल्लभीस्थानं उड्डू इति ग्रामो वराहमूलोप-कण्ठस्थितः।

---

१. मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र भाग ४ खण्ड १ A पृष्ठ ४२८१, संख्या २९५४ पर इस काव्य का एक हस्तलेख 'अर्जुनरावणीय' नाम से निर्दिष्ट है।

इससे इतना ही ज्ञात होता है कि भट्ट भूम कश्मीरी थे। इन का निवास स्थान वल्लभी था जो वराहमूल (वारामूला) के समीपवर्ती उड्डू ग्राम है।

इससे अधिक इस महाकवि के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

काल—क्षेमेन्द्र ने सुवृत्ततिलक के तृतीय विन्यास के चतुर्थ श्लोक में भूम-विरचित भौमक काव्य का साक्षात् उल्लेख किया है।[1] इससे इतना तो निश्चित है कि भट्ट भूम वि० सं० १०९० से पूर्ववर्ती अवश्य है।

'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' पृष्ठ १४२ पर सीताराम जयराम जोशी ने लिखा है—

"काशिकावृत्ति तथा क्षेमेन्द्र के सुवृत्ततिलक में इस काव्य का निर्देश मिलता है। यह कवि प्रवरसेन (ई० ५५०—६००) और ई० ६६० से पूर्व था।"

वी० वरदाचार्य ने भी रावणार्जुनीय काव्य का निर्देश काशिकावृत्ति में माना है और भीमक के रावणार्जुनीय काव्य का प्रभाव भट्ट पर स्वीकार करके इसका काल पांचवीं शती के लगभग स्वीकार किया है।[2]

हमें इस काव्य का निर्देश काशिकावृत्ति में कहीं नहीं मिला। कह नहीं सकते कि दोनों ग्रन्थकारों ने काशिका में कहीं संकेत उपलब्ध करके लिखा है अथवा अन्य ग्रन्थ का अन्धानुकरण किया है।

भट्टि और रावणार्जुनीय का पौर्वापर्य—भट्टि और रावणार्जुनीय दोनों काव्यों में कौन पूर्ववर्ती और कौन उत्तरवर्ती है, यह अन्तःपरीक्षा के आधार पर सर्वथा असम्भव है। क्षेमेन्द्र के **भट्टिभौमककाव्यादि** निर्देश में भट्टि का निर्देश पूर्वकालता के कारण है अथवा समास के पूर्व निपात नियम के कारण, यह कहना भी अति कठिन है। पुनरपि हमारा विचार है कि वी. वरदाचार्य का मत (भट्टि से भूमक की पौर्वकालिकता) इस विषय में अधिक ठीक है।

ग्रन्थनाम का कारण—इस काव्य में कार्तवीर्य अर्जुन और रावण के युद्ध का वर्णन है। इसलिए **रावणार्जुन** अथवा **अर्जुनरावण** द्वन्द्व समास से पाणिनीय ४।३।८८ के नियम से छ (=ईय) प्रत्यय होता है।[3]

---

१. भट्टिभौमककाव्यादि काव्यशास्त्रं प्रचक्षते।

२. सं० साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाचस्पति गैरोलाकृत, पृष्ठ ८५१।

३. अधिकृत्य कृते ग्रन्थे, शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः। सम्भव है इस सूत्र से 'छ' प्रत्यय की प्राप्ति देखकर ही वरदाचार्य ने रावणार्जुनीय का काशिका में निर्देश लिख दिया हो।

काव्यपरिचय—भट्ट भूम ने इस काव्य में पाणिनीय अष्टाध्यायी के स्वर वैदिक विषय के सूत्रों को छोड़कर पाणिनि सूत्रक्रम से तत्तत् सूत्रसिद्ध विशिष्ट प्रयोगों का निदर्शन कराने का प्रयत्न किया है। अष्टाध्यायी का प्रथम पाद संज्ञापरिभाषात्मक है, साक्षात् शब्द साधक नहीं है। इसलिए ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ का आरम्भ अष्टाध्यायी के द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र से किया है।

मुद्रित ग्रन्थ—आरम्भ में इस काव्य की एक ही प्रति कश्मीर से उपलब्ध हुई थी, वह भी मध्य-मध्य में त्रुटित थी। उसीसे विभिन्नकाल में की गई दो प्रतिलिपियों के आधार पर पं० काशीनाथ और शिवदत्त ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया था। इस कारण काव्यमाला (निर्णयसागर प्रेस) में प्रकाशित ग्रन्थ स्थान-स्थान पर त्रुटित है।

सम्पादक-द्वय ने इस मुद्रित ग्रन्थ में यथास्थान पाणिनीयसूत्रों का निर्देश करके इस काव्य की उपयोगिता को निस्सन्देह बढ़ा दिया है।

अन्य हस्तलेख—अब इस काव्य के दो हस्तलेख और उपलब्ध हैं। उनमें से एक मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह में है। यह हस्तलेख वासुदेवकृत टीका सहित है। द्र० सूचीपत्र भाग ४, खण्ड १ A, पृष्ठ ४२८१, संख्या २९५४। द्वितीय हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस पुस्तकालय में है। द्र० सूचीपत्र भाग २, खण्ड २, संख्या १ (लिखनी रह गई)।

इन दोनों हस्तलेखों के आधार पर इस ग्रन्थ का पुनः सम्पादन होना चाहिए।

ग्रन्थकार की भूल—भट्ट भूम ने अष्टाध्यायी २।४।३ के प्रसङ्ग में महाभाष्य में उद्धृत किसी प्राचीन काव्यशास्त्र के दो चरणों का समावेश इस ग्रन्थ में भी कर दिया है—

उदगात् कठकालापं प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम्।
येषां यज्ञे द्विजातीनां तद्विघातिभिरन्वितम् ॥ ७।४ ॥

परन्तु यह सन्निवेश ऐतिहासिक दृष्टि से भ्रान्तिपूर्ण है। कठ-कलाप-कौथुम आदि चरणों का प्रवचन द्वापर के अन्त में वेदव्यास तथा उनके शिष्यों ने किया था। कार्तवीर्य अर्जुन का काल इससे बहुत पूर्ववर्ती है। वह द्वापर के मध्य अथवा तृतीय चरण में हुआ था।[1]

१. वाल्मीकीय रामायण में भी एक स्थान पर कठ, तैत्तिरीय आदि का निर्देश उपलब्ध होता है, परन्तु वह अंश प्रक्षिप्त है।

भट्टि और रावणार्जुनीय में अन्तर—यद्यपि दोनों काव्य व्याकरणप्रधान हैं, परन्तु इन दोनों में एक मौलिक अन्तर है। भट्टिकाव्य में जहाँ व्याकरण के प्रकरण विशेषों को ध्यान में रखकर विशिष्ट पदावली का संग्रथन है वहाँ रावणार्जुनीय में अष्टाध्यायी के सूत्रपाठ क्रम से निर्दिष्ट विशिष्ट सूत्रोदाहरणों का संकलन है। इस मौलिक अन्तर की दृष्टि से भट्टि की अपेक्षा भट्टभूमक का काव्य-निर्माण कार्य अधिक क्लिष्ट और चमत्कारपूर्ण है।

इस दृष्टि से भी हमारा यही विचार है कि भूमक भट्टि से पूर्ववर्ती है।

टीकाकार-वासुदेव

सौभाग्य से रावणार्जुनीय अपरनाम अर्जुनरावणीय काव्य की वासुदेव नामा विद्वान् विरचित टीका का एक हस्तलेख मद्रास के राजकीय हस्तलेख संग्रह में विद्यमान है। द्र० सूचीपत्र भाग ४, खण्ड १ A, पृष्ठ ४२८१, संख्या २९५४।

इस हस्तलेख का आदि पाठ इस प्रकार है—

वासुदेवैकमनसा वासुदेवेन निर्मितम्।
वासुदेवीयटीकां तां वासुदेवोऽनुमन्यताम्॥

इसके अन्त का पाठ इस प्रकार है—

इति अर्जुनरावणीये रषाभ्यां पादे सप्तविंशः सर्गः।

अर्जुनरावणीयं समाप्तम्।

इस वासुदेव का निर्देश—नारायण भट्ट अथवा नारायण कवि के धातु-काव्य पर रामपाणिवाद की एक टीका का हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह में विद्यमान है। उसके आरम्भ में लिखा है—

उदाहृतं पाणिनिसूत्रमण्डलं प्राग्वासुदेवेन तदूर्ध्वतोऽपरः।
उदाहरत्यद्य वृकोदरोदितान् धातून् क्रमेणैव हि माधवसंश्रयात्॥

धातुकाव्य का रचना काल वि० सं० १६१७–१७३२ तक है। अतः इसकी टीका में उद्धृत वासुदेव सं० १६५० से तो पूर्ववर्ती अवश्य होगा।

इससे अधिक इस टीका और टीकाकार के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

संस्कृत साहित्य के इतिहास लेखकों ने भट्टभूम के रावणार्जुनीय काव्य का निर्देश तो किया है, परन्तु इस टीका का संकेत भी किसी ने नहीं किया।

७—भट्टिकाव्यकार (सं० ६००—६५०)

साहित्य तथा व्याकारण के वाङ्मय में भट्टि नामक महाकाव्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। लक्षण ग्रन्थों के अध्ययन से ग्लानि करने वाले अथवा भयभीत

संस्कृत-अध्ययनार्थी चिरकाल से भट्टि काव्य के आश्रय से संस्कृत का अध्ययन करते रहे हैं। भट्टिकाव्य पर विविध व्याकरण शास्त्रों की दृष्टि से की गई बहुविध टीका ग्रन्थों से यह स्पष्ट है कि इस काव्य का संस्कृत शिक्षण की दृष्टि से सम्पूर्ण भारत में व्यापक प्रचार रहा है। इस दृष्टि से भट्टिकाव्य का काव्य-शास्त्रों में अथवा व्याकरण-प्रधान काव्यों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भट्टिकार का नाम—भट्टिकाव्य के रचयिता का वास्तविक नाम क्या है इस विषय में कुछ मतभेद है। जटीश्वर जयदेव जयमंगल इन तीन नामों से व्यवहृत होने वाले जयमङ्गला टीका के रचयिता ने स्वटीका के आरम्भ में इस प्रकार लिखा है—

लक्ष्यं लक्षणं चोभयमेकत्र प्रदर्शयितुं श्रीस्वामिसूनुः कविर्भट्टिनामा रामकथाश्रयमहाकाव्यं चकार।

ऐसा ही इस टीकाकार ने स्वव्याख्या के अन्त में भी लिखा है। तदनुसार कवि का नाम भट्टि और उसके पिता का नाम श्रीस्वामी है।

अन्य प्रायः सभी टीकाकार भट्टिकाव्य के रचयिता का नाम भर्तृहरि लिखते हैं। यथा—

१—भर्तृहरि काव्य दीपिका का कर्ता जयमङ्गल[1] ग्रन्थ के आरम्भ में लिखता है—

कविकुलकृतिकैरवकरहाटः श्री भर्तृहरिः कविर्भट्टिकाव्यं चिकीर्षुः···।[2]

पुनः ग्रन्थ के अन्त में लिखता है—

इति भर्तृहरिकाव्यदीपिकायां जयमङ्गलाख्यायां···········।[2]

२—श्री कन्दर्पशर्मा लिखता है—

अत्र तावन्महामहोपाध्यायश्रीभर्तृहरिकविना शब्दकाव्ययोर्लक्षणलक्षितानि·····।[3]

---

१. यह जयमङ्गल पूर्वनिर्दिष्ट जयमङ्गल से भिन्न व्यक्ति है।

२. इण्डिया आफिस लायब्रेरी सूचीपत्र भाग १ खण्ड २ संख्या ९२१, ९२२।

३. इण्डिया आफिस लायब्रेरी का सूचीपत्र भाग १ खण्ड २ संख्या ९२१ के आगे।

३—भट्टिचन्द्रिका का रचयिता विद्याविनोद लिखता है—

अत्र कविना श्रीधरस्वामिसूनुना भर्तृहरिणा सर्गबन्धो महाकाव्य-लक्षणसूचनाय ···।[1]

४—व्याख्यासार नाम्नी टीका का अज्ञातनामा लेखक लिखता है—

अथाशेषविशेषेण बालान् व्युत्पिपादयिषुः श्रीमद्भर्तृहरिकृतस्य रामायणानुयायि-भट्ट्याख्याग्रन्थस्य······।[2]

५—भट्टिबोधिनी टीका का लेखक हरिहर लिखता है—

परिवृढयन् भर्तृहरिःकाव्य प्रसंगेन······।

६—मल्लिनाथ भी भट्टिकाव्य को भर्तृहरि की रचना मानता है।

इसी प्रकार अन्य टीकाकारों का भी यही मत है।

भट्टिकाव्य के टीकाकारों के अतिरिक्त कतिपय अन्यग्रन्थकारों ने भी भट्टिकाव्य को भर्तृहरि के नाम से उद्धृत किया है। यथा—

७—पंचपादी उणादि वृत्तिकार श्वेतवनवासी लिखता है—

क—तथा च भर्तृकाव्ये प्रयोगः—'भुवनहितच्छलेन' (भट्टि १।१) इति। उणादि २।८०, पृष्ठ० ८३।

ख—तथा च भर्तृकाव्ये प्रयोगः—

'सम्प्राप्य तीरं तमसापगायाः गङ्गाम्बुसम्पर्कविशुद्धिभाजः' (भट्टि-३३९।) इति। उणादि ३।१११, पृष्ठ १२६।

इन दोनों उद्धरणों में प्रथम का यद्यपि भट्टिकाव्ये पाठान्तर मिलता है तथापि द्वितीय उद्धरण में पाठान्तर न होने से स्पष्ट है कि श्वेतवनवासी भट्टिकाव्य को भर्तृहरि की कृति मानता है।

८—हरिनामामृत व्याकरण के १४६३ वें सूत्र की वृत्ति में लिखा है—

फलेग्रहिन् हंसि वनस्पतीन् इति भर्तृहरिविप्रः।

यह पाठ भट्टिकाव्य २।३ में मिलता है।

नाम का निर्णय—हमारे विचार में दोनों नामों में मूलतः कोई भेद नहीं है। भट्टि यह नाम भर्तृहरि के एक देश भर्तृ का ही प्राकृत रूप है। अन्य भर्तृहरि नाम के लेखकों से व्यावृत्ति के लिए इस भर्तृहरि के लिए ग्रन्थकारों ने भर्तृ शब्द के प्राकृत भट्टिरूप का व्यवहार किया है।

---

१. वही। २. वही।

अनेक भर्तृहरि—महाकवि कालिदास के समान भर्तृहरि नाम के भी कई विद्वान् हो चुके हैं। एक प्रधान वैयाकरण वाक्यपदीय का तथा महाभाष्य-दीपिका का रचयिता भर्तृहरि है। दूसरा भट्टिकाव्य का कर्त्ता है। तीसरा भागवृत्ति का लेखक है। इन तीनों के नामसादृश्य से उत्पन्न होने वाले भ्रम को दूर करने के लिए अर्वाचीन वैयाकरणों ने अत्यधिक सावधानता वर्ती है। वाक्यपदीयकार आद्य भर्तृहरि के उद्धरण ग्रन्थकारों ने सर्वत्र हरि अथवा भर्तृहरि के नाम से उद्धृत किए हैं। भट्टिकाव्य के उद्धरण प्रायः सर्वत्र भट्टि नाम से निर्दिष्ट हैं (केवल श्वेतवनवासी ने भर्तृकाव्य का व्यवहार किया है)। भागवृत्ति के उद्धरण सर्वत्र भागवृत्ति, भागवृत्तिकृत् अथवा भागवृत्तिकार के नाम से उल्लिखित किए गये हैं। इस प्रकार तीनों भर्तृहरि के उद्धरणों में उद्धृत ग्रन्थकारों ने कहीं पर भी साङ्कर्य नहीं होने दिया।

तीनों भर्तृहरि के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ २६४-२७० (प्र० संस्क०) तक विस्तार से लिख चुके हैं, अतः यहां विस्तार नहीं करते।

परिचय—प्रसिद्ध जयमङ्गलाटीका में महाकवि भट्टि के पिता का नाम श्री स्वामी लिखा है, परन्तु भट्टिचन्द्रिका के रचयिता 'विद्याविनोद ने श्रीधर स्वामी नाम का निर्देश किया है। हमें श्री स्वामी पूरा नाम प्रतीत नहीं होता अतः श्रीधर स्वामी पिता का नाम अधिक युक्त प्रतीत होता है।

भट्टिकाव्य के अन्तिम श्लोक से विदित होता है कि भट्टिकार गुजरात अन्तर्वर्ती वलभी नगरी का निवासी था।

काल—भट्टिकार ने अन्तिम श्लोक में लिखा है—

काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्

वलभी में श्रीधर सेन नाम के ४ राजा हुए हैं। उनका काल. वि० सं० ५५० से ७०५ तक है। इनमें से किस श्रीधर सेन के काल में भट्टिकाव्य लिखा गया यह कहना कठिन है। भागवृत्ति के व्याख्याकार सृष्टिधर के वचनानुसार भागवृत्ति की रचना भी वलभी के किसी श्रीधर सेन नाम के नरेन्द्र के काल में हुई है। हमार विचार है कि भागवृत्ति की रचना चतुर्थ श्रीधर सेन के काल (सं० ७०२–७०५) में हुई और भट्टिकाव्य की रचना तृतीय श्रीधर सेन के राज्य काल (सं० ६६०–६७७) में हुई। संस्कृत-कविदर्शन के लेखक डां० भोलाशंकर व्यास ने भट्टिकाव्य की रचना द्वितीय श्रीधर सेन के समय में मानी है (पृष्ठ १४३), परन्तु अन्त में समय ६१० ई०–६१५ ई०

(६६७ वि०—६७२ वि०) लिखा है। द्वितीय श्रीधर सेन का काल लगभग ६२८ वि०—६४६ वि० (५७१ ई०—५८९ ई०) तक है।

भट्टि और भामह—भट्टि और भामह ने अलंकारों का जो क्रम अपने अपने ग्रन्थों में दिया है उसमें बहुत समानता है। ऐसी कुछ समानता भामह और दण्डी के क्रम में भी है। अतः इस समानता मात्र से दोनों के पौर्वापर्य के विषय में कुछ निश्चय नहीं हो सकता।

अलङ्कार क्रम के सादृश्य के अतिरिक्त दोनों ग्रन्थकारों के एक पद्य में भी अद्भुत समानता है। यथा—

भामह का पद्य है—

काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवस्सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः॥ २।३०॥

भट्टि का कथन—

व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवस्सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियचिकीर्षया॥ १२।३४॥

इस समानता से स्पष्ट है कि कोई एक दूसरे का अनुकरण कर रहा है। कीथ ने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ में भट्टि को भामह से पूर्ववर्ती माना है और भट्टि के व्याख्यागम्यमिदं काव्यं श्लोक की भामह द्वारा की गई प्रतिध्वनि को भद्दे ढंग से दोहराना कहा है। इसी प्रकार भट्टि द्वारा प्रस्तुत अलंकारों की सूची को दण्डी और भामह की अलंकार सूचियों से मौलिकतापूर्ण कहा है।[1]

इसके विपरीत 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' के लेखक कन्हैयालाल पोद्दार का मत है कि भामह भट्टि का पूर्ववर्ती है। भामह ने उक्त श्लोक में यमक और प्रहेलिका अलंकारों का निर्देश करने के अनन्तर उक्त प्रकार के क्लिष्ट काव्यों की निन्दा की है, परन्तु भट्टि ने अपने ग्रन्थ के अन्त में भामह द्वारा निन्दित क्लिष्ट काव्य की प्रशंसा में उक्त वचन कहा है। इतना ही नहीं भट्टि ने भामह के उत्सुवस्सुधियामेव के स्थान पर उत्सवस्सुधियामलम् में एव के स्थान में अलम् का निर्देश करते हुए क्लिष्ट काव्य रचना का प्रयोजन विद्वत्-प्रियचिकीर्षया बताया है।[2] इतना ही नहीं, इससे पूर्ववर्ती—

१. द्रष्टव्य, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १४१, १४२।
२. कन्हैयालाल पोद्दार सं० सा० का इतिहास भाग १, पृष्ठ १०२-१०४

दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तामर्ष इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते ॥

श्लोक में भी वैयाकरणों के लिए ही काव्य रचना करने का संकेत किया है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि भट्टि भामह से परवर्ती है। भामह का काल वि० सं० ६८७ से पर्याप्त पहले है। सं० ६८७ वि० के समीपवर्ती स्कन्दमहेश्वर ने निरुक्त टीका १०।१६ में भामह का "तुल्यश्रुतीनां''तन्निरुच्यते (२।१७) का वचन उद्धृत किया है। न्यास के सम्पादक ने भामह के अलंकार शास्त्र के शिष्टप्रयोगमात्रेण न्यासकारमतेन वा वचन में न्यासकार नाम देखकर भामह का काल सन् ७७५ ई० (सं ८३२ वि०) माना है। सम्भवतः कीथ ने भी भामह द्वारा न्यासकार का उल्लेख होने से भट्टि को भामह से पूर्ववर्ती सिद्ध करने की चेष्टा की है। वस्तुतः यह मत चिन्त्य है। काशिका व्याख्या न्यास से पूर्व भी व्याकरण इतिहास में अनेक न्यास प्रसिद्ध थे।[1]

भट्टिकाव्य का नाम—भट्टिकाव्य का वास्तविक नाम रावणवध काव्य है।

टीकाकार

भट्टिकाव्य पर अनेक व्याख्याकारों ने टीका ग्रंथ लिखे हैं। इनमें निम्न प्रसिद्ध हैं—

(१) जटीश्वर-जयदेव-जयमंगल (सं० १२२९ से पूर्व)

जटीश्वर जयदेव जयमङ्गल इन तीन नामों वाले वैयाकरण नें भट्टिकाव्य पर **जयमङ्गला** नाम्नी एक सुंदर व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या पाणिनीय व्याकरण के अनुसार है।

काल—जयमङ्गल का काल अज्ञात है। इस व्याख्या को दुर्घटवृत्तिकार शरणदेव ने अनेक स्थानों पर उद्धृत किया है। इसलिए इस व्याख्याकार का काल सं० १२२९ से पूर्व है, इतना ही सामान्य रूप से कहा जा सकता है।

१. विशेष द्रष्टव्य सं० व्या० इतिहास भाग १, पृष्ठ ३६४–३६५ (प्र०सं०)

(२) मल्लिनाथ (सं० १२६४ से पूर्व)

काव्य ग्रन्थों के टीकाकार के रूप में मल्लिनाथ अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसने भट्टिकाव्य पर भी व्याख्या लिखी है।

काल—मल्लिनाथ के काल के विषय में हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ३६७ (प्र० संस्क०) पर लिखा है कि "मल्लिनाथ विक्रम की १४ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध का या उससे पूर्ववर्ती है, इतना सामन्यतया कहा जा सकता है।"

अब मल्लिनाथ का काल कुछ निश्चित सा हो गया है। जयानन्द सूरि के शिष्य अमरचन्द्र सूरि विरचित हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि के पृष्ठ १५४ पर मल्लिनाथ कृत न्यासोद्योतन ग्रन्थ स्मृत है। हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि का काल ग्रन्थ के अन्त में सं० १२६४ श्रावण सुदि ३ रवि अङ्कित है। अतः मल्लिनाथ वि० सं० १२६४ से निश्चय ही पूर्ववर्ती है।

मल्लिनाथ कृत न्यासोद्योतन ग्रन्थ के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ३६६ (प्र० संस्क०) पर लिख चुके हैं।

(३) जयमङ्गल

भट्टिकाव्य पर जयमंगल नाम के वैयाकरण ने दीपिका अथवा जयमंगला नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसका हस्तलेख इण्डिया आफिस लन्दन के संग्रह में है। द्र० सूची पत्र, भाग १, खण्ड २, संख्या ९२१।

इस वृत्ति के आरम्भ में लिखा है—

तनुते जयमङ्गलः कृती निजनामाभिधभट्टिटिप्पणीम्।

अन्त में पाठ है—

इति भर्तृहरिकाव्यदीपिकायां जयमङ्गलाख्यायां…… ।

यह जयमङ्गल पूर्व निर्दिष्ट जटीश्वर जयदेव जयमङ्गल तीन नाम वाले व्यक्ति से भिन्न है।

(४) अज्ञात नामा

भट्टिकाव्य पर किसी अज्ञात नामा विद्वान् ने एक व्याख्या लिखी है। इसका नाम व्याख्यासार है। मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र में यह पुस्तक भट्टिकाव्यस्थूलव्याख्यासार नाम से निर्दिष्ट है। द्र० भाग ९, पृष्ठ ७६६१, सं० ५७१०।

इसके आरम्भ का निम्न पाठ सूचीपत्र में उद्धृत है—

अथाशेषविशेषेण बालान् व्युत्पिपादयिषुः श्रीभर्तृहरिकृतस्य रामायणानुयायिभट्टव्याख्याग्रन्थस्य विषयसंख्याच्छन्दसां प्रकाशेन तद्ग्रन्थस्य व्याख्यायां कस्यचिज्जनवरस्यातिशयानुरागस्समजनि। अनन्तरं च तदभिप्रायविदा केनचिद् विप्रेण तदादिष्टेन च तद्ग्रन्थस्य व्याख्यासंपर्केण व्याख्यासाराभिधो ग्रन्थस्समकारि।

इस से अधिक इस टीकाकार के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं।

(५) रामचन्द्रशर्मा

रामचन्द्र शर्मा नाम के विद्वान् ने सौपद्म व्याकरण के अनुसार भट्टिकाव्य की व्याख्यानन्द नाम्नी टीका लिखी है।[1] ग्रन्थकार स्वयं लिखता हैं—

नत्वा श्रीनयनानन्दचक्रवर्तिपदाम्बुजम्।
व्याख्यानन्दो मया ग्रन्थस्तन्यते यत्प्रसादतः॥
वारेन्द्रवंशसंभूतश्रीरामचन्द्र शर्मणा।
तन्यते भट्टिकाव्यस्य टीकेयं स्वानुकारिणी॥
सौपद्मका नवं मूलं शिष्यान् बोधायितुं मया।
रचिता बहुशो यत्नात् सुधीभिर्दृश्यतामियम्॥

इस उपन्यास से स्पष्ट है कि रामचन्द्र शर्मा वारेन्द्र वंश संभूत था और इस के गुरु का नाम नयनानन्द चक्रवर्ती था।

(६) विद्याविनोद

विद्याविनोद नाम के विद्वान् ने भट्टिकाव्य पर भट्टिचन्द्रिका नाम्नी व्याख्या लिखी है। इस ग्रन्थ के आरम्भ का पाठ इस प्रकार है—

वन्दे दूर्वादलश्यामं रामं राजीवलोचनम्।
जानकीलक्ष्मणोपेतं भक्त्याभीष्टफलप्रदम्॥
नत्वा तातपदद्वन्द्वं ज्ञात्वा ग्रन्थकृदाशयम्।
विद्याविनोदः कुरुते टीकां श्रीभट्टिचन्द्रिकाम्॥

---

१. यहां से आगे उल्लिखित टीका ग्रन्थों का संग्रह मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह में 'भट्टिकाव्य व्याख्या षट्कोपेतम्' के नाम से निर्दिष्ट है। द्र० सूचीपत्र भाग ९, पृष्ठ ७६९२, संख्या ५७१२

(७) कन्दर्पशर्मा

कन्दर्पशर्मा ने सौपद्म प्रक्रियानुसार भट्टिकाव्य की टीका लिखी है। वह ग्रन्थ के आरम्भ में लिखता है—

सौपद्मानां प्रीतये भट्टिकाव्ये टीकां धीरकन्दर्पशर्मा।
....॥
विद्यासागरटीकायां कातन्त्रप्रक्रिया यतः।
सुपद्मप्रक्रिया तस्मात् तस्मादेव प्रणीयते॥

(८) पुण्डरीकाक्ष-विद्यासागर

पुण्डरीकाक्ष विद्यासागर नाम के वैयाकरण ने भट्टिकाव्य पर कातन्त्र=कलाप व्याकरण के अनुसार कलापदीपिका नाम्नी व्याख्या लिखी है। उसने ग्रन्थ के आरम्भ में स्वयं लिखा है—

नत्वा शंकरं चरणं ज्ञात्वा सकलं कलापतत्त्वं च।
दृष्ट्वा पाणिनितन्त्रं वदति श्रीपुण्डरीकाक्षः॥
पाणिनीयप्रक्रियायां मे प्रसिद्धत्वान्न कौतुकम्।
कलापप्रक्रिया तस्मादप्रसिद्धात्र कथ्यते॥

अन्त में इस प्रकार है—

इति महामहोपाध्याय श्रीमच्छ्रीकान्तपण्डितात्मजश्रीपुण्डरीकाक्ष विद्यासागरभट्टाचार्ये कृतायांभट्टिटीकायां कलापदीपिकायां.........।

इससे इतना ही विदित होता है कि पुण्डरीकाक्ष के पिता का नाम 'श्रीकान्त' था। पूर्वनिर्दिष्ट कन्दर्पशर्मा द्वारा स्मृत विद्यासागर यही पुण्डरीकाक्ष विद्यासागर है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

(९) हरिहर

हरिहर आचार्य ने भट्टिकाव्य पर भट्टिबोधिनी नाम्नी व्याख्या लिखी है। उसके आरम्भ में वह स्वयं लिखता है—

नत्वा रामपदद्वन्द्वमरविन्दभवच्छिदम्।
द्विजो हरिहराचार्यः कुरुते भट्टिबोधिनीम्॥

पूर्वग्रामिकुले कलानिधिनिभं कृत्वा सुमेरुस्थितो भ्राता तस्य जयधरो द्विजवरो वाणेश्वरस्तत्सुतः।..............'परिवृढयन् भर्तृहरिः काव्यप्रसंगेन........।

(१०) भरतसेन

भरतसेन ने मुग्धबोध प्रक्रिया के अनुसार भट्टिकाव्य पर एक टीका लिखी है।

८—हलायुध (सं० ९७५-१०५०)

हलायुध ने कविरहस्य नाम का एक काव्यशास्त्र लिखा है। इसमें धातुओं के रूपों का विशेष निर्देश किया गया है।

परिचय—हलायुध राष्ट्रकूट के तृतीय कृष्णराजा (सं० ९९७–१०१३) का सभापण्डित था। पिङ्गल छन्दः सूत्र की मृतसञ्जीवनी टीका में वाक्पतिराज (सं० १०३१–१०५२) मुञ्ज की प्रशंसा पर इसके अनेक श्लोक उपलब्ध होते हैं। अतः प्रतीत होता है कि हलायुध राष्ट्रकूट के तृतीय कृष्णराजा के स्वर्गवास के उपरान्त मुंज की सभा में चला गया था। अतः हलायुध का काल सामान्यतया सं० ९७५–१०५० तक माना जा सकता है।

हलायुध ने कविरहस्य के आरम्भ में अपने को

धातुपारायणाम्भोधिपारोत्तीर्णधीः।

कहा है। यह विशेषण सत्य है, यह उसके काव्य के अध्ययन से व्यक्त है। इस काव्य में २७४ श्लोक हैं।

अन्य नाम—इस कविरहस्य के कविगुह्य और अपशब्दाख्यकाव्य भी नामान्तर हैं।

अन्य ग्रन्थ—हलायुध के दो ग्रंथ और प्रसिद्ध हैं—एक पिङ्गलछन्द सूत्र टीका मृतसञ्जीवनी और दूसरा अभिधानरत्नमाला नामक कोश।

टीकाकार

इस काव्य पर दो टीकाएँ उपलब्ध होती हैं।

९—हेमचन्द्राचार्य (सं० ११४५-१२२९)

आचार्य हेमचन्द्र ने स्वीय शब्दानुशासन के संस्कृत और प्राकृत दोनों प्रकार के लक्षणों के लक्ष्यों को दर्शाने के लिए एक महाकाव्य लिखा है। इसका नाम है कुमारपालचरित। इसके प्रारम्भ के २० सर्ग संस्कृत में हैं और अन्त के ८ सर्ग प्राकृत में, इसलिए इसे द्व्याश्रय काव्य भी कहते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र के देशकाल आदि के संबंध में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४४८—४९२ (प्र० सं०) तक विस्तार में लिख चुके हैं। पाठक इस विषय में वहीं देखें।

१०—नारायण [ब्रह्मदत्त सूनु] (१५ वीं शती से पूर्व)

ब्रह्मदत्त के पुत्र नारायण कवि ने सुभद्राहरण नाम का एक काव्यशास्त्र लिखा है। इस काव्य के दो हस्तलेख मद्रासराजकीय हस्तलेख संग्रह में विद्यमान हैं। द्र० सूचीपत्र भाग ३ खण्ड १. C. पृष्ठ ३८८३ सं० २७२० तथा भाग ५, खण्ड १. B. पृष्ठ ६३५८ संख्या ४३२३।

द्वितीय हस्तलेख के प्रथम सर्ग के अन्त में निम्न पाठ है—

ब्रह्मदत्त (सूनु) नारायण विरचितं व्याकरणोदाहरणे सविवरणे सुभद्राहरणे प्रकीर्णकाण्डं प्रथमः सर्गः.........।

काव्य का परिचय—इस काव्य में १६ सर्ग हैं। अष्टाध्यायी के क्रम से सूत्रों के उदाहरणों को ध्यान में रखकर कवि ने इस काव्य की रचना की है। कुछ प्रकरणों के नाम इस प्रकार हैं—

६—अव्यय कृद्विलसित (अष्टा० ३।४ पूर्वार्ध)

७—प्राग्दीव्यतीय विलसित (अष्टा० ४।१—३)

८—प्राग्वहतीयादि विलसित (अष्टा० ४।४।१—५।३।.........)

९—स्वार्थिकप्रत्ययादि विलसित (अष्टा० ५।३—४)।

काल—इस काव्य में भट्टभूम के सदृश पाणिनीय सूत्र क्रम का आश्रयण करने से स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ की रचना पाणिनीय सम्प्रदाय में प्रक्रिया ग्रन्थों के पठनपाठन में व्यवहृत होने से पूर्व हुई है। इसलिए यह ग्रन्थ १५ वीं शती से पूर्व का होगा।

विवरणकार

इस काव्य पर ग्रन्थकार ने स्वयं विवरण लिखा है, यह पूर्व निर्दिष्ट वचन से स्पष्ट है।

इस काव्य और इसके रचयिता के विषय में इससे अधिक हम कुछ नहीं जानते।

११—वासुदेव कवि

किसी वासुदेव नामा विद्वान् विरचित **वासुदेव चरित** अथवा **वासुदेव विजय** नाम का एक काव्यशास्त्र मिलता है।

अनेक वासुदेव—वासुदेव नाम के अनेक कवि हो चुके हैं। एक वासुदेव भट्टभूम विरचित रावणार्जुनीय काव्य का व्याख्याता है (इसके विषय में पूर्व लिख चुके हैं)। दूसरा वासुदेव कवि युधिष्ठिरविजय काव्य का रचयिता है। इनके अतिरिक्त अन्य भी कतिपय वासुदेव नामा कवि हो चुके हैं।

कीथ की भूल—कीथ ने अपने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ के (हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ १६४ टि० ३ में वासुदेव विजय और युधिष्ठिर विजय के रचयिता दो सनामा कवियों को एक बना दिया है, यह उस की प्रत्यक्ष भूल है। दोनों के ग्रन्थों की रचना-शैली इतनी भिन्न-भिन्न है कि दोनों को एक किसी प्रकार नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' के लेखकद्वय ने इन दोनों ग्रन्थों के रचयिताओं को कश्मीर देश-वासी मानते हुए भी इनके पार्थक्य के विषय में जो कुछ लिखा है (द्र० पृष्ठ १७६–१७७) वह सर्वथा ठीक है।

वासुदेव चरित—इस काव्य में ६ सर्ग हैं। अन्त के तीन सर्गों को धातुकाव्य भी कहा जाता है।

संस्कृत मेन्युस्क्रप्ट्स् प्राइवेट लायब्रेरी साऊथ इण्डिया के सूचीपत्र में ग्रन्थ क्रमाङ्क २६२१, २८९० पृष्ठ २३८, २५६ पर धातुकाव्य के दो हस्तलेख निर्दिष्ट हैं। वहाँ इनके रचयिता का नाम नारेरी वासुदेव अङ्कित है।

ये दोनों हस्तलेख वासुदेव विजय के उत्तरार्ध के ही हैं अथवा स्वतन्त्र ग्रन्थ है, यह कहना कठिन है।

अन्य धातुकाव्य—नारायण कवि कृत भी एक धातुकाव्य है। इसका वर्णन आगे किया जाएगा।

वासुदेव विजय के रचयिता वासुदेव कवि के विषय में हमें इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं।

१२—नारेरी वासुदेव

वासुदेव कवि के प्रसंग में हम लिख चुके हैं कि संस्कृत मेन्युस्क्रप्ट्स् प्राइवेट लायब्रेरी साऊथ इन्डिया के सूचीपत्र में नारेरी वासुदेव विरचित धातु-काव्य के दो हस्तलेख निर्दिष्ट हैं।

यह नारेरी वासुदेव वासुदेवविजय के ग्रन्थकार वासुदेव कवि से भिन्न है अथवा अभिन्न, इस विषय में हम निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कह सकते।

१३—नारायण कवि (सं० १६१७-१७३३ ?)

नारायण कवि ने धातुपाठ के उदाहरणों को लक्ष्य में रखकर धातुकाव्य की रचना की। अपाणिनीयप्रामाणिकता के सम्पादक ने धातुकाव्य का रचयिता प्रक्रियासर्वस्व और अपाणिनीयप्रामाणिकता आदि विविध ग्रन्थों का लेखक नारायण भट्ट है, ऐसा कहा है। यदि धातुकाव्य का रचयिता नारायण कवि नारायण भट्ट ही हो तो इसका काल सं० १६१७-१७३३ के मध्य होना चाहिए।[1]

इस काव्य का एक सव्याख्य हस्तलेख मद्रासशासकीय हस्तलेख संग्रह में विद्यमान है।[2] इसके आरम्भ का लेख इस प्रकार है—

उदाहृतं पाणिनिसूत्रमण्डलं प्राग्वासुदेवेन तदूर्ध्वतोऽपरः।
उदाहरत्यद्य वृकोदरोदितान् धातून् क्रमेणैव हि माधवसंश्रयात्॥

अर्थात्—पहले वासुदेव ने पाणिनि के सूत्रमण्डल को उदाहृत किया, उसके पश्चात् मैं वृकोदर (भीमसेन) कथित धातुओं को माधव (माधवीया धातुवृत्ति) के आश्रय से उदाहृत करता हूँ।

इस श्लोक में निर्दिष्ट वासुदेव कौन है, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। तथापि हमारा विचार है कि यह भट्टभूम विरचित रावणार्जुनीय काव्य का व्याख्याता वासुदेव है।

व्याख्याकार—रामपाणिपाद

मद्रास के सूचीपत्र में उक्त सव्याख्य धातुपाठ के व्याख्याता का नाम राम पाणिपाद निर्दिष्ट है।

इससे अधिक नारायण कवि के धातुकाव्य तथा उसके व्याख्याता के विषय में हम कुछ नहीं जानते

---

१. द्र० इसी ग्रन्थ का प्रथम भाग पृष्ठ ३९२, ३९३ (प्र० संस्क.)

२, द्र० सूचीपत्र भाग ४, खण्ड १८। इस हस्तलेख की क्रमसंख्या तथा सूचीपत्र की पृष्ठ संख्या का निर्देश करना हम भूल गए। परन्तु क्रमसंख्या ३६८२ पृष्ठ संख्या ५४५१ से कुछ पूर्व है इतना निश्चित है।

उपसंहार

हमने "संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास" ग्रन्थ के द्वितीय भाग में संस्कृत शब्दानुशासनों से साक्षात् संबद्ध धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ, परिभाषापाठ, लिङ्गानुशासन तथा व्याकरणशास्त्र से समान्यरूप से संबद्ध फिट्सूत्र, प्रातिशाख्य, दार्शनिक ग्रन्थ, व्याकरणप्रधान काव्यशास्त्र के प्रवक्ता, रचयिता और व्याख्याताओं का वर्णन किया है। इस प्रकार यह व्याकरण शास्त्र का इतिहास दो भागों में पूर्ण हुआ है।

इत्यजयमेरु (अजमेर) मण्डलान्तर्गत विरञ्च्यावासाभिजनेन
श्रीयमुनादेवीगौरीलालाचार्ययोरात्मजेन पदवाक्यप्रमाणं-
ज्ञमहावैयाकरणानां श्रीब्रह्मदत्ताचार्याणामन्तेवासिना
भारद्वाजगोत्र-त्रप्रवरेण वाजसनेय-चरणेन
माध्यन्दिनिना

युधिष्ठिर-मीमांसकेन

विरचिते

संस्कृत व्याकरण शास्त्रेतिहासे

द्वितीयो भागः

पूर्तिमगात्

शुभं भवतु लेखकपाठकयोः

संशोधन परिवर्तन परिवर्धन

पृष्ठ १, पंक्ति १० के आगे परिवर्धन—

बुद्धिसागर का व्याकरण पञ्चग्रन्थी कहाता है। द्र० सं० व्या० इतिहास, भाग १ पृष्ठ ४४६ (प्र० सं०)।

पृष्ठ २, पंक्ति १२ से आगे परिवर्धन—

व्याडीय परिभाषा सूचन की व्याख्या में लिखा है—

उपदेशो नाम सूत्रपाठः खिलपाठः। (परिभाषा संग्रह, पृष्ठ ५)

न्यासकार ६।१।१८६ में लिखता है—

उपदिश्यत इत्युपदेशः। शास्त्रवाक्येषु खिलपाठे च·········।

भर्तृहरि ने भी महाभाष्य दीपिका में खिलपाठ शब्द का प्रयोग किया है—

नहि उपदिशन्ति खिलपाठे·········। पृष्ठ १४९।

यहाँ पर खिलपाठ शब्द का व्यवहार उणादि पाठ के लिए किया है।

पृष्ठ १२, पंक्ति ८, ९, १० के स्थान में निम्न प्रकार पढ़ें—

तथापि वे तात्कालिक वैयाकरण मत के अनुसार औणादिक शब्दों को रूढ़ मानते हुए भी उन्हें व्युत्पन्न मानते थे। अतएव पाणिनि ने शन्तनु आचार्य के समान रूढ़ प्रातिपदिकों के स्वरज्ञान के लिए प्रातिपदिक स्वरलक्षण का निबन्धन अष्टाध्यायी में नहीं किया। यदि वे रूढ़ शब्दों को अव्युत्पन्न मानते तो वे भी शन्तनु आचार्य के फिट् सूत्रों के समान अव्युत्पन्न प्रातिपदिक के स्वरबोधक लक्षणों की रचना अवश्य करते।

कात्यायन और पतञ्जलि दोनों ही रूढ़ शब्दों को अव्युत्पन्न मानते थे। उन्होंने स्वमंत को पाणिनि सम्मत दर्शाते हुए लिखा है—

पृष्ठ २६, पंक्ति ८ से आगे परिवर्धन—

काशकृत्स्न धातुपाठ के सदृश हैम धातुपाठ में भी ९ ही गण हैं। उसमें भी ह्वादि अदादि के अन्तर्गत है।

पृष्ठ २६, पंक्ति ११ से आगे परिवर्धन—

काशकृत्स्न धातुपाठ में धातुनिर्देश का जो क्रम है, वही क्रम चान्द्र और हैम धातुपाठों में भी देखा जाता है।

पृष्ठ ४६, पंक्ति २५, २६ संशोधन—

महाभारत का श्लोक इस प्रकार पढ़ें—अभियुक्तस्तु को राजा'.........।

पृष्ठ ४६, पंक्ति २९ में 'हुआ है' से आगे इस प्रकार पढ़ें—

दो अर्थों में से एक अर्थ का शेष रह जाना अर्थापकर्ष नहीं कहा जा सकता।

पृष्ठ ४७, पंक्ति २७ से आगे परिवर्धन—

हरदत्त पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ८१३ में लिखता है—

येषां त्वपाणिनीयोऽर्थनिर्देश इति पक्षः।

पृष्ठ ४९, पंक्ति १ से पूर्व परिवर्धन—

हमने हरदत्त की पदमञ्जरी का जो वचन ऊपर उद्धृत किया है उससे ज्ञात होता है कि हरदत्त स्वयं धात्वर्थ निर्देश को पाणिनीय मानता है। अन्यथा वह येषां पद का निर्देश न करता।

पृष्ठ ५२, पंक्ति २५ पर इस प्रकार पढ़ें—

लघु सुश्रुत, मध्य सुश्रुत और वृद्ध सुश्रुत।

पृष्ठ ६८ पंक्ति २४ के आगे परिवर्धन—

स्नाति स्नायत्याप्लवते इति चाख्यातनिघण्टुः। दैव पुरुषकार पृष्ठ २३।

पृष्ठ ६९ पंक्ति २८ क्रियाकोश के सम्बन्ध में—

क्रियाकोश के अन्त में पाठ है—

इति विश्वनाथसूनुरामचन्द्रविरचिते क्रियाद्वितीयः काण्डः समाप्तः।

यह काशी के जैन प्रभाकर यन्त्रालय में छपा था। उपलब्ध प्रति में मुख-पृष्ठ न होने से मुद्रण का काल अज्ञात है।

रामचन्द्र ने यह क्रियाकोश भट्टमल्ल विरचित आख्यातचन्द्रिका के आधार पर रचा था। ग्रन्थकार स्वयं लिखता है—

क्रियाकोशं भट्टमल्लो यद्यपीमं व्यदधात् पुरा।
तथापि तेषु संचित्य क्रिया भूरिप्रयोगिणी।
कोशोऽयमतिसंक्षिप्तो व्यदधात् बालबुद्धये॥

पृष्ठ ७८, पंक्ति ५ से आगे—

प्रक्रियासर्वस्व में नाथ शब्द से दण्डनाथ के पाठ बहुधा उद्धृत हैं। द्रष्टव्य—मद्रास संस्करण (तद्धित भाग) सूत्र ६४, २१९, ५३४, ५७२, ७९५, ९९४, १०१०, १०२१, १०२३। अतः सम्भव है यह नाथीय वृत्ति दण्डनाथ विरचित भोजीय धातुपाठ की हो।

पृष्ठ ८३, पंक्ति १६ से आगे—

क्षीर स्वामी की निपाताव्ययोपसर्गवृत्ति वेङ्कटेश्वर प्राच्यग्रन्थावली (सं० २८) तिरुपति से सन् १९५१ में प्रकाशित हो चुकी है। इसके सम्पादक अप्पल सोमेश्वर शर्मा हैं।

भट्ट क्षीरस्वामिकृत मूल ग्रन्थ सूत्रबद्ध है और उस पर तिलक की टीका है।

पृष्ठ ८५, पंक्ति २३— आक्रमण के स्थान में आश्रयण पढ़ें।

पृष्ठ ९७, पंक्ति ८ से आगे--

पं० रामअवध पाण्डेय (काशी) ने २०।१२।६१ के पत्र में सूचना भेजी है कि कातन्त्र धातुपाठ के दो प्रकार के पाठ मिलते हैं।

पृष्ठ ९७, पंक्ति १७—कर्त्रभिप्राय के स्थान में अकर्त्रभिप्राय पढ़ें।

पृष्ठ १०२, पंक्ति १२—चन्द्रेण के स्थान में चान्द्रेण पढ़ें।

पृष्ठ १०२, पंक्ति २० —नाम का के स्थान में नाम से पढ़ें।

पृष्ठ १०६, पंक्ति २८—तीनों टिप्पणियों में वही के स्थान में सं० व्या० शास्त्र का इतिहास पढ़ें।

पृष्ठ १०९, पंक्ति १—तदेतन्मोघायाम् के स्थान में तदेतदमोघायां पढ़ें।

पृष्ठ १११, पंक्ति २५ से आगे—

हेमचन्द्र के धातुपाठ में काशकृत्स्नीय धातुपाठ के समान ९ गण तथा प्रतिगण परस्मैपद आत्मनेपद उभयपद आदि का विभाग है।

'श्री जैन सत्यप्रकाश' वर्ष ७ दीपोत्सवी अङ्क पृष्ठ ८८ पर हैम व्याकरण संबन्धी पुण्य सुन्दर गणि के स्वरवर्णानुक्रम युक्त धातुपाठ का निर्देश है।

पृष्ठ ११२ पङ्क्ति २ में इस प्रकार पढ़ें—······धातुपाठ पर ५६०० श्लोक परिमाण स्वोपज्ञ धातुपारायण नाम की·········।

पृष्ठ ११२, पङ्क्ति ४ से आगे—

धातुपारायण संक्षेप—हेमचन्द्र आचार्य ने अपने धातुपारायण का संक्षेप भी किया है। इसे लघुधातुपारायण कह सकते हैं। द्र० श्री जैन सत्यप्रकाश, वर्ष ७ दीपोत्सवी अंक, पृष्ठ ९७।

पृष्ठ ११२, पंक्ति ७ में बढ़ावें—

क्रियारत्नसमुच्चय का प्रमाण ५६६१ श्लोकात्मक है। द्र० श्री जैन सत्यप्रकाश, वर्ष ७, दीपोत्सवी अंक, पृष्ठ ८८।

पृष्ठ ११२, पंक्ति २७ के आगे परिवर्धन—

३—जयवीर गणि (सं० १५०१ से पूर्व)

हैम धातुपाठ पर जयवीर गणि की एक अवचूरी व्याख्या उपलब्ध होती है। इसका लेखन काल सं० १५०१ वैशाखसुदि ३ सोमवार है। भुवनगिरि पर यह लिखी गई है। द्र० विक्रम विजय सम्पादित हैम धातुपाठ।

यह काल तथा लेखन स्थान मूल ग्रन्थ के लिखने का है अथवा प्रतिलिपि करने का यह अज्ञात है। सम्भावना यही है कि यह मूल ग्रन्थ के लेखन का काल होगा।

सं० विक्रम विजय की भूल—हैम धातुपाठ अवचूरि के सम्पादक ने लिखा है कि चन्द्र ने चुरादि में २, ३ ही धातुएँ पढ़ी हैं (द्र० पृष्ठ १११)। यह सम्पादक की भारी भूल है। प्रतीत होता है कि उन्होंने मुद्रित चान्द्र धातुपाठ का अवलोकन ही नहीं किया।

४—अज्ञातनाम-टिप्पणीकार (सं० १५१६)

हैमधातुपाठ पर किसी अज्ञातनाम विद्वान् की सं० १५१६ की लिखी हुई टिप्पणी भी मिलती है। द्र० मुनि दक्षविजय सम्पादित हैम धातुपाठ, सं० १९९६।

५—आख्यात वृत्तिकार

श्री जैन सत्यप्रकाश वर्ष ७, दीपोत्सवी अंक पृष्ठ ८९ पर किसी अज्ञात नाम लेखक की आख्यात वृत्ति का उल्लेख है।

६—श्री हर्षकुल गणि (१६ वीं शती वि०)

श्री हर्षकुल गणि ने हैम धातुपाठ को पद्यबद्ध किया है। इसका नाम कविकल्पद्रुम है। इसमें ११ पल्लव हैं। प्रथम पल्लव में धातुस्थ अनुबन्धों के फलों का निर्देश किया है। २–१० तक ९ पल्लवों में धातुपाठ के ९ गणों का संग्रह है। ११ वें पल्लव में सौत्र धातुओं का निर्देश है।

कविकल्पद्रुम की टीका—हर्षकुल गणि ने अपने कविकल्पद्रुम पर धातुचिन्तामणि नाम की टीका भी लिखी थी। यह टीका सम्प्रति केवल ११ वें पल्लव पर ही उपलब्ध है।

काल—हर्षकुलगणि ने ११ वें पल्लव के १० वें श्लोक की टीका के आगे लिखा है—

नामधातुविशेषविस्तरस्तु श्रीगुणरत्नसूरिविरचितक्रियारत्नसमुच्चयग्रन्थादवसातव्यः। पृष्ठ ६१।

क्रियारत्न समुच्चय का काल वि० सं० १४६६ है। यह हम पूर्व (पृष्ठ ११२) लिख चुके हैं। कविकल्पद्रुम के प्रकाशक ने हर्षकुलगणि का काल सामान्यतया वि० की १६ वीं शती माना है।

पृष्ठ ११३, पंक्ति ६ के संबन्ध में—

सारस्वत धातुपाठ पर हर्षकीर्ति नाम के विद्वान् ने व्याख्या लिखी है। इसका एक हस्तलेख विश्वेश्वरानन्द अनुसंधान संस्थान होशियारपुर के संग्रह में है। द्र० सूचीपत्र भाग १, पृष्ठ ७०।

पृष्ठ ११३, पंक्ति १४ के अन्त में बढ़ावें—

कविकल्पद्रुम नाम का एक ग्रन्थ श्री हर्षकुलगणि ने भी लिखा है। वह हैम धातुपाठ से संबद्ध है।

पृष्ठ ११३, पंक्ति २५ के अन्त में बढ़ावें—

दुर्गादास विद्यावागीश का काल ईसा की १७ वीं शती है। द्र० पुरुषोत्तमदेवीय परिभाषावृत्ति (राजशाही बंगाल संस्क०) की भूमिका पृष्ठ ९।

पृष्ठ ११७, टि० २ में बढ़ावें—

न तस्य पाणिनिरिव अस भुवि इति गणपाठः। न्यास १।३।२२

पृष्ठ १२३, पंक्ति १, २ इस प्रकार पढ़ें—

राजा से। ५।१।१२८॥ हृदया से। ५।१।१३०॥ वाजा से।४।१।१०५॥ (वष्कया से निकालदें)

पृष्ठ १४०, पंक्ति २९ के 'तृपादयः' पाठ पर—

नागेश के बृहत् तथा लघु दोनों शब्देन्दुशेखरों में सुखादयः पाठ है।

पृष्ठ १६०, पंक्ति ४ के संबन्ध में—

वस्तुतः सिद्धान्तचन्द्रिका सारस्वत पर आश्रित स्वतन्त्र व्याकरण है इसलिए सारस्वत गणपाठ के लिए इसका आश्रयण करना भूल है। 'संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि' के लेखक प्रा० कपिलदेव साहित्याचार्य एम. ए. पी. एच. डी. से भी यही भूल हुई है।

विशेष उणादिप्रकरण का परिवर्धन देखें।

पृष्ठ १६२ पंक्ति २४ के आगे परिवर्धन—

कुमारपाल (१३ वीं शती का प्रथम चरण)

राजस्थान प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान जोधपुर के संग्रह में चौलुक्य भूपाल कुमारपालविरचित गणदर्पण नाम का एक हस्तलेख (फोटो कापी) है। इसकी क्रम संख्या २९५३ है, इसमें २१ पत्रे हैं। आरम्भ के १–२ पत्रे नहीं हैं। शेष १९ पत्रों के ३८ फोटो पत्रे हैं।

इसमें प्रति पृष्ठ १४ पंक्ति और प्रति पंक्ति ४७ अक्षर हैं। फोटो कापी के आदि में निम्न पाठ है—

काष्ठादारुणवेशामातापुत्राद्भुतस्वतसः। भृशघोरानाज्ञातायुतपरमाश्चेति काष्ठादिगणः। पत्र ३१।

ग्रन्थ के अन्त में—

सूत्रनडचतुर्विद्याः कुरुपंचालाधिदेवास्व।
अनुसंवत्सरो धेनुव...गाजातत्रशत्रवः।
संक्रमोदकशुद्धौ पुष्करसत्परिमण्डलः।
प्रतिभूराजपुरुषौ सर्ववेद इति ण्यटि वृद्धिः।

इति राजपितामहश्रीचौलुक्यभूपालकुमारपालदेवेन दंडवोसरिप्रतिहारभोजदेवार्थं विरचिते गणदर्पणे तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः। शुभं भवतु। ग्रन्थाग्रं ९००॥

श्री शके १३८३ वृषसंवत्सरे पौषवदि १३ भौमे॥ श्री देवगिरौ उकेशवंशे श्री देवडागोत्रे सा० वीरा पुत्रेण वीनपाले सं० सोना सं चांपसीयुक्तेन ग्रन्थोऽयं समलेखि। वा० समयतक्रगणीनं॥

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि यह गणदर्पण चौलुक्य भूपाल कुमारपाल विरचित है। इसमें तीन अध्याय हैं और प्रति अध्याय चार पाद हैं।

गणदर्पण की रचना श्लोकबद्ध है। यह किस व्याकरण से संबन्ध रखता है यह अन्वेष्य है।

महाराज कुमारपाल द्वारा इस ग्रन्थ की रचना होने से स्पष्ट है कि इसका काल विक्रम की तेरहवीं शती का प्रथम चरण है।

इस हस्तलेख का लेखन काल शक सं० १३८३ (वि० सं १५१८) है। हस्तलेख पृष्ठ मात्रायुत प्राचीन लिपि में है।

इस हस्तलेख का सामान्य परिचय तथा आद्यन्त निर्दिष्ट पाठ राजस्थान-प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर के अध्यक्ष श्री डा० गोपालनारायण जी बहुरा के अनुग्रह से प्राप्त हुआ।

पृष्ठ १६८, पंक्ति ८ में—सं १५, १६ के स्थान में सं १६, १७, २० पढ़ें।

पृष्ठ १८९, पंक्ति २२ में—(सं० १५१९–१५७१) के स्थान में (सं० १५१०–१५७५) पढ़ें।

पृष्ठ २१६, पंक्ति १४ से आगे परिवर्धन—

शाकटायन लिङ्गानुशासन की टीका में एक पाठ है—

उणादिषु थप्रत्यान्तो निपात्यते। हर्षीय लिङ्गानुशासन परिशिष्ट, पृष्ठ १२५।

पृष्ठ २१८, पंक्ति १७ में—नाम भी अज्ञात है के स्थान में नाम कनकप्रभ है पढ़ें।

पृष्ठ २१९, पंक्ति १४ में परिवर्धन—

तीसरा हस्तलेख अडियार के संग्रह में है। द्र० सूचीपत्र व्याकरण विभाग, संख्या ७१९।

पृष्ठ २१९, पंक्ति १४ से आगे—

उणादि परिशिष्ट—क्रमदीश्वर कृत उणादि परिशिष्ट का एक हस्तलेख अडियार के संग्रह में है। द्र० सूचीपत्र व्या० वि० सं० ७१७।

उणादि परिशिष्ट वृत्ति—इसका हस्तलेख भी अडियार के संग्रह में है। द्र० सूचीपत्र व्या० वि० संख्या ७१८।

पृष्ठ २१९ सारस्वत उणादि पाठ और व्याख्याकार के विषय में संशोधन—

वस्तुतः सारस्वत व्याकरण और सिद्धान्तचन्द्रिका दोनों पृथक्-पृथक् ग्रन्थ हैं। इसलिए सारस्वत व्याकरण और सिद्धान्तचन्द्रिका के उणादि पाठ भी अलग-अलग हैं।

सारस्वत उणादि पाठ में केवल ३३ सूत्र हैं। सिद्धांतचन्द्रिका में उणादि सूत्रों की संख्या ३७० है।

इसलिए दोनों व्याकरणों को पृथक्-पृथक् समझते हुए दोनों के उणादि पाठों को भी पृथक्-पृथक् ही मानना चाहिये।

सारस्वत उणादि पाठ पर उन सभी ने टीकाएँ लिखी हैं जिनका निर्देश हमने प्रथम भाग पृष्ठ ४५४ (प्र० सं०) में संख्या १ से १७ तक किया है।

सं० १८ रामचन्द्राश्रम अथवा रामाश्रम सिद्धांतचन्द्रिका नामक व्याकरण का प्रवक्ता और उसका व्याख्याता है। इसलिए इस भाग में पृष्ठ २१९–२२० पर निर्दिष्ट ४ व्याख्याकार सारस्वत उणादि सूत्रों के नहीं हैं अपितु सारस्वत-चन्द्रिकास्थ उणादि सूत्रों के हैं।

सारस्वत व्याकरण और सिद्धांतचन्द्रिका दोनों स्वतंत्र ग्रंथ हैं। इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान श्री पं० रामअवध पाण्डेय ने आकृष्ट किया है इसके लिए हम उनके आभारी हैं।

निम्न ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित होंगे

नया प्रकाशन

१. छन्दः-शास्त्र का इतिहास
२. शिक्षा-शास्त्र का इतिहास
३. निरुक्त-शास्त्र का इतिहास
४. पाणिनीय गणपाठ का आदर्श संस्करण
५. बृहद्देवता का हिन्दी अनुवाद

नवीन संस्करण

१. संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग (छप रहा है)
२. वैदिक-स्वर-मीमांसा (छप रही है)
३. भागवृत्ति-संकलनम्
४. निरुक्त-समुच्चय (वररुचि-कृत)
५ शिक्षा-सूत्राणि (पाणिनीय-आपिशल-चान्द्र)
६. वेदार्थ-मीमांसा अर्थात् वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन

प्राच्य-विद्या

अनुसन्धान कार्य को प्रसारित करने के लिए "प्राच्य-विद्या" नाम्नी उच्च कोटि की त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन भी नियमित रूप से शीघ्र आरम्भ होगा।

इसका वार्षिक चन्दा ८) रु० होगा। प्रतिष्ठान के सभी प्रकार के सदस्यों को यह विना मूल्य दी जायगी।

विशेष—प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित तथा प्रसारित पुस्तकों का बृहत् सूचीपत्र विना मूल्य मंगवावें।

संचालक—भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान

२४।२१२ रामगंज
अजमेर

४९४३ रेगरपुरा, गली ४०
करोल बाग, नई दिल्ली, ५

प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित तथा प्रसारित वाङ्मय

१. संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास (यु० मी०) (भाग १) १२—००
२. ” ” ” ” ” ” (भाग २) १०—००
३. वैदिक-स्वर-मीमांसा ” ” ३—००
४. वैदिक-छन्दोमीमांसा ” ” ४—५०
५. ऋग्वेद की ऋक्संख्या ” ” ०—५०
६. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्-पर विचार ” ” ०—२५
७. दुष्कृताय चरकाचार्यम्-मन्त्र पर विचार ” ” ०—२५
८. ऋग्वेद की कतिपय दानस्तुतियों पर विचार ” ०—२५
९. आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय ” ०—५०
१०. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास ” ६—००
११. ऋषि दयानन्द की पद-प्रयोग शैली ” १—५०
१२. यजुर्वेदभाष्य-संग्रह (पञ्जाब-शास्त्री परीक्षा में नियत) सं०यु०मी० ४—००
१३. शिक्षा-सूत्राणि (आपिशलि पाणिनि चन्द्रगोमी) ” ” १—५०
१४. क्षीरतरङ्गिणी (धातुपाठ की क्षीरस्वामी कृत व्याख्या) ” ” १२—००
१५. संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि (श्री पं० कपिलदेव एम० ए०) ८—००
१६. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन (परिशिष्ट सहित) ७—७५
१७. यजुर्वेदभाष्य-विवरण (प्रथम भाग) (पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु) १६—००
१८. वेदविद्या-निदर्शन (पं० भगवद्दत्त) १२—५०
१९. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास (प्रथम भाग) ” १८—००
२०. ” ” ” ” (द्वितीय भाग) ” २०—००
२१. आयुर्वेद का इतिहास (पं० सूरमचन्द कविराज बी० ए०) ८—००
२२. अष्टाध्यायी-प्रकाशिका (पं० देवप्रकाश पातञ्जल) ८—००
२३. विरजानन्द-प्रकाश (पं० भीमसेन शास्त्री एम० ए०) २—००
२४. दयानन्द-जीवनी-साहित्य (पं० विश्वनाथ शास्त्री एम० ए०) ००—४०
२५. अष्टाध्यायी मूल (शुद्ध संस्करण) ००—६२
२६. उरु ज्योति (डा० वासुदेवशरण अग्रवाल) ३—००
२७. योगदर्शन व्यासभाष्य भोजवृत्ति-भाषानुवादसहित ५—००

२४।२१२ रामगंज अजमेर } प्राप्ति-स्थान { ४९४३ रेगरपुरा, गली ४० करोल बाग, नई दिल्ली ५।

भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान अजमेर

के

प्रमुख प्रकाशन

१—संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि — ८-००

२—संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास (भाग १) परिवर्धित (१५० पृष्ठ) संस्करण — १२-००

३—संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास (भाग २) — १०-००

४—दैवम्-पुरुषकारवार्तिकोपेतम् (पाणिनीय धातुपाठ—विषयक) — ६-००

५—अष्टोत्तरशतनाममालिका व्याख्या सहित — ६-००

शीघ्र छपेंगे

१—काशकृत्स्न धातुपाठ (कन्नड टीका का संस्कृत रूपान्तर सहित)

२—निरुक्त-समुच्चय (वररुचिकृत)

३—भागवृत्ति संकलनम् (अष्टाध्यायी वृत्ति)

४—पाणिनीय गणपाठ का आदर्श संस्करण

५—पाणिनीय शिक्षा-सूत्र (व्याख्या और विस्तृत भूमिका सहित)

६—आपिशाल-शिक्षा

७—छन्दःशास्त्र का इतिहास

८—निरुक्तशास्त्र का इतिहास

९—शिक्षा-शास्त्र का इतिहास

प्रतिष्ठान से प्राप्त होने वाली अन्य पुस्तकों का बड़ा सूचीपत्र विना मूल्य मंगवावें।

भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान

२४ । ३१२ रामगंज
अजमेर

४६४३ रेगरपुरा गली ४०
करोलबाग, नई दिल्ली—५